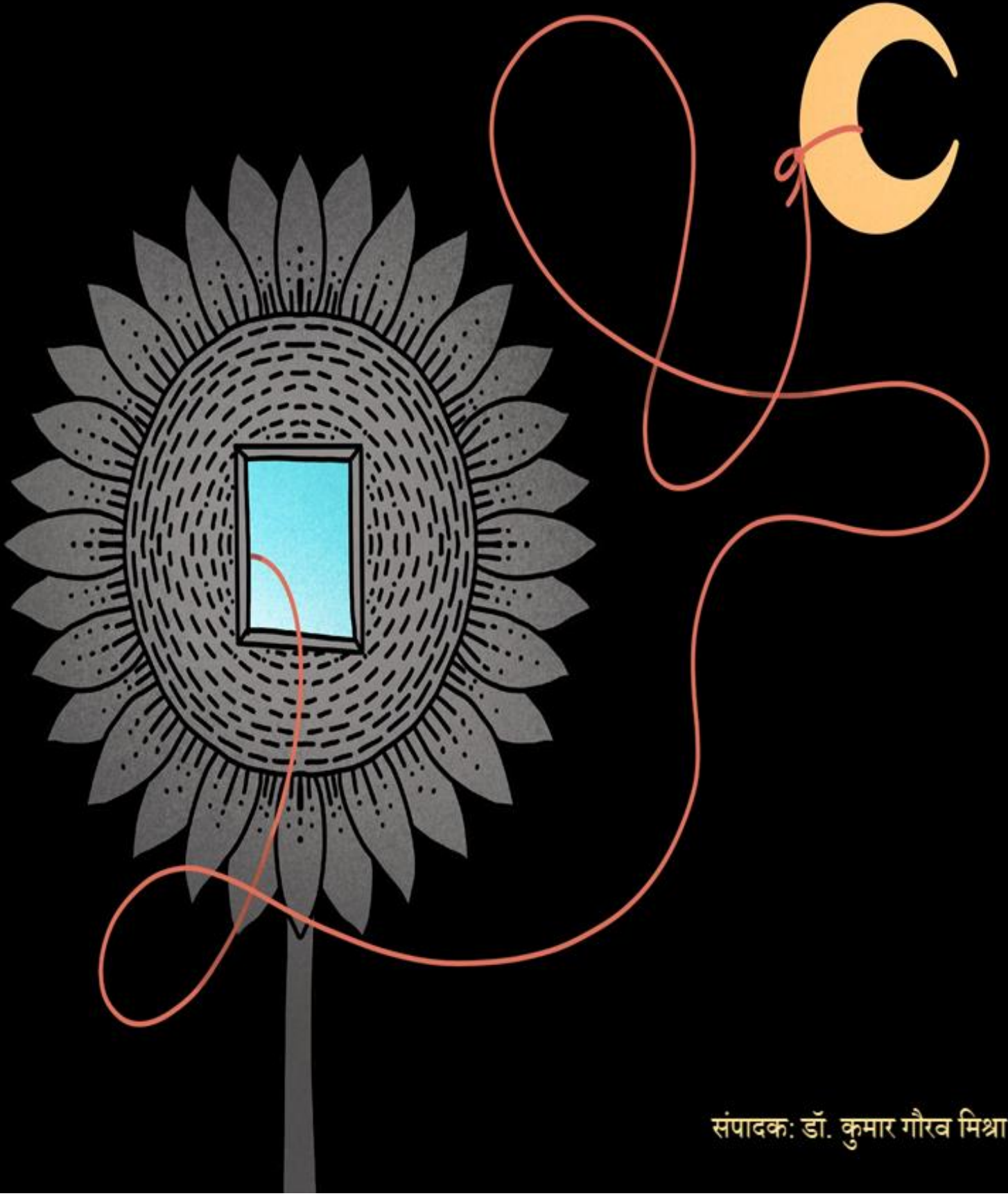


अंक 76-77 (संयुक्त अंक)

जनकृति

अगस्त-सितंबर 2021



संपादक: डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

Volume 7, Issue 76-77, August-September 2021
(Peer-Reviewed / Refreed)

ISSN: 2454-2725
(विशेषज्ञ समीक्षित)

जनकृति

अगस्त-सितंबर 2021 (संयुक्त अंक)



प्रकाशक

जनकृति संस्था

संपादकीय कार्यालय

फ्लैट जी-2, बागेश्वरी अपार्टमेंट,

आर्यापुरी, रातू रोड, रांची, 834001, झारखंड, भारत

ईमेल: jankritipatrika@gmail.com

वेबसाईट: www.jankriti.com

संपर्क: 8805408656

इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए प्रकाशक से अनुमति आवश्यक है।

जनकृति

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा (अमेरिका), प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय (मुंबई), प्रो. रमा (दिल्ली)
डॉ. हरीश नवल (दिल्ली), डॉ. हरीश अरोड़ा (दिल्ली), डॉ. प्रेम जन्मेजय (दिल्ली),
डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा (दिल्ली), प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा (उज्जैन), प्रो. कपिल कुमार (दिल्ली), प्रो. जितेंद्र श्रीवास्तव (दिल्ली)

संपादक

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा
(सहायक प्रोफेसर, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

सहायक संपादक

डॉ. पुनीत बिसारिया
(एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश)

संपादन मण्डल/विशेषज्ञ समिति

डॉ. सदानन्द काशीनाथ भोसले
(प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, महाराष्ट्र)
डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाड़ेजा
(प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महाराजा सयाजीराव बड़ौदा विश्वविद्यालय, वड़ोदरा)
डॉ. नाम देव (प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. प्रज्ञा (प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रचना सिंह (एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रूपा सिंह (एसोसिएट प्रोफेसर, बाबु शोभा राम गोवरमेंट आर्ट कॉलेज, राजस्थान)
डॉ. पल्लवी (सहायक प्रोफेसर, तेजपुर विश्वविद्यालय, असम)
डॉ. मोहसिन खान (एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जेएसएम कॉलेज, रायगढ़, महाराष्ट्र)
डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा (सहायक प्रोफेसर, मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम)
डॉ. प्रवीण कुमार (सहायक प्रोफेसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश)
डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय (एसोसिएट प्रोफेसर, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी (सहायक प्रोफेसर, जेआरएन राजस्थान विद्यापीठ, राजस्थान)
डॉ. अंबिकेश त्रिपाठी (सहायक प्रोफेसर, गांधी एवं शांति विभाग, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
डॉ. ज्ञान प्रकाश (सहायक प्रोफेसर, बिहार)

संपादन सहयोग

श्री चन्दन कुमार (शोधार्थी, गोवा विश्वविद्यालय, गोवा)
राकेश कुमार (शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

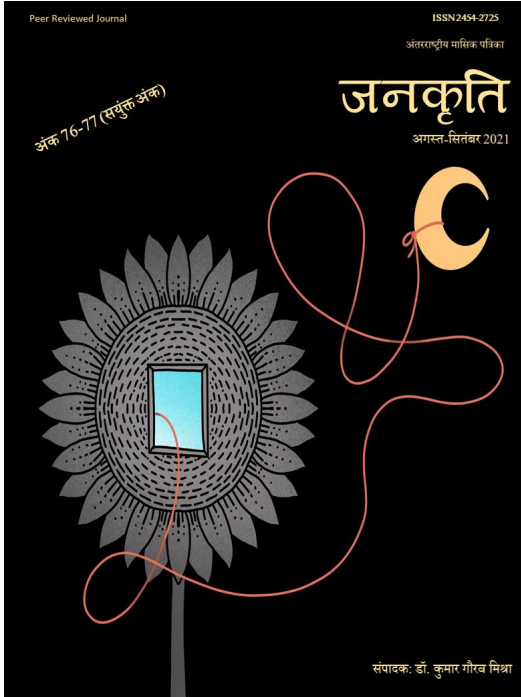
संस्थापक सदस्य

कविता सिंह चौहान (मुंबई)
डॉ. जैनेन्द्र कुमार (बिहार)

अंतरराष्ट्रीय सदस्य

प्रो. अरुण प्रकाश मिश्रा (स्लोवेनिया), डॉ. इंदु चंद्रा (फ़िजी), डॉ. सोनिया तनेजा (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी), डॉ. अनिता कपूर (अमेरिका)
राकेश माथुर (लंदन), रिद्धा (श्री लंका), मीना चोपड़ा (कैनेडा), पूजा अनिल (स्पेन)

संपादकीय



हिंदी साहित्य एक सागर है जिसमें विविधता है। यह विविधता हमारे समाज की है। विभिन्न विचारों एवं विचारधाराओं की है। जो भी रचा गया वो अंतिम नहीं है और न ही किसी रचना को पूर्ण कहा जा सकता है। जब समाज में विचारों को लेकर इतने विरोधाभास हैं तो साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ना लाजमी है। सनद रहे कोई रचना, रचनाकार आलोचना की परिधि से बाहर नहीं है और होना भी नहीं चाहिए।

बदलते समय के साथ समाज बदला है तो साहित्य में नवीन विचारों का समावेश हुआ है। शिक्षित होते समाज में सब कुछ मान लिए जाने के स्थान पर तर्क ने अपनी जगह बनाई है। समाज का तेवर बदला है और साहित्य ने भी इस तेवर सहर्ष स्वीकार किया है।

जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने कहा कि समुद्र के रहस्यों को खोजा जाना बाँकि है उसी प्रकार साहित्य को इस नजरिए से देखिये। साहित्यिक विमर्श समय की आवश्यकता है।

बस आग्रह है कि तर्क, संदर्भों के साथ नवीन विचारों को प्रस्तुत किया जाए और समानान्तर लकीर भी खींची जाए। लेखकों की जिम्मेदारी बड़ी है क्योंकि अंततः समाज को वैचारिक संबल देने का कार्य इन्हीं का है।

-डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

अनुक्रम

संपादकीय 4

साहित्य चिंतन

- वाचिक परम्परा की प्रासंगिकता: कथा-कहन का परिप्रेक्ष्य / प्रो. मृदुला शुक्ल 7
- इक्कीसवीं सदी में सांस्कृतिक विस्थापन और समकालीन हिंदी उपन्यास / मो. साजिद हुसैन 14
- सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिंदी कविता/ डॉ. शिराजोद्दीन 20
- छायावादी कवियों की काव्यदृष्टि/ नवीन कुमार 26
- 'आई. ए. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन'/ ऋतु 34
- गंग कवि की काव्य भाषा/ मीनाक्षी 37
- ‘जंग लगी तलवार’ और श्रमिक जीवन/ मिनहाज अली 45
- मंगलेश डबराल- मनुष्यता के कवि/ डॉ. गौरी त्रिपाठी 50
- ‘निर्मला जैन की आत्मकथा में चित्रित तत्कालीन समय और समाज’/ अंजू सिंह 55
- अंजना वर्मा की कहानियों में वृद्ध जीवन का वृहत्तर यथार्थ/ डॉ. शशि शर्मा 61
- ठेठ बनारसी भाषा की ठसक का आख्यान: काशी का अस्सी/ डॉ. अमरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव 69
- नासिरा शर्मा की कहानियों में विषयगत वैविध्य
(विशेष संदर्भ: ‘खुदा की वापसी’ और ‘इंसानी नस्ल’ संग्रहों की कहानियां)/ प्रो. रुचिरा ढींगरा 74
- मैत्रेयी पुष्पा का कथा साहित्य और स्त्री ‘मुक्ति’ के प्रश्न/ प्रीति 83
- “अनामिका की कविताओं में अभिव्यक्त पीड़ा एवम मुक्ति का स्वर”
(टोकरी में दिगंत: थेरी गाथा के विशेष सन्दर्भ में)/ राहुल कुमार 89

कला चिंतन

- शीला भाटिया / विष्णु कुमार 96
- ‘खामोश अदालत जारी है’ नाटक की रंग परिकल्पना/ कविता 102
- Conflicts of Refugee Identities in Asif Currimbhoy's The Refugee/ Kritanjay Tripathi 108

इतिहास चर्चा

- साम्प्रदायिकता का प्रश्न और राममनोहर लोहिया / अमानुल्लाह 114

राजनीतिक चिंतन

- ब्रिक्स शिखर सम्मेलन और आतंकवाद विरोधी दृष्टिकोण का अध्ययन / राम सुन्दर कुमार 124

जनसंचार चर्चा

- जनजातियों के देशज ज्ञान में संचार के स्वरूप की उपलब्धता / वैभव उपाध्याय 132

दलित एवं आदिवासी चिंतन

पूर्वोत्तर भारत के कुकी समुदाय की जीवन शैली 139
दलित समाज के यथार्थ को उद्घाटित करती कविता : इकतारा/ अनुज कुमार 144

स्त्री चिंतन

हिंदी कथा - साहित्य में दलित स्त्री/डॉ. अमृता सिंह 150

शिक्षा विमर्श

शिक्षा का अधिकार कैसे हो साकार/ अमित कुमार पाण्डेय एवं डॉ राघवेंद्र सिंह 157

किन्नर विमर्श

किन्नर समाज – अस्मिता, संघर्ष एवं चुनौतियाँ / पारुल 161

समसामयिक चिंतन

महात्मा गाँधी की पुस्तक ‘हिन्द स्वराज’ की प्रासंगिकता/ अमन कुमार 167

साहित्यिक रचनाएँ- कविता

पल्लवी शर्मा की कविताएँ 173

कहानी

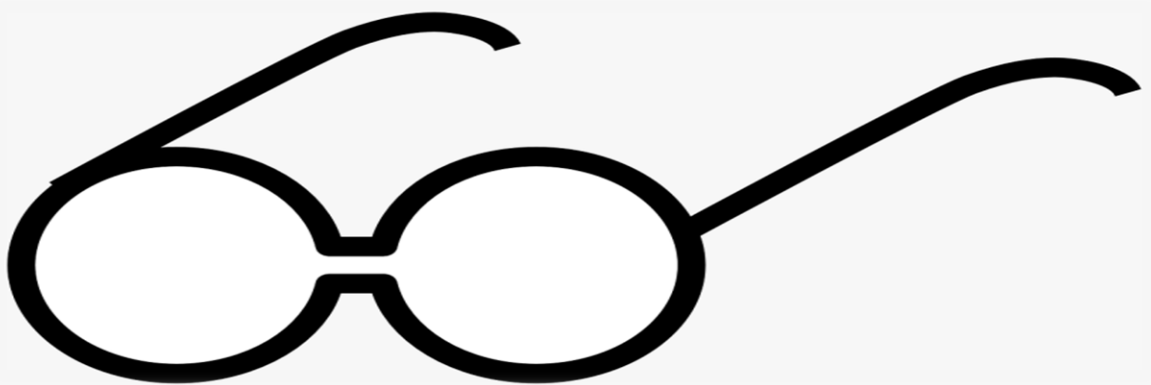
साक्षात्कार / भोला नाथ सिंह 175

लघुकथा

पिता की बेटी / दलजीत कौर 180

पुस्तक समीक्षा

समीक्ष्य पुस्तक – पॉचवी दिशा (कहानी संग्रह) / समीक्षक- सुषमा मुनीन्द्र 181



वाचिक परम्परा की प्रासंगिकता: कथा-कहन का परिप्रेक्ष्य

प्रो. मृदुला शुक्ल

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग एवं अधिष्ठाता, कला संकाय

इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय,

खैरागढ़ (छत्तीसगढ़)

यह सत्य है कि देश-दुनिया में आधुनिकता आने के साथ ही मुद्रण-यन्त्र आये। पत्र-पत्रिकाएँ छपने लगीं और पुस्तकें भी। हमारे यहाँ जो भी शिक्षण गुरुकुलों में अथवा घर-परिवार में बुजुर्गों द्वारा मौखिक रूप में होता था, वह अब मुद्रित माध्यमों से होने लगा। साहित्य भी मौखिक तथा हस्तलिखित की सीमा से निकल मुद्रित रूप में प्रस्तुत होने लगा। स्पष्टतः एक व्यापक परिवर्तन जीवन-जगत में हुआ। आज तो हम परिवर्तन के उस दौर में आ पहुँचे हैं, जहाँ संचार-क्रांति ने असम्भव को भी सम्भव कर डाला है। समुद्रों पार की दूरियाँ होने पर भी आमने-सामने जैसे सम्वाद हाने लगे हैं। अर्थ हो या उपकरण अथवा अन्य सामग्री अतिशीघ्र एक-दूसरे तक प्रेषित की जा सकती है। निश्चय ही ये स्थितियाँ अत्यन्त प्रगतिकारक हैं, किन्तु मन फिर भी विकल है। न शान्ति है न सन्तोष। जीवन से वास्तविक आनन्द के पल तो जैसे लुप्त ही हो गये हैं। मनुष्य आज भीड़ में भी अकेलापन महसूस करता है। परिवारजन हैं, किन्तु आत्मीयता नहीं है। जनहित की बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनायी जाती हैं और लागू भी होती हैं। सुख-सुविधा के संसाधन घरों आ में गए हैं, फिर भी न हित दिख रहा है न सुख। ऐसा क्यों? इन पर विद्वज्जनों ने चिन्तन शुरु कर दिया है। परिचर्चा, संगोष्ठी, कार्यशालाएँ

वाचिक परम्परा का सर्वाधिक मनोहारी, मर्मस्पर्शी एव प्रभावोत्पादक है कथा कहन या किस्सागोई। बहुत पहले हमारे पूर्वज रात को चौपालों में बैठकर किस्सागोई द्वारा मनोरंजन करते थे, तो घर में दादी-नानी, दादा-नाना या अम्मा बच्चों को कहानियाँ सुनाकर अर्थात् कथा कहन द्वारा न केवल उनका मन बहलाती थीं, उन्हें अपने इतिहास-अपनी संस्कृति से इसी बहाने परिचित भी करती थीं और जीवन जीने के

भी इन पर धड़ल्ले से की जा रही हैं। आशय यह है कि आज का एक महत्वपूर्ण, विचारणीय और प्रासंगिक विषय उक्त समस्याओं के कारणों और उनके निवारण की खोज करना बन गया है। कुछ कारण दृष्टि में आ भी गये हैं और उनके निवारण की ललक भी जागी है।

वस्तुतः आज की सुविधाभोगी जीवन पद्धति का जो सर्वाधिक दुष्प्रभाव पड़ा है, वह यही है कि जीवन का वास्तविक आनन्द-सच्चा सुख छिन गया है। निजी सुखों

की चिन्ता एवं आत्मकेन्द्रितता के चक्कर में आये अकेलेपन का परिणाम ये हुआ है कि सुख मिलता भी है तो अस्थायी। इससे बड़ा सत्य कोई है ही नहीं कि मनुष्य अकेले नहीं रह सकता। यदि यह सम्भव होता तो समूह बनते ही क्यों? परिवार और समाज जैसे निकाय अस्तित्व में आते ही क्यों? गाँव, नगर, प्रदेश और देश जैसे रूपाकार प्रत्यक्ष होते ही क्यों? जब

मन-मस्तिष्क में ये प्रश्न उभरते हैं तो ध्यान जाता है अतीत की ओर। समाजशास्त्रियों एवं अन्य प्रबुद्ध जनों के अनुसार कुछ उपाय हमें अतीतान्वेषण से निश्चय ही मिलेंगे।

यह तथ्य तो अब स्पष्ट हो गया है कि अपनी जड़ों से कटना, विदेशी जीवन की नकल तथा आत्मकेन्द्रितता जैसी प्रवृत्तियाँ इन सारे दुष्परिणामों का प्रमुख आधार हैं। जो सामूहिकता कभी हमारी सबसे बड़ी ताकत रही थी, वह धीरे-धीरे हमसे छूटती जा रही

है। हमारी परिवार-परम्परा बिखर रही है। दुखद ये भी है कि आधुनिकताजनित ये रोग हमारे गाँवों तक जा पहुँचे हैं। आज मनुष्य सुख-साधन से भले सम्पन्न हो, किन्तु अपने सुख-दुख में अकेला है। बच्चे और बूढ़े घरों में होते हैं और युवा तथा प्रौढ़ दिन भर बाहर रहते हैं अधिकांशतः आजीविका के लिए और कुछ मौज-मस्ती के लिए। एक-दूसरे की सुनने-कहने को वक्त ही नहीं है किसी के पास। आशय यह है कि संवादहीनता की स्थिति है। संवाद नहीं हो पाता, क्योंकि समूह नहीं जुट पाता। कह सकते हैं कि इकट्ठे नहीं हो पाते या होना नहीं चाहते। बच्चों पर शिक्षा का इतना बोझ है कि स्कूल से आकर अपने पढ़ने-लिखने-कोचिंग आदि में लग जाते हैं। घर के बड़ों के पास बैठने का समय उनके पास भी नहीं है। पहले तो बच्चों की समुचित देख-रेख और बहुत सा शिक्षा और संस्कार देने का काम इसी समूह में हो जाता था। पर्वो-उत्सवों में इकट्ठे होना उत्साह और उमंगकारी होता था। उस इकट्ठे होने में आनन्द भी मिलता था, पारस्परिक प्रेम और शिष्टाचार की सीख भी मिलती थी। आज शिक्षण संस्थानों की कमी नहीं है, समुचित संसाधनों की भरमार है, किन्तु न सच्चा आनन्द मिल रहा है, न सच्चा शिक्षण हो पा रहा है।

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में जैसा कि अनेक विद्वज्जनों की भी राय है, मुझे लगता है हमें अपनी वाचिक परम्पराओं की ओर लौटना होगा, जिन्हें हम लगभग भूल चुके हैं। वाचिक यानी बोली गयी। जो परम्पराएँ एक से दूसरे की बात-चीत में अर्थात् मौखिक रूप में व्यवहार में आती हैं, वे वाचिक परम्पराएँ कहलाती हैं। इनके स्वरूप, आशय और भूमिका को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने नितान्त सत्य लिखा है- “हमारी परम्पराएँ ही वाक् है और कुछ है ही नहीं। वाक् माने बोली जाने वाली भाषा। माने, जिसमें संवाद होता रहा है, जिसमें मैं और तुम बने रहे हैं। -----आपस में बात करेंगे तो हम जानेंगे कि हमारा यह हिस्सा है,

तुम्हारा यह है और अपने हिस्से को लेने में सुख पाएँगे तथा दूसरे के हिस्से को देने में सुख पाएँगे। यह संवाद से ही सम्भव होता है। अलग राह कर लेने से नहीं होता। तो उस वाचिक परम्परा के पास परम्परा जाती है। वाक् के पास परम्परा जाती है। अनेक आख्यान हैं पुराने-नये कि उसी शब्द के पास परम्परा जाती है, कि हमें कुछ दो। हमें राह दिख नहीं रही है, तुम राह दो।”¹

निःसन्देह वाचिक परम्परा यानी कि बात-चीत की परम्परा का निर्वहन बिना समूह के सम्भव ही नहीं। हमारे यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक के न जाने कितने संस्कार घर के बड़े-बूढ़ों, विशेष रूप से बुजुर्ग महिलाओं द्वारा पारस्परिक चर्चा, परामर्श तथा मौखिक निर्देशों द्वारा सम्पन्न कराने की परम्परा रही है। पर्वो-उत्सवों की तैयारी से लेकर उन्हें पूर्णता तक पहुँचाने की प्रक्रिया भी परिवार की बड़ी-बूढ़ियों के निर्देशों से ही होती आई है। ये सब होता आ रहा है मौखिक या वाचिक रूप में। यहाँ तक कि विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीत, व्रत-उपवास की कथाएँ आदि भी इसी वाचिक परम्परा में प्रयुक्त होते हुए ही यहाँ तक आये हैं। शास्त्र यानी कि पोथियाँ तो पुरोहितों के पास रहती हैं। सामान्य जन तो मौखिक या वाचिक रूप में ही इन्हें आत्मसात कर अन्यो को सुनाने-बताने के रूप में जीवित रखते रहे हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. श्यामाचरण दुबे ने इसके वैशिष्ट्य पर इन शब्दों में प्रकाश डाला है- “मौखिक परम्परा अधिकांशतः अज्ञातनाम होती है। सामान्य अर्थ में वह सामूहिक अनुभव और प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करती है। उसे जो कुछ विभिन्न स्रोतों-व्यक्तियों, बाह्य समूहों और आन्तरिक समूहों से प्राप्त होता रहता है, उसे वह अदृश्य रूप में आत्मसात करती जाती है। अनुभव के माध्यम से अनेक पीढ़ियों के द्वारा प्राप्त की गयी शिक्षाएँ इसमें निश्चित रूप पाती हैं।”²

इसमें सन्देह नहीं कि बदलते समय के अनुरूप आवश्यक बदलाव को अपनाना ही युक्तियुक्त है, किन्तु

उतना ही उपयुक्त है अपनी उपयोगी परम्पराओं को, अपनी बहुमूल्य विरासत को अपनाये रहना, उनसे जुड़े रहना। यह सराहनीय तो नहीं है कि अपनी सहज सम्भव स्वास्थ्यप्रद एवं सस्ती वर्षगाँठ परम्परा (विशेषतः जन्मदिवस सम्बन्धी) को भूलकर हम ‘हैप्पी बर्थडे’ और ‘केक काटने’ को अपनाने लगे हैं। पूर्व में हमारे यहाँ तो आटे एवं गुड़ के घोल से गुलगुले बनते थे तथा जन्मदिन के दिन पहले जन्मदिन से सुनिश्चित धागे में गाँठ लगाकर वर्षगाँठ मनती थी, वह भी घर में ही आस-पड़ोस की महिलाओं में से या घर की ही किसी बड़ी-बूढ़ी द्वारा पूजन-पाठ कराकर, रोचना कराकर। सम्भव हुआ तो अड़ोस-पड़ोस की महिलाओं को बुलाकर बुलौआ किया जाता था, जिसमें सोहर गाकर, नाचकर महिलाएँ खुशियाँ मनाती थीं। आज तो जन्मदिन केक, मोमबत्ती, ढेर सारी सजावट, फिल्मी गीत-संगीत और ढेर रात तक चलने वाली दावतों-पार्टियों में सम्पन्न होने लगा है, जिसमें समय और धन का अपव्यय भी होता है तथा कई दिन की गतिविधियाँ भी प्रभावित होती हैं। चिन्तनीय तो यह है कि आज ऐसे दिखावे भरे आयोजनों को कम आय वाले भी करने लगे हैं। भले उधार लेना पड़े, पर केक तो आयेगा भी, कटेगा भी।

यही स्थिति आज वैवाहिक आयोजनों में दृष्टिगत होती है। वहाँ एक-दो दिन पूर्व में लेडीज संगीत होगा ही। महिलाएँ प्रायः हल्के स्तर के गानों पर नाचेंगी, फिर खाना-पीना होगा, फिर समापन। हमारी पूर्व परम्परा में तो पन्द्रह दिन (लगभग) पहले से विवाह वाले घर में महिलाएँ (पास-पड़ोस की भी) रोजमर्रा के कामों को निपटाकर रात को बन्ना-बन्नी लोकगीत गाने जुड़ जाती थीं। हँसी-ठिठोली के साथ, ढोलक-मँजीरा बजाते हुए उनका गाना उस घर ही नहीं, पूरे मोहल्ले को रसमय करता था। वह उसके लिए स्मरणीय होता था, जिसका विवाह होने वाला हो तथा सारी महिला-मण्डली के लिए स्वस्थ मनोरंजनदायक तो होता ही था। ऐसे-ऐसे

गीत महिलाएँ गाती थीं, जो अपनी दादी-नानी, सास-जिठानी, दीदी-भाभी, अड़ोसी-पड़ोसी चाचियों से सीखे थे, जिनमें मन की सहज मांगलिक-आनन्दमयी भावनाएँ होती थीं। वाचिक या मौखिक परम्परा से मिले इन लोकगीतों को आज हम भूल चले हैं, जिनमें परिवारजनों से लेकर अड़ोसी-पड़ोसी तक सबको सम्मिलित किया जाता था। अकेले तो कुछ होता ही नहीं था, न गाना-बजाना, न पूजन-पाठ और न त्योहारों-उत्सवों पर खान-पान। सब कुछ मिल-जुलकर करने की हमारी यह सामूहिकता की परम्परा, वाचिक-मौखिक संवाद की परम्परा, जो आनन्ददायिनी भी थी और पथप्रदर्शिका भी, वह हमारी नासमझी एवं असावधानी के कारण हमसे छूट रही है। इस परिप्रेक्ष्य में पुनः मुझे आचार्य विद्यानिवास मिश्र के वे विचार स्मरण हो आते हैं, जिनमें वाचिक परम्परा की वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता को उन्होंने सोदाहरण व्यक्त किया है। उनके अनुसार- “वाचिक परम्परा के कारण संस्कृति की निरन्तरता बनी रहती है, यह जो पीढ़ियों की दूरी की बात इतनी होने लगी है, उसका कारण वाचिक परम्परा के प्रति अनादर है। हमारे यहाँ वाचिक सम्प्रेषण एक पीढ़ी लाँघकर ही अधिक सक्रिय होता रहा है। नाना-नानी, दादा-दादी, नातियों-नतिनियों, पौत्र-पौत्रियों को कहानी सुनाते रहे, लोरी सुनाते रहे और बच्चों के हर प्रश्न का उत्तर देते रहे। माता-पिता तो बस नाम मात्र की बातचीत करते थे, इसलिए अतीत और भविष्य के बीच अपने आप अन्तर महत्त्वहीन था। बालसुलभ मानवीय उत्सुकता के साथ जुड़कर अधिक उम्र का अनुभव एक वृद्ध के जीवन में चाव पैदा करता था, दूसरी ओर बच्चे के भीतर आत्मविश्वास भरता था। वाचिक परम्परा केवल बोली जाने वाली भाषा ही नहीं है, वह जीवन-दर्शन भी है।”³

निःसन्देह इस वाचिक परम्परा का सर्वाधिक मनोहारी, मर्मस्पर्शी एत्र प्रभावोत्पादक है कथा कहन या

किस्सागोई बहुत पहले हमारे पूर्वज रात को चौपालों में बैठकर किस्सागोई द्वारा मनोरंजन करते थे, तो घर में दादी-नानी, दादा-नाना या अम्मा बच्चों को कहानियाँ सुनाकर अर्थात् कथा कहन द्वारा न केवल उनका मन बहलाती थीं, उन्हें अपने इतिहास-अपनी संस्कृति से इसी बहाने परिचित भी कराती थीं और जीवन जीने के न जाने कितने पाठ भी पढा देतीं थीं। जिन्होंने भी अपने बड़ों से राजा-रानी, शेखचिल्ली, महापुरुषों, महान नारियों अथवा व्रत-अनुष्ठानपरक कथाएँ किन्हीं किताबों अथवा पोथियों से नहीं, इसी कथा कहन की वाचिक परम्परा द्वारा सुनी होंगी, वे उन कथाओं की मार्मिकता को या कौतुक को, बुजुर्गों के कथा कहन के रोचकतापूर्ण ढंग को तथा उनमें निहित जीवनोपयोगी बातों को आज भी न भूले होंगे। ऐसा स्वस्थ एवं सहज उपलब्ध मनोरंजन का माध्यम, संस्कारित करने का ऐसा सरस-रोचक ढंग और कहाँ मिलना सम्भव है? मुझे लगता है कि वर्तमान के आत्मकेन्द्रितता, स्वार्थपरकता, सुविधाभोगिता, अराजकता, भटकन और सबसे ज्यादा साधनसम्पन्न होने पर भी अवसादग्रस्तता के इस दौर में हमें कथा कहन की इस शैली यानी इस वाचिक परम्परा की ऐसी कहानियों के कहन-सुनन की ओर उन्मुख होना चाहिए। कथा कहन के सशक्त उदाहरणस्वरूप दो कहानियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं, जो आज भी अपनी प्रासंगिकता को स्पष्ट सिद्ध करती हैं।

मेरी इनके प्रति रुचि या लगाव का आधार रही हैं मेरी अम्मा। उनके द्वारा सुनायी गयीं राजा हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद और ध्रुव की, रामायण-महाभारत की तथा दीपक राजकुमारी, बोलती चिड़िया सुनहला पानी, अनार बादशाहजादी, शेखचिल्ली आदि की कहानियाँ मुझे आज भी भूली नहीं हैं और भले ही उनके जैसी कहने की रोचक शैली न रही हो, पर मैंने अपने दोनों बेटों को पूरी रुचि से सुनायी हैं। उन्हें इतना मजा आता था कि जब तक उनकी पढ़ाई का बोझ नहीं बढ़ा या यों

कहें कि उनकी अपनी व्यस्तताओं ने उन्हें नहीं घेरा, उन्होंने प्रायः हर रात मुझसे कहानियाँ सुनीं।

बचपन की उन दिनों की स्मृतियाँ मुझे आज भी, अकेले में भी हँसा-रूला देती हैं, जब गर्मियों की छुट्टियों में हम दादी अम्मा के पास गाँव जाते थे। लगभग दो माह का वह समय बहुत ही मजेदार बीतता था। विशेषतः रात का वह समय, जब अम्मा-चाची-बुआ आदि घर के सब कार्य निपटाकर आँगन में पड़ी चारपाई पर छोटे बच्चों को लिटा देती थीं और हम सब कुछ बड़े बच्चे नीचे बिछी चटाइयों पर लेटे-अधलेटे कहानियाँ सुनने को तत्पर रहते थे। उल्लेखनीय बात ये थी कि हम 10-12 वर्ष वाले बच्चों के अलावा अगल-बगल के घरों के इन्टर, बी.ए. जैसी बड़ी कक्षाओं में पढ़ने वाले दीदी-भैया भी आ जुटते थे। फिर अम्मा जब कहानी सुनाना शुरू करतीं, तो लगता था कि बस सुनाती ही जायें। किसी का भी उठने का मन नहीं होता था। अम्मा की शर्त रहती थी कि बीच-बीच में हुँकारा भरना पड़ेगा, तो हममें से कोई न कोई बीच-बीच में बोलता रहता- ‘हाँ, फिर क्या हुआ? आगे क्या हुआ? आदि। और कहानी आगे बढ़ती जाती। उनके कहने में, सुनाने की शैली में कुछ ऐसी सरसता, ऐसी रोचकता होती थी कि मन ऊबता ही नहीं था, शरीर थकता ही नहीं था। उदाहरणस्वरूप अम्मा के द्वारा सुनायी गयी शेखचिल्ली की कहानी उन्हीं की शैली में सुनाने की कोशिश कर रही हूँ-

“एक थे शेखचिल्ली। अपनी मैया के इकलौते और बहुत लाड़ले। जब वे छोटे थे, तभी उनका ब्याह कर दिया गया था। बड़े हुए, तो सब उन्हें छोड़ते-“अपनी दुलैया कब लाओगे?” एक दिन शेखचिल्ली मैया के आगे मचल गये कि हम अपनी दुलैया लेने जायेंगे। माँ बेचारी अकेली, किसी तरह मेहनत-मजूरी करके अपना और अपने बेटे का पेट पालती थी। न कोई ऐसा रिश्तेदार, न नातेदार, जो दुख-तकलीफ में साथ दे। बेटे

को खूब समझाया-बुझाया कि कुछ दिन रुक जाओ, पर वह कहाँ मानने वाले! मैया ने कपड़े में लपेट के कलेवा दिया और कहा कि जाओ नाक की सूध चलते चले जाना, जहाँ रास्ता खत्म होगा, वहीं तुम्हारी सुसराल है।

शेखचिल्लीराम चल दिये खुशी-खुशी। मटक-मटककर झूमते-झामते नाक की सीध में चले जा रहे थे कि ठीक सामने एक खजूर का पेड़ आ गया। अब क्या करें, जाना तो नाक की सूध ही है, सो आव देखा न ताव, चढ़ गये खजूर के पेड़ पर किसी तरह खिसक-खिसक कर, अब दूसरी ओर उतरते न बने। जो निकले, उसे पुकारें, ‘‘ऐ भैया, उतार लो हमें।’’ पर सुने कौन और सुने भी तो उतारे कैसे? बड़ी देर तक रोते-कलपते लटके रहे कि एक ऊँट वाला निकला वहाँ से, तो उसे दया आ गयी और उसने किसी तरह जतन कर पहले शेखचिल्लीराम को ऊँट पर लिया और फिर जमीन पर उतारा। शेखचिल्ली फिर चल दिये नाक की सूध और रास्ता जहाँ खत्म हुआ, तो देखा सामने घर है। वही तो थी उनकी सुसराला जा पहुँचे खुशी-खुशी अन्दर। सुसराल में सब बड़े प्रसन्न हुए। खूब आवभगत हुई। रात को छत पर उनकी सोने की व्यवस्था की गयी। वहाँ छत पर एक ओर छाया था फूस का छप्पर। उसकी बल्ली में कील लगी थी, जिस पर लालटेन टँगी थी। शेखचिल्लीराम ने लालटेन कभी देखी न थी। उनकी मैया तो ढिबरी जलाती थी। लालटेन को वे एकटक ताके जायें-ताके जायें। एकाएक मन में विचार आया, इसे तो अपने घर ले जायेंगे। बस, झट से उतारा लालटेन को और अपने गमछे में लपेटकर छप्पर में खोंस दिया। जैसे ही लुढ़की स्थिति वाली लालटेन से तेल बाहर निकला कि आग भभक उठी, तो शेखचिल्लीराम घबराकर चिल्लाये-आग, आग लगी आग। लोग दौड़े-दौड़े ऊपर आये और लालटेन को छप्पर पर लुढ़के देखा, तो समझ गये सारा माजरा। झटपट आग बुझायी गयी, किन्तु शेखचिल्ली के सुसराली ने अपना माथा भी ठोक लिया

और इस आशंका से कि जँवाई राजा और कोई नया तमाशा न खडा कर दें, भोर होते ही उन्हें बेटी सहित विदा कर दिया। सो ऐसे थे शेखचिल्लीराम और ऐसी थीं उनकी कारगुजारियाँ। कहानी हुई खतम और पैसा हुआ हजम।’’

शेखचिल्ली की मजेदार कारगुजारियों की ऐसी न जाने कितनी कहानियाँ अम्मा ने सुनायीं थीं, अब तो याद भी नहीं, किन्तु उनके कथा-रस को आज भी महसूस करती हूँ और हँसी तो अभी भी आये बिना रहती ही नहीं। सच, हम कितना हँसते थे सुन-सुनकर, एक-दूसरे पर गिरते थे, लोट-पोट होते थे। ऐसा सहज प्राप्य और निशुल्क मनोरंजन अब कहाँ मिलेगा?

कथा कहन का यह रस व्रत-उपवास की, महान चरित्रों की कहानियों में भी खूब मिलता था। आज तो समय की कमी और सामूहिकता के अभाव ने ऐसी स्थितियाँ, ऐसे अवसर ही घटा दिये। वरना पहले तो आये दिन किसी न किसी पूजा, व्रत, अनुष्ठान का क्रम घर-परिवारों में लगा ही रहता था। सावन में हरतालिका तीज, भादों में पहले हरछठ फिर सन्तान सातें, क्वार में नवरात्र, कातिक में करवा चौथ, फिर अहोई आठें, फिर भाईदूज, फिर शरद पूर्णिमा, फिर सकट चौथ, फिर शिवरात्रि और न जाने क्या-क्या? कई दिन पहले से घर की महिलाओं की तैयारी शुरू हो जाती थी। घर की बड़ी-बूढ़ी महिलाएँ याद दिलाती थीं, ये बना लो, ये मंगा लो आदि। फिर निर्धारित व्रत या जो भी अवसर हो उस दिन किसी एक घर में इकट्ठी होकर महिलाएँ पूजा करती थीं। उनमें कोई एक कथा कहती थी। माँओ के साथ लगे-लगे उनके बच्चों का आ जाना तो स्वाभाविक ही था, तो वे भी सुनते थे और मजा लेने के साथ संस्कारित भी होते थे। प्रासंगिकता के परिप्रेक्ष्य में अपनी जिठानी से सुनी भाई दूज की यह कथा उन्हीं की शैली में सुनाने का यत्न कर रही हूँ- ‘‘एक भाई-बहन थे। बहन की सुसराल बहुत दूर पहाड़, जंगल और नदी के उस पार

थी। भाई-दूज का त्यौहार आया। भाई को बहन की ससुराल जाना था रोचना कराने। याद था कि बिना रोचना किये बहन कुछ खायेगी-पियेगी नहीं, सो भाई बड़े सबेरे भोर में ही निकल पड़ा। घनघोर जंगल में आगे बढ़ा जा रहा था कि कान में शेर की दहाड़ पड़ी। सोचा कहीं छिप जाये, कि शेर महाराज आ गये सामने। झूमते हुए बोले, “अहा, कई दिनों से भूखा था। अब तो तेरे को खाऊँ-भूख मिटाऊँ।” ये सुनते ही भाई तो पड गया सोच में कि मैं नहीं पहुँचा तो बहन तो मेरी भूखी-प्यासी मर जायेगी, बिना रोचना किए तो वह पानी तक नहीं पीती। सो हाथ जोड़ निवेदन किया, “महाराज, मैं बहन के पास रोचना कराने जा रहा हूँ। बिना रोचना किये वह कुछ खाती-पीती नहीं। रोचना कराके लौट आऊँ तो खा लेना महाराज। ये वचन है मेरा।” रोचना की बात सुनकर शेर महाराज को जो भी लगा हो, पर वो मान गये। रास्ता छोड़ दिया। भाई आगे बढ़ा। कुछ ही दूर आया था कि सामने फुँफकराते हुए नागदेवता मिल गये। भाई ने इधर-उधर हो के बच के निकलना चाहा, पर उन्होंने जाने नहीं दिया, तेजी से आगे आ गये और कहा कि -आज तो तुझे डसूँ और प्यास बुझाऊँ।” भाई ने उनसे भी हाथ जोड़ विनय की- “नागदेवता, बहन से रोचना करा आऊँ, लौटने पर आप जो चाहे करना, ये वचन है मेरा। बिना रोचना किए बहन भूखी-प्यासी मर जाएगी। “नागदेवता भी रोचना की बात सुनते ही सर्र से दूसरी ओर चले गये। राह छोड़ दी। भाई चल पड़ा। काफी समय हो गया था। सूरज उग आया था। भाई ने गति बढ़ाई ही थी कि सामने देखा हहराती हुई नदी। बरसात नहीं थी, पर नदी में पानी लबालब था। आस-पास न नाव दिख रही थी न मल्लाहा। इतने पानी में तैरकर भी नहीं जा सकता था। क्या करें? सोच में था कि कान में आवाज पड़ी- “आज तो तेरी बलि लूँगी, तभी शान्त होऊँगी।” ये और कोई नहीं, स्वयं नदी मैया थीं। भाई ने उनसे भी हाथजोड़ विनती की -“नदी मैया, बहन से

रोचना करा आऊँ। वह भूखी-प्यासी बैठी होगी। वचन देता हूँ, फिर आप बलि ले लेना।” रोचना की बात हो या फिर बहन की बात, कारण जो भी रहा हो, नदी मैया भी शान्त हो गयीं। हहराता पानी धीरे-धीरे बहने लगा। बहाव धीमा पड़ा, तो भाई ने पहनी धोती को कछौटे की तरह कसा और कूद पड़ा नदी में। कुछ ही देर में उस किनारे जा लगा और भीगा-भीगा बहन की ससुराल जा पहुँचा। बहन बहुत प्रसन्न हुई। हाल-चाल पूछा। सूखे वस्त्र दिये और फिर रोचना लगा, आरती कर, मिठाई खिला, स्वयं मुख जुठारने बैठी तो भाई बोला-“मुझे जाना है।” बहन रोके तो रुकने को तैयार नहीं। इतनी जल्दी जाने का कारण पूछा तो वह भी नहीं बताया। अंत में बहन ने अपनी सौगन्ध दी तो बताया कि वचन देकर आया है। जाना ही पड़ेगा और वह भी तुरन्त। बहन थी बड़ी चतुर-सुजान। बोली मैं भी साथ चलूँगी। भाई ने रोका, ससुराल वालो ने वरजा, फिर भी बहन नहीं मानी और चल पड़ी भाई के साथ। सबसे पहले हहराती-उफनाती नदी मैया मिलीं। बहन ने अपने साथ लाई पेरी-चुनरी चढ़ाई, बताशे का भोग लगाया, धूप-दीप जलाये और हाथ जोड़ विनती की, “मैया, मेरे ससुरे को बनाये रहियो, मेरे मयके को बनाये रहियो, मेरे सुहाग को बनाये रहियो, मेरे भइया को बनाये रहियो।” प्रसन्न मैया ने आशीष भी दे दी कि जा बिटिया तेरी सब मनोकामनाएं पूरी हों। सो अब वे बलि कैसे लेतीं ! उनका बहाव धीमा पड गया और भाई-बहन हाथ जोड़ आगे बढ़े। नदिया पार की। इस पार घाट पर दोनों ने रुककर कपड़े सुखाये। आराम भी किया और बहन ने कुछ जरूरी सामान भी खरीदा। फिर आगे बढ़े। बीच जंगल में नागदेवता मिले। बहन ने साथ लायी दूध भरी मटकिया रख दी सामने। नागदेवता पीने में लग गये और बहन-भाई झट से अपनी राह चल दियो। जंगल समाप्त होने को ही था कि दहाड़ते हुए शेर महाराज सामने मौजूदा खुश होके बोले, “अहा, अब तो दो-दो, मजा आयेगा खाने में।” बहन ने साथ

लायी पिटारी खोली और माँस के टुकड़े इधर-उधर फेंकना शुरू कर दिया। शेर महाराज माँस देख रुक नहीं पाये, दौड़कर टुकड़ों पर टूट पड़े और भाई-बहन का आगे बढ़ने का रास्ता यहाँ भी साफ। वे तेजी से चलकर जंगल से बाहर निकल आये। इस तरह समझदारी, चतुराई एवं धैर्य से उन भाई-बहन ने उस विपत्ति से मुक्ति पाई। तो ऐसा होता है बहन-भाई का रिश्ता। ऐसी बहनें सबकी हों कि भाई के लिए कुछ भी कर गुजरें और ऐसे भाई सबके हों कि बहन की खुशी के लिए प्राणों की भी परवाह न करें। सो ऐसे ही भाई-दूज आती रहे। बहनें भाइयों को ऐसे ही रोचना करती रहें, और भाई बहनों की ऐसे ही चिन्ता करते रहें। दूज महारानी की जय।”

ऐसी कहानियाँ हमें रिश्तों की गहराई और महत्त्व को बताती हैं तथा ये सीख देती हैं कि कैसी भी कठिन स्थिति आये, धैर्य खोये बिना, स्थिर बुद्धि से उसका मुकाबला करना चाहिए। इसी तरह की अनेक कहानियाँ सरस कथा कहन शैली में व्रत-त्यौहारों में सुनायी जाने वाली हैं, जिनसे मनोरंजन और शिक्षण दोनों कार्य एक साथ सम्पन्न होते हैं। करवा चौथ, हरछठ, अहोई आठें, सन्तान सातें आदि की कथाओं में

पूजन-पाठ भी होता है और वे रिश्तों के सुकोमल सूत्रों पर आधारित भी होती हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि वाचिक परम्परा की यह पूँजी नयी पीढ़ी तक पहुँचेगी, तो अवश्य उन्हें नैतिक बल प्रदान करेंगी। उनका मनोबल मजबूत करेंगी। हमें आज भी उनकी जरूरत है और आगे भी रहेगी। इनके औचित्य और प्रासंगिकता को विद्वत्प्रवर इन्दुप्रकाश पाण्डेय ने ‘लोक साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन’ शीर्षक लेख में जिन तर्कों के साथ रेखांकित किया है, उसके बाद और कुछ कहने को बचता ही नहीं। वे पंक्तियाँ है- “लोक-साहित्य का एक मुख्य प्रयोजन होता है कि वह अपने समाज के सांस्कृतिक रूप-व्यापारों, रीति-रिवाजों तथा स्थापित संस्थाओं की महत्ता को स्थापित करना चाहता है और उनके सामाजिक एवं धार्मिक मूल्यों का प्रचार करना चाहता है, जैसे व्रत-कथाएँ। ये कथाएँ वैधीकरण (LEGITIMATION) प्रदान करती हुई सांस्कृतिक मूल्यों और आचारों को समर्थन और बल प्रदान करती हैं। उन्हें सर्वमान्यता प्रदान करती हैं। जब कभी शंका भी उत्पन्न होती है तो उनका इन्हीं माध्यमों से शमन भी किया जाता है।”⁴

संदर्भ:

1. आचार्य विद्यानिवास मिश्र; स्वरूप विमर्श; ‘भारतीय परम्परा: उच्छलित लोक’ शीर्षक लेख से; पृ. 42-43; भारतीय ज्ञानपीठ-नयी दिल्ली; संस्करण: 2001
2. डॉ. श्यामाचरण दुबे; परम्परा और परिवर्तन; ‘मौखिक परम्पराएँ और सांस्कृतिक विकास’ शीर्षक लेख से; पृ. 104; भारतीय ज्ञानपीठ-नयी दिल्ली; संस्करण: 2008
3. आचार्य विद्यानिवास मिश्र; देश, धर्म और साहित्य; ‘हमारे देश की वाचिक परम्परा’ शीर्षक लेख से; पृ. 55; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि.- नयी दिल्ली; संस्करण 2010
4. प्रधान सम्पादक आचार्य विद्यानिवास मिश्र; चंदन चौक; पृ. 23-24; उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी-लखनऊ; संस्करण: 1989

इक्कीसवीं सदी में सांस्कृतिक विस्थापन और समकालीन हिंदी उपन्यास

मो. साजिद हुसैन

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

8506971742

readsajid@gmail.com

इक्कीसवीं शताब्दी वैज्ञानिक प्रगति, तकनीकी विकास और उत्तर औद्योगीकरण का समय है। यह वह समय है जहां वैचारिक जगत और जीवन पद्धति में अभूतपूर्व परिवर्तन देखने को मिलता है। यह भूमंडलीकरण का उत्तर समय है। प्रौद्योगिकी और तकनीक की अभूतपूर्व प्रगति, सूचना-क्रांति का तीव्र विस्फोट, कंप्यूटर और मोबाइल के क्षेत्र में अपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तन ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश को गहरे प्रभावित किया है। बाजारवाद और उपभोक्तावाद की संस्कृति का विकास हुआ जिसने मानवीय मूल्यों से विलगाव की स्थिति उत्पन्न कर दी। मनुष्य की जगह वस्तु केंद्र में आ गया। आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य मूल्यों का अंधानुकरण जीवन और मूल्यों में विकृतियाँ पैदा कर रही हैं। नए युग और नए स्वप्नों के साकार करने नाम पर पूँजीवाद के जटिल व्यवस्था ने सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की स्थिति उत्पन्न की जिसने सांस्कृतिक विस्थापन को बढ़ावा दिया

सूचना और प्रौद्योगिकी के विकास ने समूचे विश्व को भौगोलिक स्तर पर संकुचित कर दिया। विश्व के सभी देश आपस में जुड़ गये जिससे न केवल पूँजी का

प्रवाह और आवागमन संभव हुआ बल्कि विभिन्न देशों की संस्कृतियों का संमेलन भी हुआ। इस सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति का जीवन यांत्रिक बनता जा रहा है। वैभव, बाजार और लालसा के दौड़ ने व्यक्ति को आत्मनिर्वासन की ओर प्रवृत्त किया है। इस असीम लालसा और बाजार पोषित महत्वाकांक्षा ने व्यक्ति के मानस में एक भौतिकता को आवश्यकता के रूप में स्थापित कर दी है। इस स्थापना से व्यक्ति की मानवीय संवेदनाएं लगातार क्षीण होती जा रही है। बड़ी संख्या में लोग अपनी लालसा को पूरा करने के उद्देश्य से गांव से शहरों की तरफ विस्थापित हो रहे हैं। शहर की ओर यह विस्थापन मात्र व्यक्ति का नहीं होता बल्कि अपने परिवार, गांव और समाज से भी होता है। इस क्रम में व्यक्ति और भावनात्मक

विस्थापन से उपजे रूपांतरण की प्रक्रिया में सांस्कृतिक परिवेश का विस्थापन होता जाता है। इसके जरिये मनुष्य से उसके सामाजिक संबंध का विस्थापन, भावनात्मक लगाव का विस्थापन होता जाता है। यह उपभोक्तावाद का वही उपक्रम है जिसमें मनुष्य के भावनात्मक संवेदनाओं को समाप्त कर बाजारवादी मूल्यों को स्थापित किया जा रहा है।

लगाव से भी विस्थापन होता जाता है। जो उसमें सामुदायिकता और परिवार से संबंध बनाए रखने के लिए आवश्यक प्रेम और स्नेह है वह भी लगातार छीजता चला जाता है। साथ ही व्यक्ति खुद लालसा के दौर में अंततः अकेलेपन का शिकार होने लगता है। एक अलगाव, उदासीनता और तनाव व्यक्ति को लगातार घेरे रहती है। वह यंत्रवत जीवन, भावशून्य जीवन जीने को विवश होता है। हमारे परस्पर प्रेम और सद्भाव कम से

कम पर होते जाते हैं वस्तु ज्यादा महत्वपूर्ण होता जाता है।

इक्कीसवीं सदी में वर्चस्ववादी संस्कृति के प्रभाव के बढ़ने के साथ व्यक्ति लगातार अपनी सांस्कृतिक जड़ों से कटता जा रहा है। जिस सामुदायिक एकजुटता से सामाजिकता और नैतिकता जैसे मूल्य संवर्धित हो रहे थे, वह क्षीण होता जा रहा है। अपनी परंपराओं और सामाजिक संबंधों से अलगाव होता जा रहा है। इसकी हमें भनक तक नहीं लगती। यह दरअसल अमानवीयता की ओर प्रस्थान है। जहां हम सब से कटकर अलग नितांत अकेलेपन की तरफ निर्वासित होते जा रहे हैं और उपभोग द्वारा उस उत्पन्न शून्यता को पूरा करने की व्यर्थ कोशिश करने लगते हैं। फलस्वरूप सांस्कृतिक विस्थापन की प्रक्रिया आरम्भ होने लगती है। यह विस्थापन अपने भीतर या बाहर आस-पास की चीजों में परिलक्षित होता है। हमें इस विस्थापन का आभास भी नहीं होता लेकिन यह घट रहा होता है। सतत। दरअसल यह प्रक्रिया धीमी गति से किन्तु सतत रूप से प्रसारित होती रहती है। पुरानी चीजे धीरे-धीरे नई चीजों द्वारा विस्थापित की जा रही होती है। यह विस्थापन विचार, मान्यता, व्यवस्था, परंपरा, शब्द, भाषा, वस्तु आदि कई स्तरों पर घटित होती है। हमारी निगाह से वह ओझल होती जाती है। बहुत बार मनुष्य उन्हें खुद अपदस्थ कर रहा होता है। वस्तुओं का विस्थापन मनुष्य जनित होता है। मशीनीकरण और सुविधाओं के बाजार ने ऐसी ही बहुत सारी वस्तुओं को विस्थापित किया। देसी आम, सिल लोढा, बरतन, लालटेन, सिकहर आदि ऐसी ही वस्तुएं हैं जो अब नज़र से ओझल कर दी गयीं हैं। इनका गायब होना नैसर्गिक मान लिया गया है। लेकिन ऐसा नहीं है। “वे गायब नहीं हुई हैं..वे अपनी जगह से धकेल दी गयी हैं..ये देसी आम, ये बरतन, ढिबरी, लालटेन, ये सिकहर, ये सिल-लोढा, ये सब इसी भारत देश में हैं पर अपनी जगह से

धक्का दे दिए गए हैं। ये ऐसे अँधेरे में गिर गये हैं कि तुम लोगों को दिखाई नहीं देते। पर ये हैं”¹ यह अन्धेरा बाजार की जगमगाहट ने पैदा किया है। बाजारवाद ने अपनी चकाचौंध से व्यक्ति को आकर्षित किया है। इस आकर्षण में उसे बर्तन नहीं ‘क्रॉकरी’ दिखता है। लालटेन की जगह इलेक्ट्रिक लैंप, फानूस दिखता है। ‘सिल-लोढा’ की जगह ‘मिक्सर-ग्राइंडर’ दिखता है। आधुनिकता के लैंप में आज बाजार ही प्रकाशित दिखता है। बाकी जगह अन्धेरा पसरता जा रहा है। इन वस्तुओं का गायब होना बाजार का ज्यादा प्रकाशमान होते जाना है। विकास और रफ्तार की निर्जीव चमक ही अब ध्यानाकर्षण का विषय बन गया है।

21 वी सदी का हिंदी उपन्यास इस वर्चस्वादी संस्कृति के इस प्रकरण को सूक्ष्मता से चित्रित करती है। अपने करह चिंतन में वस् इस सांस्कृतिक विस्थापन को प्रमुखता से जगह देता है। यह विस्थापन व्यक्ति को उसकी संस्कृति और परंपरा की जड़ों से काट देती है। यह काट कर अलग करने की प्रक्रिया ही है जो समाज में असहाय ‘रघुनाथ मास्टर’ की संख्या बढ़ती जा रही है। ‘रघुनाथ मास्टर’ इस नियती को समझते हैं। वे इस सम्रयावादी आक्रमण को समझते हैं। यही कारण है कि किसी भी कीमत पर अपनी पैतृक जमीन बेचने के लिए राजी नहीं होते। लेकिन वही पत्रिक जमीन बाजार के मोहासक्त और विज्ञापन की बताई जीवन-शैली को ही श्रेष्ठ मानने वाले पीढ़ी के रूप में पुत्र के लिए वह मात्र एक जमीन का टुकड़ा भर है। इस भोगवादी संस्कृति का हिस्सा होने के नाते उनके बेटे की राय बिलकुल उनसे अलग है। इसीलिए वह साफ़ कहते हैं “क्यों मरे जा रहे हैं जमीन के लिए को लेकर। छोड़िए उसे”। लेकिन इस बात पर रघुनाथ मास्टर का उत्तर है “जाने कहां से इतने नालायक और निकम्मा लड़के पैदा हो गए-सालो पिछले जन्म के पापा। इस जमीन ने तुम्हारे आज को खिलाया। तुम्हारे दादा-परदादा को खिलाया। यही नहीं

तुम्हारे बेटों और नाती-पोतों को भी खिलायेगी। तुम करोड़ों कमाओगे लेकिन रुपया-डॉलर नहीं खाओगे। भगवान ना करे वह दिन आए जब बैंक चावल, दाल के लिए लोन बांटे। साले तुम लोग बड़े हुए हो अपनी मां का दूध पीकर और तुम्हारी मां की महतारी है यह जमीन और बोलते हो..छोड़िए उसे।² बाजार की शरण में आ चुकी पीढ़ी के लिए वह जमीन एक टुकड़ा भर है। वह जानता है कि वह मॉल से अनाज खरीद लेगा। लेकिन रघुनाथ जानते हैं कि यह धरती ही अनाज देगी। अन्न यहीं से उपजेगा और न जाने कितनी पीढ़ी से यह परिवार का पोषण कर रही है। और इसे मात्र जमीन मानकर कर छोड़ दें। रघुनाथ मास्टर के लिए अपनी जमीन छोड़ना अपनी परंपरा और संस्कृति को छोड़कर बिना जड़ के आगे बढ़ने जैसा है। उसे अपने सांस्कृतिक जड़ों से लगाव और उसकी अपनी व्यक्तिक और सामुदायिक पहचान और उसके खत्म होने की भरपाई ना होने का आभास है। उसके लिए अपने लगाव, संबंध और परंपरागत सांस्कृतिक संबंध को छोड़ना आत्मनिर्वासन से गुजरने जैसा है। यह वही वर्चस्ववादी सांस्कृतिक हस्तक्षेप है जिसमें मानवीय संबंध और सरोकार क्षीण होते जा रहे हैं। आत्मीयता का क्षरण होता जा रहा है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकीय विकास ने इस यांत्रिकता को और बढ़ाया है। जिसने आपसी संबंधों को बदल कर रख दिया है। बदलते समय में मनुष्य के रिश्ते भी तेजी से बदले और जटिल हुए हैं। इन सब के पीछे सांस्कृतिक विस्थापन अवश्यंभावी होता जा रहा है। एक समूची स्थानीयता पूँजी के कुचक्र का शिकार होती जाने को अभिशप्त है। अपनी विस्तार वादी नीति के तहत अधिग्रहण की आड़ में पूरी की पूरी जनजातीय चिन्ह को खत्म करने में भी संकोच नहीं करती है। इस प्रक्रिया में एक पूरी संस्कृति के विलोपन का खतरा पैदा हो जाता है। “आरा से तीन किलोमीटर दूर बकरी गांव बकासुर द्वारा बसाया कहा जाता है और इसी प्रकार गया को

गयासुर नामक असुर द्वारा बसाया बताया जाता है। इस प्रकार पूरे देश में असुर संस्कृति के चिन्ह मिलते हैं। इन्हें खदेड़ कर सीमान्त क्षेत्र में पहुंचा दिया गया। लेखक की चिंता यह है कि ‘ग्लोबल गांव के देवता’ बहुराष्ट्रीय कंपनियां पूरी तरह यहां से भी खदेड़ देना चाहती है। यहां से उजड़कर अब ये कहां जाएंगे। सैंतीस गांवों में बसे हजारों परिवार आखिर कहां जाएंगे।³ इस प्रक्रिया में विस्थापित होते हुए परिवारों के साथ उनकी साझी संस्कृति, साझी जमीन और साझी विरासत के लोप का खतरा भी बढ़ता जा रहा है। यह मात्र किसी वस्तु, व्यक्ति या परिवार का विस्थापन नहीं होता बल्कि उसके साथ विस्थापित होती है- “श्रम रस से डूबते, उभरते सरहुल, हरिअरी सोहराय, सडसि-कुटासी पर्व त्योहारों में, अखरा में जदुरा,झूमर कर नाचते, अपने बैगा-पुजार-पाहन के साथ सामुदायिक जीवन” का भी विस्थापन है।⁴ समूची लोक संस्कृति, तीज-त्योहार, लोकगीत, खान-पान, रहन-सहन, भाषा आदि के विस्थापन का संकट इस सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का सबसे व्यापक संकट है। शहरी और नगरीय या कस्बाई संस्कृति का लगातार बढ़ता हुआ संकट सांस्कृतिक विविधता को खत्म करता है।

विज्ञापन और बाजार के पहुंच गांव तक हो गई है। वहां की गवई संस्कृति, गावपन को भी वैश्विक संस्कृति के तर्ज पर तैयार किया जा रहा है। अपसंस्कृति का प्रसार, उपभोक्तावाद की बढ़ती सनक, फास्ट-फूड का बढ़ता प्रचलन, फास्ट सक्सेस की लालसा, और उसके लिए शोर्टकट, उपभोग की बढ़ती प्रवृत्ति सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित कर रहा है। यही वजह है कि ‘रतन’ जैसे गांव में रहने वाले युवा के आदर्श भी विज्ञापन द्वारा बनाए गए प्रतिमान ही बनाने लगे हैं – ‘फिल्मी हीरो या फिर अंबानी जैसा कोई उद्योगपति’। ‘दस बरस का भंवर’ का पात्र रतन उसी नई पौध का प्रतिनिधित्व करता है। गांव तक में यह पात्र देखने को

मिल जाता है। मनोचिकित्सक डॉक्टर ‘पांडे’ इस बढ़ते सांस्कृतिक परिदृश्य में रतन जैसे युवाओं की स्थिति को सही ही बताते हैं कि “रतन अपनी पीढ़ी का नौजवान है। वह जल्दी में है। उसे फास्ट फूड की तरफ फास्ट सक्सेस चाहिए। वह इंतजार नहीं कर सकता। वह सीधा पहले नंबर की सीढ़ी पर उछल जाना चाहता है।.. नौकरी छोड़कर वह अंबानी और आमिर के सपने देखता है”¹⁵ डॉक्टर पांडे बाजार के इस प्रभाव को जानते हैं। उनका यह कहना भी कि इस ‘प्रभाव से उन्हें बचा पाना मुश्किल है’ उपभोग की उस संस्कृति की व्यापकता और प्रभाव को दर्शाता है। इसीलिए वह कहते हैं “लेकिन अब बाजार बहुत जुझारू होता जा रहा है। इन लड़कों को बचाना मुश्किल होगा..बाजार इन्हें भड़काता है”¹⁶ यह भौतिकवादी दृष्टि, उपभोक्तावाद, बाजार, बाजार की ब्रांडिड संस्कृति ही है जो उन्हें क्रेजी बना रहा है। विज्ञापन की विकसित होती संस्कृति ही है जो व्यक्ति को उसकी वास्तविकता से विस्थापित सम्मोहक सपने दिखाकर अपने बाजार के चकाचौंध में मतिभ्रम की स्थिति पैदा करती है।

यह विस्थापन लगातार जारी है। यह मात्र ‘ब्रेन-ड्रेन’ नहीं बल्कि ‘संस्कृति का ड्रेन’ भी है। इस सांस्कृतिक विस्थापन की गति तेजी से बढ़ रही है जो स्थानीय संस्कृति को गहरे प्रभावित कर रही है। हम तेजी से एकल संस्कृति की तरफ बढ़ते जा रहे हैं। समूचा जीवन परिवेश तेजी से बदलता जा रहा है। होना यह चाहिए था कि सांस्कृतिक विविधता के साथ पूरे विश्व को पहचान मिलती। “लेकिन पूरा विश्व एकल संस्कृति, अमेरिकी संस्कृति में ढलता जा रहा है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। किसी भी देश में चले जाइए, उनकी राजधानियों, महानगरों का जो विकास हुआ है वह सब जगह एक सा ही दिखाई देता है। चौड़ी-चौड़ी सड़कों के साथ खड़े माचिस की डिब्बी नुमा बहुमंजिला अपार्टमेंट्स, आकाशचुंबी एक सी

ईमारतें, एक से मॉल और यहां तक कि सब मॉलों में लगभग एक जैसे ब्रांडों का माल, प्रसाधन सामग्री हो, हाथ में लटकाने वाले पर्स हो, इत्र-परफ्यूम हो, सब जगह उनही प्रसिद्ध ब्राण्डों के उत्पाद की भरमार रहती है। पूरी दुनिया के बाजार, मॉल इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पादों से भरे हुए हैं”¹⁷ यानी पूरे विश्व में इन कंपनियों का अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित होता जा रहा है। इसकी पहुंच का ही परिणाम है कि उन आयातित बाजारवादी संस्कृति से अपनी निजता, सांस्कृतिक मूल्यों, परंपरिकता के स्वरूप लगातार विस्थापित होते जा रहे हैं। इस प्रक्रम में उत्पन्न जटिलताएं मानवीय मूल्यों को भी विस्थापित करती हैं। इन स्थितियों ने ‘गायब होता देश’ जैसी स्थितियों को बढ़ाया है। वर्चस्व की यह संस्कृति आदिवासियों को अपने कथित विकास की भेंट चढ़ाता है। इस संदर्भ में एक समूचा समाज विस्थापन का शिकार होता जाता है। आदिवासी जीवन-दर्शन और संस्कृति आज बड़े पैमाने पर विलुप्ति के कगार पर है। ‘सरना वनस्पति जगत गायब हुआ, मरांग-बुरु बोंगा, पहाड़ देवता गायब हुए, गीत गाने वाली, धीमे बहने वाली, सोने की चमक वाली, हीरो से भरी सारी नदियां जिनमें ईकिर बोंगा जल देवता का वास था, गायब हो गई। मुंडाओं की बेटे-बेटियां भी गायब होने शुरू हो गए। ‘सोना, लेकन, दिसुम’ गायब होने वाले देश में तब्दील हो गए। यह ‘गायब होता देश’ दरअसल सांस्कृतिक साम्राज्यवाद द्वारा विस्थापन की संस्कृति का ही परिणाम है। अब जीवन का कोई हिस्सा नहीं है जहां इस संस्कृति का हस्तक्षेप नहीं है। बाजार की व्यापकता के साथ इसके सांस्कृतिक मूल्य स्वयं स्थापित होते जाते हैं और हमें पता भी नहीं चलता। लेकिन विस्थापन की प्रक्रिया सतत रूप से जारी रहती है। 21वीं सदी में इसकी पहुंच लगातार बढ़ी है। काशीनाथ सिंह बाजार की पहुंच को अपने उपन्यास ‘काशी का अस्सी’ में लोक संस्कृति के विस्थापन को सूक्ष्मता से विश्लेषित करते हैं। बाजार

के प्रसार, उसकी पहुंच को स्वीकारते हुए वह लिखते हैं “बाजार वह नहीं है जो सड़क पर है, दुकान में है, नुककड़ में है, शोकेस में है। बाजार वह है जो तुम्हारे दरवाजे पर है, पोर्टिको में है, ड्राइंग रूम में है, बेडरूम में अलमारी में है, किचन में है, टॉयलेट में है और यहीं क्यों तुम्हारे बदन पर है, सिर पर बालों से लेकर पैर के नाखून तक है। ऐसा कि जो तुम्हारे घर जाए या तुम्हें देखे, उसके लार टपकने लगे। उसके नींद और उसका चैन छिन जाए, तड़प उठे कि वह चीज जो तुम्हारे पास है, उसके पास क्यों नहीं है, उसके पास सुबह नहीं तो शाम तक आ ही जाए और जब तक ना आ जाए तब तक न खाना अच्छा लगे, न पीना, न जीना”¹⁸ 21वीं सदी में बाजारवादी संस्कृति के प्रसार और उससे उत्प्रेरित सनक ही है जो ‘पण्यीकरण’ और ‘ब्रांड संस्कृति’ को एक आवश्यकता के रूप में स्थापित कर दिया है। भले ही इसकी कीमत परंपरागत मूल्यहीनता हो या विस्थापित होती जीवन और संस्कृति।

बाजारवाद की आड़ में आधुनिकीकरण, यांत्रिकता, और उपभोगवाद सहज जीवन पद्धति को क्षरित कर रहा है। मूल्यों के हास से संस्कृति के विरूपीकरण की स्थिति जन्म लेती है। 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास इन पूरे प्रकरण पर अपनी पैनी नजर रखता है और उसे सूक्ष्मता से अपनी कथा चेतना में जगह देता है।

कथाकार का यह कहना कि ‘अस्सी यहां से उठा के ज्यों का त्यों उठाकर कहीं और ले जाया गया है उन गुरुओं समेत। अब यह मोहल्ला नहीं, म्यूजियम है’। मोहल्ले का म्यूजियम में तब्दील होते जाने की कारुणिक परंपरागत परिवर्तन को बताता है। हमारी संस्कृति अब अंश मात्र में बचे धरोहर की तरह बाजार

द्वारा अलग हटा कर सजा दी गई है। हमारे मूल्य शनैः-शनैः बाजार में घुलते जा रहे हैं। अस्सी चौराहा का ‘तुलसी नगर’ में बदलते जाना, वहां के हँसी-ठहाकों का खत्म होते जाना, इसी बात की ओर इशारा करता है।

अलका सरावगी का उपन्यास ‘एक ब्रेक के बाद’ इन सांस्कृतिक स्थितियों को और अधिक विस्तार और गहराई से स्पष्ट करता है। वह स्पष्ट देखती हैं कि अभी जिस संस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है, वहां जमाना “दिल मांगे मोर का है। बस्तर के गांव में अपनी झोपड़ी में बैठकर आदिवासी टीवी पर वाशिंग मशीन में कपड़े धोते देख रहा है और डबल डोर फ्रिज में जाने कब से ताजी लौकी, टमाटर की गाथा सुन रहा है। इस देश की एक अरब जनता अब एक साथ सपने देख रही है। फर्क यही है कि किसी के सपने छोटे तो किसी के सपने ज्यादा बड़े हैं”¹⁹ इस संस्कृति ने सपने दिखाने और उसे कैश कराने की अद्भुत क्षमता विकसित कर ली है। सपनों की वजह से ही बाजार आज किसी न किसी रूप में हमारे दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा लगता है। यह हमें नियंत्रित करने लगा है। उसकी जटिलताओं और प्रभाव की चिंता उसे बिल्कुल भी नहीं है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने वास्तविकता की अपेक्षा विलासिता के सपने बुनने और उसे पूरा करने के लिए रातो-रात करोड़पति बनने के लिए उकसाता है। वह भी सब कुछ दांव पर लगा कर। इन विज्ञापनी महत्वाकांक्षाओं ने ‘शिजोफ्रेनिया’ की स्थिति पैदा की है। जिसका अंत अवसाद और कुंठा की आजीवन वेदाना से होती है। ‘रतन’ की संख्या अपने आदर्श और बाजारवादी सपनों के कारण लगातार बढ़ती जा रही है। इस स्थिति के कारण ही आत्मनिर्वासन जैसी स्थिति पैदा होती है।

विस्थापन से उपजे रूपांतरण की इस प्रक्रिया में सांस्कृतिक परिवेश का विस्थापन होता जाता है। इसके जरिये मनुष्य से उसके सामाजिक संबंध का विस्थापन, भावनात्मक लगाव का विस्थापन होता जाता है। यह उपभोक्तावाद का वही उपक्रम है जिसमें मनुष्य के भावनात्मक संवेदनाओं को समाप्त कर बाजारवादी मूल्यों को स्थापित किया जा रहा है।

पूंजीवादी तंत्र यह जानता है कि जब तक व्यक्ति से इन भावनात्मक लगाव और यारों को समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक बाजारवाद की संस्कृति को जगह नहीं मिलेगी। इसीलिए वह अपने विभिन्न उपक्रमों द्वारा इस विस्थापन की कोशिश को अंजाम दे रहा है। इस आत्मनिर्वासन से उपजा यह असह्य अकेलापन इतना कचोटता है, इतना भयानक है कि ‘किसी को अपना हाल कह न सको’। सभी इस वैश्विक पटल पर

छाई उपभोक्तावादी संस्कृति के इस वैश्वीकृत संसार के समक्ष स्वयं को निहायत कमजोर असहाय और भोंथरा महसूस करते हैं। स्थापित मूल्यों ने विस्थापन को और भयावह बना दिया। व्यक्ति स्वयं से निर्वासित होकर पूर्ण प्रवास की ओर प्रेरित होता है। उसके अंदर ऐसा ध्वंस होता है जिससे सबकुछ तहस-नहस हो जाता है। अंदरूनी दुनिया का इलाका खंडहर में तब्दील हो जाता है। ऐसा खंडहर जिसकी बुनियाद पर कोई सृजन संभव नहीं हो सकता। यह इस समय की सबसे बड़ी त्रासदी है। बाजारवाद उस त्रासदी का जनक है। समकालीन हिन्दी उपन्यास इस सांस्कृतिक विस्थापन और उसकी त्रासदी को सूक्ष्मता से चित्रित कर सचेत और स्वस्थ दृष्टि से भौतिकवाद की टूलना में मानवीयता के प्रति भावनात्मक संवेदनशीलता को एक पूंजी के रूप में अभिव्यक्त करता है।

संदर्भ :

1. अखिलेश, (2016), निर्वासन, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं. 44,
2. सिंह, काशीनाथ, (2008), रेहन पर रगधू, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं. 85
3. सिंह, पुष्पपाल, (2015), 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.367
4. रणेंद्र, (2010), ग्लोबल गाँव के देवता, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, पृष्ठ सं.61
5. वर्मा, रवींद्र, (2007), दस बरस का भंवर, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.76
6. वही, पृष्ठ सं.77
7. सिंह, पुष्पपाल, (2015), 21वीं सदी का हिंदी उपन्यास, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.19 दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
8. सिंह, काशीनाथ, (2003), काशी का अस्सी, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.142
9. सरावगी, अलका, (2008) एक ब्रेक के बाद, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.11



सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में समकालीन हिंदी कविता

डॉ. शिराजोद्दीन

फ्लैट नं.301, हैप्पी होम्स प्लाजा अपार्टमेंट

पिलर नं.191, चिंतलमेट, हैदराबाद

संपर्क : 888029329

ईमेल : raajship@gmail.com

सामाजिक यथार्थ समाज की सच्चाई से जुड़ा होता है। जिसमें वर्तमान समाज की गतिविधियों, विसंगतियों, विद्रूपताओं और विषमताओं आदि का चित्रण किया जाता है। वर्तमान समय में भारतीय सामाजिक परिस्थितियों में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बदलते हुए समाज के परिदृश्य को समकालीन हिंदी कविता में चित्रित करने का बखूबी प्रयास किया गया है। दरअसल समकालीन हिंदी कविता सकारात्मक मानवीय मूल्यों को समग्रता में आत्मसात कर चलती है। समाज को तोड़ने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति तथा विकास की दिशा को रोकने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध यह कविता चुनौती देती है। समकालीन कविता की मूल शक्ति है- मानवीय संवेदना, करुणा, अहिंसा, मानवाधिकार और लोकतांत्रिक मूल्य और मुख्य सरोकार है- सामाजिक परिवर्तन। वह परिवर्तन जो जनता के हित में हो। आम आदमी की संवेदना और उसके जीवन से जुड़ी विभिन्न समस्याओं को समकालीन कविता के अंतर्गत जगह मिली है। इसी सिलसिले में समकालीन हिंदी कविता भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित जातिवाद को

उजागर करने में सक्षम है। दरअसल भारतीय समाज में जातिवाद प्राचीनकाल से चली आ रही एक भयंकर कुरीति है। जिसका मूलाधार वर्ण व्यवस्था है। वर्तमान समय में हमारे समाज का दुर्भाग्य यह है कि आज भी इस व्यवस्था की जंजीरों में जकड़ा हुआ है। जातिवाद के प्रभाव से आज प्रत्येक

समकालीन हिंदी कविताएँ भारतीय समाज का यथार्थ प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण हैं। जिसमें समकालीन हिंदी कवि दलित, किसान, मजदूर, आदिवासी, स्त्री एवं अल्पसंख्यक समाज की गतिविधियों, विसंगतियों, समस्याओं तथा चुनौतियों को उजागर करने की चेष्टा की है। साथ ही परम्परावादी मानसिकता का खंडन करते हुए वर्चस्ववादी विचार एवं व्यवस्था का भी पर्दाफाश किया है।

समाज की जाति में उपजातीय संगठनों का विकास हो रहा है। अपने समुदाय या जाति के लोगों के साथ आदर-सम्मान रखने एवं अन्य जातियों के सन्दर्भ में इससे भिन्न व्यवहार करना जाति या जातिवाद का मुख्य लक्षण है। इस सन्दर्भ में डॉ. दोड्डा शेषु बाबु का मत उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं- “भारतीय समाज व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है,

जहां हर एक जाति अपनी निचली जाति से भेदभाव दिखाना अपना अधिकार समझती है।”¹

वर्तमान समय में जातिवाद को समाप्त करने के लिए कई सारे आन्दोलन हो रहे हैं। जिनमें मुख्य रूप से वामपंथी और अम्बेडकरवादी आन्दोलन हैं। जिनका मुख्य लक्ष्य है- भारतीय समाज से जातिवाद को

¹ डॉ. दोड्डा शेषु बाबु, ‘हिंदी दलित आत्मकथाओं में चित्रित उत्पीड़न की समस्या: प्राथमिक शिक्षा के सन्दर्भ में’ शोध संचार बुलेटिन, अंक- जुलाई-सितम्बर-2020, पृ.225

मिटाकर समतावादी समाज की स्थापना करना। ऐसे आंदोलनों और प्रगतिशील विचारधारों के प्रभाव से दलित, वंचित व हाशिए के समाज में जागरूकता आ रही है। इसी जागरूकता के कारण ही दलित व वंचित समाज का व्यक्ति वर्ण व्यवस्था से विरोध करता हुआ दिखाई दे रहा है। वर्ण व्यवस्था के संरक्षक कहे जाने वाले ब्राह्मणवादियों ने अपने आपको सर्वश्रेष्ठ घोषित कर समाज के अन्य लोगों को निम्न या अछूत करार दिया है। साथ ही समाज को अपने स्वार्थ के लिए बांटने का कार्य भी किया है। जब कोई व्यक्ति इनसे तर्क संगत सवाल पूछता है तो इनके पास कोई जवाब नहीं होता बल्कि कुतर्क होते हैं, जिनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता। समकालीन हिंदी कविता में ऐसी व्यवस्था के प्रति तीखे स्वर स्पष्ट रूप से दिखाई देने के साथ-साथ तीखे सवाल भी दिखाई देते हैं। इस सन्दर्भ में प्रमुख दलित कवि ‘ओमप्रकाश वाल्मीकि’ अपनी कविता में कहते हैं-

“एक रोज मैंने भी / जुटायी हिम्मत
और पूछ लिया उससे / वही सवाल
देखा उसने मेरी ओर / बोला, मैं जन्मा हूँ ब्रह्मा के मुख
से
इसीलिए श्रेष्ठ हूँ / ताज्जुब है!
मनुष्य का जन्म तो होता है / सिर्फ माँ के गर्भ से
फिर आप कैसे पैदा हो गए / ब्रह्मा के मुख से?”²

समकालीन समय में दलित समाज पर दृष्टि डालें तो यह मालूम होता है कि लगातार इनके अधिकारों का हनन किया जा रहा है और इन्हें मौलिक अधिकारों से वंचित रखने का प्रयास भी किया जा रहा है। देश के कोने-कोने में घटने वाली अमानवीय घटनाएं इसका प्रमाण हैं। ‘हिंदी न्यूज क्लिक समाचार’ में छपी अमित

² ओमप्रकाश वाल्मीकि, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ.69

सिंह की रिपोर्ट बताती है कि- “गुजरात के बोताड़ जिले में बुधवार को दलित सरपंच के पति 51 वर्षीय मांजीभाई सोलंकी की पीट-पीटकर हत्या कर दी गई वह खुद भी ग्राम पंचायत के सदस्य थे और उप-सरपंच के रूप में कार्य करते थे।”³ ‘राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो’ (एनसीआरबी) द्वारा जारी किए गए आंकड़े देश में दलितों की स्थिति और उनकी मार्मिक दशा का यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करते हैं। रिपोर्ट के अनुसार- “2018 में दलितों पर अत्याचार के 42793 मामले दर्ज हुए। 2017 में यह आंकड़ा 43,203 का था, जबकि 2016 में दलितों पर अत्याचार के 40,801 मामले दर्ज किए गए।”⁴ आज भी देश के कई जगहों पर देखा जा सकता है कि शोषक वर्ग या वर्ण व्यवस्था द्वारा दलितों के अधिकार छीने जाने पर वे विवशता से अपना सर झुकाए सहमे हुए रहते हैं। दलित समाज के प्रति सदियों से चली आ रही ऐसी व्यवस्था ने दलितों को निर्जीव, जड़ पदार्थ की तरह इस्तेमाल किया है। इस सन्दर्भ में ‘ओमप्रकाश वाल्मीकि’ की कविता की निम्न पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं।

“वे बेहद खुश हैं / उस आदमी से
जो खड़ा है सिर झुकाए / उनकी भीड़ में
जिसे जब चाहें / करते हैं इस्तेमाल
निर्जीव, जड़ पदार्थ की तरह।”⁵

भारतीय समाज का यथार्थ यह है कि एक तरफ दलित समाज सदियों से जातिवाद, अस्पृश्यता और भेदभाव का दंश सह रहा है तथा अपनी अस्मिता,

³ <https://hindi.newslick.in/gaujaraata-maen-kaba-thamaegaa-dalaitaon-para-atayaacaara-kaa-yae-antahaina-sailasailaa>

⁴ National Crime Records Bureau Report- 2018

⁵ ओमप्रकाश वाल्मीकि, अब और नहीं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2009, पृ.47-48

आत्मसम्मान व अधिकारों के लिए लगातार संघर्ष कर रहा है। दूसरी तरफ अन्नदाता कहा जाने वाला किसान भी अनेक समस्याओं और संकट से जूझ रहा है। यहाँ तक कि ज़मींदारों, सामंतवादियों एवं पूंजीपतियों के क़र्ज़ में डूबा किसान आत्महत्या करने के लिए विवश है। इस सन्दर्भ में सरकारी आंकड़े चौकाने वाले हैं- “2015 में कृषि क्षेत्र में कुल 12,602 लोगों ने आत्महत्या की है, जिनमें 8,007 किसान और 4,595 कृषि मजदूर हैं। महाराष्ट्र में सबसे ज्यादा 4,291 किसानों ने जान दी है। उसके बाद कर्नाटक में 1,569, तेलंगाना में 1,400, मध्यप्रदेश में 1,290, छत्तीसगढ़ में 954, आंध्रप्रदेश में 916 और तमिलनाडु में 606 किसानों ने आत्महत्या की है। किसानों की आत्महत्याओं से जुड़े 87.5 फीसदी मामले इन्हीं सात राज्यों में सामने आए हैं।”⁶ समकालीन हिंदी कविताओं में भारतीय किसानों की दयनीय स्थिति का अत्यंत मार्मिक, सजीव एवं यथार्थवादी चित्रण हुआ है। समकालीन कवि किसान की पीड़ा, दुःख-दर्द, जीवन संघर्ष और सरकार की नीतियों से परिचित है। इसीलिए इनकी कविताएँ विचार-विमर्श करने के लिए मंच प्रदान करती हैं। समकालीन कवि ‘राजेश जोशी’ की कविता भारतीय किसान जीवन की त्रासदी और विवशतापूर्ण आत्महत्या को उजागर करती है। कवि कहता है-

‘देश के बारे में लिखे गए / हजारों निबन्धों में लिखा गया

पहला अमर वाक्य एक बार फिर लिखता हूँ
भारत एक कृषि प्रधान देश है / दुबारा उसे पढ़ने को जैसे
ही आँखें झुकाता हूँ
तो लिखा हुआ पाता हूँ / कि पिछले कुछ बरसों में
डेढ़ लाख से अधिक किसानों ने / आत्महत्या की है
इस देश में”⁷

⁶ आउटलुक, अंक- 3 जुलाई 2017, पृ.23

⁷ राजेश जोशी, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण

भारतीय समाज में किसान वर्ग के साथ-साथ मजदूर वर्ग भी पीड़ित है। वह अपने अधिकारों के लिए लगातार संघर्ष जारी रखा हुआ है। जब भी मजदूर वर्ग अपने अधिकारों की मांग किया है या शोषण-अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ बुलंद करने का प्रयास किया है, तब पूंजीवादी व्यवस्था ने उसका दमन किया है। वर्तमान समय में ऐसी घटनाएँ मिलों, कारखानों, खदानों आदि में होना सामान्य बात हैं। दिन-रात कड़ी मेहनत करने पर इन मजदूरों को औसतन मजदूरी भी दी नहीं जाती। इस सन्दर्भ में ‘राष्ट्रीय सर्वेक्षण कार्यालय’ द्वारा किए गए सर्वेक्षण के आंकड़े उल्लेखनीय हैं- “ग्रामीण क्षेत्रों में जहां पुरुष श्रमिकों की औसत दैनिक मजदूरी 175.30 रुपए थी, वहीं महिलाओं की औसत दैनिक मजदूरी सिर्फ 108.14 रुपए थी। इसी तरह शहरी क्षेत्रों में पुरुष श्रमिकों की औसत दैनिक मजदूरी 276.04 रुपए और महिलाओं की 212.86 रुपए थी। ग्रामीण क्षेत्रों में अस्थायी पुरुष श्रमिकों की दैनिक मजदूरी (मनरेगा को छोड़ कर) 76.02 रुपए थी।”⁸ समकालीन हिंदी कविता में मजदूर जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं पर चर्चा की गई है। वर्तमान समय में मजदूर वर्ग की दशा एवं दिशा पर प्रकाश डाला जाए तो इनकी सामाजिक स्थिति चिंताजनक है। इनकी गंभीर स्थिति के लिए पूंजीवादी व्यवस्था तथा सरकार की नीतियाँ जिम्मेदार हैं। इसीलिए समकालीन कवि ‘अरुण कमल’ ऐसी व्यवस्था से चिंतित है। दरअसल इनके सामने पूंजीवाद का वह भयावह चेहरा है, जिसके कारण मजदूर श्रम करते-करते और अन्याय के विरोध में आवाज़ उठाने पर मारा जाता है। कवि कहता है-

2012, पृ.132

⁸ <https://www.jansatta.com/sunday-column/sunday-special-column-women-workers-hands/1129235/>

“वे मजदूर मारे गए / वे बच्चे मारे गए
बोकारो पथडूडा बड़हिया विश्रामपुर
कोई कहीं, कोई कहीं / वे मारे गए”⁹

बात की जाए भारतीय आदिवासी समाज की तो मुख्य रूप से इनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति चिंताजनक है। साथ ही यह समाज कानूनी तौर पर भी वंचित हैं। भारतीय संविधान में ‘पांचवी अनुसूची’ के अनुच्छेद 244 (1) अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण के अधिकार का कानून है। लेकिन यह कानून सही रूप में लागू नहीं हुआ। इस सन्दर्भ में आदिवासी लेखक डॉ. गंगा सहाय मीणा का कहना है- “आजाद भारत में हुआ ये कि एक तो आदिवासियों के पक्ष में ठीक से कानून नहीं बने, और जो बने, उन्हें ठीक से लागू नहीं किया गया। मसलन 5वीं अनुसूची और 6ठी अनुसूची, ‘जनजातीय सलाहकार परिषद’ आदि बातें कागजों तक रह गईं। जंगलों पर आदिवासियों के परंपरागत अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए यूपीए सरकार ने वन अधिकार अधिनियम बनाया। चूंकि जिस याचिका पर सुनवाई करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने लाखों आदिवासियों की बेदखली का आदेश दिया, उसका लक्ष्य वन अधिकार अधिनियम को चुनौती देना है।”¹⁰ फिलहाल उच्चतम न्यायालय ने अपने उस आदेश पर रोक लगा दी है। जिसमें उसने देश के करीब “21 राज्यों के 11.8 लाख से अधिक आदिवासियों और जंगल में रहने वाले अन्य लोगों को जंगल की जमीन से बेदखल करने का आदेश दिया था।”¹¹ समकालीन हिंदी कविता

⁹ अरुण कमल, अपनी केवल धार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ.28

¹⁰ <https://hindi.theprint.in/opinion/nation-will-be-weakened-by-sacking-the-rights-of-tribals/47788/>

¹¹ <http://thewirehindi.com/73261/supreme-court-tribals-forced-eviction-modi-government/>

आदिवासी समाज के यथार्थ को चित्रित करने में महत्वपूर्ण साबित हुई है। इसमें समकालीन कवियों द्वारा आदिवासी समाज की समस्याओं, अस्तित्व, अस्मिता, अधिकारों, सामाजिक सरोकार तथा जल-जंगल-जमीन के संघर्ष के बारे में गहन चिंतन-मनन किया गया है। इस कविता के मूल स्वर में आदिवासी कवयित्री ‘निर्मला पुतुल’ का भोगा हुआ यथार्थ है। इन्होंने व्यवस्था से जल, जंगल और जमीन के सवाल को मुखरता से उठाया है। साथ ही अपने इलाके की भयंकर समस्याओं को भी रेखांकित किया है। जैसे- सूखे, अकाल, भूख, बिमारी आदि समस्याएं प्रमुख हैं। इस सन्दर्भ में कविता की ये पंक्तियाँ सोचने पर मजबूर करती हैं-

“मैं अपने इलाके के सूखे और / अकाल की चर्चा करना
चाहती हूँ आपसे
भूख बिमारी से लड़ते-मरते मंगरू, बुधवा और
इलाज के लिए राशन कार्ड गिरवी रखने वाले समरू
पहाड़िया की
बात करना चाहती हूँ / जड़ खाकर जिंदा संतालों
और चूहे पकाकर खा रहे भूखे-नंगे-पहाड़ियों की / बात
करना चाहती हूँ”¹²

विकास का मतलब केवल जीडीपी (GDP) या जनता की आय में बढ़ोतरी होना नहीं है, बल्कि समाज के सारे वर्गों में शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, संवैधानिक मूल्यों, लोकतंत्र आदि जैसे मुद्दों में कितने आगे बढ़े हैं, यह भी महत्वपूर्ण है। सामाजिक यथार्थ के सन्दर्भ में दलित, किसान, मजदूर, आदिवासी जीवन विसंगतियों पर चर्चा करने के साथ-साथ स्त्री जीवन पर भी विचार-विमर्श करना आवश्यक है। सदियों से लेकर वर्तमान समय तक भारतीय प्रत्येक समाज में स्त्री के

¹² सं.राजेन्द्र यादव, हंस, अंक-मई-2005, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.30

अस्तित्व को दोगुना दर्जे का स्थान प्राप्त है। इसीलिए स्त्री जीवन की त्रासदी यह है कि मुख्यधारा के समाज में अपनी आजादी, अस्मिता, आत्मसम्मान, तथा अधिकारों के लिए संघर्ष करती नज़र आती है। वर्तमान समय में स्त्री जीवन अनेक समस्याओं तथा चुनौतियों से गुज़र रहा है। इस सन्दर्भ में ममता कालिया के विचार प्रासंगिक हैं। वे अपनी पुस्तक ‘भविष्य का स्त्री विमर्श’ में लिखती हैं- “आज का समय स्त्री के लिए कई नयी चुनौतियां लेकर आया है। ऐसा लगता है वर्तमान समय प्रागैतिहासिक काल से भी ज्यादा पिछड़ा हुआ तथा स्त्री के प्रति आक्रामक है। आधुनिक तालिबान हमारे आचरण, विचरण, वस्त्र विन्यास और प्रसाधन के नियम गढ़ रहे हैं। इन्हें हमारी आजादी से भय लग रहा है। उन्हें हमारे अस्तित्व, व्यक्तित्व और विकास पर संदेह है।”¹³ दरअसल स्त्री को देवी मानने वाला भारतीय समाज, स्त्री के तमाम अधिकारों को न केवल छीना है बल्कि उस पर अनेक पाबंदियां लगाकर अपने अधीन रखने का प्रयास किया है। इससे समाज की दोहरी नीति और पितृसत्तात्मक मानसिकता स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। समकालीन कवयित्री अमानिका की ‘मेरे दुश्मन’ कविता इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने में सक्षम है। स्त्री को सामाजिक परिवेश के साथ-साथ अपने परिवार के भीतर भी संघर्ष करना पड़ता है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था और परम्परावादी सोच के प्रति अनामिका का आक्रोश जायज़ है। इसीलिए वह अपने घर को दुश्मन के नाम से संबोधित करती हुई नज़र आती है। जिसमें अपने अस्तित्व और आत्मसम्मान का संघर्ष है। वे लिखती हैं-

“घर मेरा सबसे कमज़ोर दुश्मन है! / मैं भीगी बरसाती की तरह

अपना वजूद टांग देती हूँ / घर में घुसने के पहले / बाहर वाली खूँटी पर!

और वे मेरे चौकीदार, मेरे दुश्मन, / मुस्कराते हैं मूँछों में!”¹⁴

समकालीन हिंदी कविता की मुख्य विशेषता रही है कि समाज के सभी वर्गों के आंतरिक एवं बाह्य रूपों को प्रस्तुत करती है। इसी क्रम में अल्पसंख्यक समुदाय की गतिविधियों, समस्याओं तथा पहचान पर मंडरा रहे संकट को समकालीन हिंदी कविता में जिक्र हुआ है। ‘अल्पसंख्यक’ को समझने के लिए दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर चर्चा करना आवश्यक है। एक है- भाषाई आधार और दूसरा-धार्मिक आधार। दरअसल यहां भाषाई अल्पसंख्यकों के विकास के लिए संविधान द्वारा विशेष अधिकारी नियुक्त किये जाने का प्रावधान है। भारतीय संविधान द्वारा 1957 में विशेष अधिकारी हेतु कार्यालय की स्थापना की गई जिसे आयुक्त नाम दिया गया। इसमें आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है। आयुक्त का कार्य एवं उद्देश्य भाषाई अल्पसंख्यकों की सुरक्षा, विकास संबंधी कार्यों का अनुसंधान और इन कार्यों का राष्ट्रपति को प्रतिवेदन करना है। उसका लक्ष्य भाषायी अल्पसंख्यकों को समाज के साथ समान अवसर प्रदान कर राष्ट्र की गतिशीलता में उनकी सहभागिता दर्ज करना है। वहीं किसी देश, प्रांत या क्षेत्र की जनसंख्या में जिस धर्म के मानने वालों की संख्या कम होती है, उस धर्म को अल्पसंख्यक धर्म तथा उसके मानने वालों को धार्मिक अल्पसंख्यक कहा जाता है। मुख्य रूप से इस समाज में मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध और जैन आते हैं। 2011 जनगणना के अनुसार भारत में हिन्दुओं की जनसंख्या कुल 79.8% है। अर्थात् भारत का सबसे बड़ा बहु

¹³ ममता कालिया, भविष्य का स्त्री विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2015, पृ.10

¹⁴ सं.राजेन्द्र यादव, हंस, अंक-जुलाई-2008, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.50

संख्यक समाज। अल्पसंख्यक समाज के हितों और सामाजिक स्तर सुधारने हेतु 29 जनवरी सन 2006 में ‘अल्पसंख्यक मंत्रालय का गठन किया। “अल्पसंख्यक समुदायों अर्थात् मुस्लिम, ईसाई, बौद्ध, सिक्ख, पारसियों तथा जैनों से संबंधित मामलों पर बल देने के लिए किया गया। मंत्रालय का अधिदेश अल्पसंख्यक समुदायों के लाभ के लिए समग्र नीति तैयार करना और योजना, समन्वयन, मूल्यांकन, विनियामक ढांचे एवं विकास संबंधी कार्यक्रम समीक्षा करना है।”¹⁵ वर्तमान समय में अल्पसंख्यक समाज अनेक चुनौतियों एवं समस्याओं से जूझ रहा है। जिनमें मुख्य रूप से- आर्थिक पिछड़ापन, असुरक्षा की भावना, आधुनिकीकरण एवं शिक्षा का अभाव, मोब लिंचिंग, अस्मिता का संकट, साम्प्रदायिक दंगे, आदि हैं। 11 सितम्बर 2001 के बाद अल्पसंख्यक समाज का एक बड़ा तबका ‘मुस्लिम’ राष्ट्रीय स्तर से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक शक के दायरे में आया है। इस समाज का व्यक्ति अपनी अस्मिता, पहचान व आत्मसम्मान को लेकर बड़ा चिंतित है। दरअसल समाज की निगाह में एक आरोपी की छवि को लेकर जीवन बिताने के लिए विवश है। इसकी पीड़ा और अस्मिता के संकट को समकालीन हिंदी कविता में चर्चा की गई है। समकालीन कवयित्री ‘अनामिका’ की कविता ‘दंगे और कर्मकांड’ इसका प्रमाण है। एक आम मुसलमान की पीड़ा को व्यक्त करती हुई कविता की ये पंक्तियाँ मार्मिक हैं।

“मैं इन दिनों काफी परेशान हूँ-
शक करते हैं मुझ पर मेरे ही हाथ
जब ये दुआ में उठते हैं!
ठन्न ठमक जाता है माथा

जब बंदगी में ये झुकता है।”¹⁶

अतः समकालीन हिंदी कविताएँ भारतीय समाज का यथार्थ प्रस्तुत करने में महत्वपूर्ण हैं। जिसमें समकालीन हिंदी कवि दलित, किसान, मजदूर, आदिवासी, स्त्री एवं अल्पसंख्यक समाज की गतिविधियों, विसंगतियों, समस्याओं तथा चुनौतियों को उजागर करने की चेष्टा की है। साथ ही परम्परावादी मानसिकता का खंडन करते हुए वर्चस्ववादी विचार एवं व्यवस्था का भी पर्दाफाश किया है। कवि की संवेदनाएँ, विद्रोही स्वर तथा सामाजिक सरोकार इन कविताओं में दिखाई देते हैं। ये कविताएँ ज़मीन से जुड़ी होने तथा यथार्थ को चित्रित करने के साथ-साथ जनांदोलनों, साम्प्रदायिक सद्भाव, लोकतांत्रिक आदि मूल्यों से भी परिचित कराती हैं।



¹⁵ <http://www.minorityaffairs.gov.in/hi/हमारे-बारे-में/मंत्रालय-के-बारे-में>

¹⁶ अनामिका, खुरदरी हथेलियाँ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2005, पृ. 123

छायावादी कवियों की काव्यदृष्टि

नवीन कुमार

शोधार्थी पी एच. डी. हिंदी

मोबाइल नंबर : 8368817204

ई मेल: knaveen541@gmail.com

अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय

हैदराबाद, तेलंगाना-500007

भक्ति आंदोलन के बाद छायावाद हिंदी साहित्य का सबसे सशक्त और महत्वपूर्ण काव्यांदोलन है। इस आंदोलन का न केवल ऐतिहासिक महत्व है बल्कि शाश्वत मूल्य भी है। यह आंदोलन लगभग दो दशक तक काव्य साहित्य का केंद्र बिंदु रहा। एक तरफ इस आंदोलन ने अपनी पूर्व परंपरा से स्वस्थ जीवन मूल्यों को ग्रहण किया तो दूसरी तरफ परंपरागत रूढ़ियों का अतिक्रमण कर एक नवीन मार्ग निर्मित करने का भी प्रयास किया। भक्तिकाल के बाद छायावाद का काल सबसे विवादित काल भी रहा है। आधुनिक हिंदी काव्य में छायावाद शिखर काव्य है। जिस प्रकार हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल भक्तिकाल है उसी प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल छायावाद है।

छायावादी काव्य में कल्पना-प्रवणता, नवीन सादृश्य-विधान, वस्तुओं पर पड़नेवाला नवीन प्रभाव और अपरिचय का भाव यह सब मिलता है। यह समूची काव्य साधना स्वाधीनता संग्राम के युग की है। अतएव स्वाधीनता संग्राम के केंद्रीय भाव से जुड़कर ही यह सारी काव्य साधना फलीभूत होती है। यह स्वाधीनता ही छायावाद के सौन्दर्यबोध का केंद्र बिंदु है। नामवर सिंह के अनुसार- “छायावाद के काव्य-सौन्दर्य के विवेचन से स्पष्ट है कि यह सारा सौन्दर्य व्यक्ति की स्वाधीनता की भावना से उत्पन्न हुआ है और वह स्वाधीनता भी व्यक्ति के माध्यम से सम्पूर्ण समाज की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति है।”¹ इसलिए छायावाद अपनी सारी कल्पना-प्रवणता, और रहस्य भावना के साथ भक्ति, जागरण और लोकमंगल का काव्य है जिसमें व्यक्तिगत

पीड़ा, दुःख, अवसाद भी समाविष्ट है। इसके लिए छायावाद ने कविता का रूप बदला, शब्द-योजना, छंद, लय आदि में नया प्रयोग किया। छायावादी काव्य में सामाजिकता और वैयक्तिकता दोनों का स्वर था।

आचार्य शुक्ल छायावाद को खारिज करते हैं। इसका संबंध वे रवींद्रनाथ ठाकुर की कविताओं के प्रभाव से आया हुआ मानकर वे इसका संबंध फेंटेस्माटा से जोड़ते थे। उन्होंने छायावाद को चित्रशैली भी कहा है। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- “यह स्वछंद नूतन पद्यति अपना रास्ता निकाल ही रही थी की श्री रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ रहस्य और ‘प्रतीकवाद’ या ‘चित्रभाषावाद’ को ही एकांत ध्येय बनाकर चल पड़े। ‘चित्रभाषा’ या अभिव्यंजना पद्यति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया इस बंधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने छायावाद का नाम ग्रहण किया।”²

पंडित नंददुलारे वाजपेयी ने इसका संबंध युग-बोध से जोड़ते हुए इसे मानव तथा प्रकृति के शूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान कहा।

डॉ. नगेन्द्र ने छायावाद को ‘स्थूल के प्रति शूक्ष्म का विद्रोह’ कहा है।

डॉ. नामवर सिंह ने इसकी सर्वश्रेष्ठ परिभाषा दी कि छायावाद वस्तुतः कई काव्य प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है और वह उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति पाना चाहता है और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।

¹ सिंह, नामवर. छायावाद. पृ. 6

² शुक्ल, रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. पृ. 455

मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा के अनुसार- ‘छायावाद साम्राज्यवाद और सामंतवाद के विरुद्ध एक स्वाधीनता आंदोलन है’।

छायावादी कवियों की काव्य दृष्टि-

छायावादी कवियों का सौन्दर्यबोध बहुत ही व्यापक और विस्तृत था। छायावाद का केन्द्रीय काव्य सौन्दर्य था ‘स्वाधीनता की कामना’। छायावाद का मूल व केन्द्रीय स्वर स्वाधीनता का है। यह एक तरफ पुरानी रुढ़ियों से मुक्ति पाना चाहता है तो दूसरी तरफ विदेशी पराधीनता से। पराधीनता का प्रश्न स्वाधीनता की कामना से जुड़ा हुआ है। यह एक तरफ राजनीतिक स्तर पर साम्राज्यवाद से और दूसरी तरफ सामाजिक स्तर पर सामंतवाद से स्वाधीनता चाहता है।

छायावादी कविता आदि से अंत तक स्वाधीनता की कामना करती है। स्वतंत्रता की आकांक्षा ही छायावाद की आकांक्षा है। डॉ कृष्णदत्त पालीवाल के अनुसार- “छायावाद की साम्राज्यवाद-सामंतवाद-उपनिवेशवाद विरोधी प्रवृत्तियों ने स्वाधीनता-आंदोलन की चेतना को अपनी हर साँस से मुखरित किया। प्रेम और सौन्दर्य का लोक देश-प्रेम में रंग लाया और सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक आंदोलनों ने देश के प्राणों में नवीन उमंग-उत्साह की शक्ति का संचार किया। एक आलोचक ने छायावाद को शक्ति काव्य की संज्ञा दी है। छायावाद को शक्ति काव्य का पर्याय कहना युग की पूरी मनोभूमिका को भीतर से समझ लेना है बाहर से समझ लेना है। काव्य आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति हो या मानव-हृदय की मुक्तावस्था हो वह हमारी सम्पूर्ण चेतना की सृजनात्मक शक्ति का मंगलमय विस्फोट है।”³ इनकी प्रार्थनात्मक कविताओं में भी स्वतंत्रता की पुकार है। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यह कविता आरंभ से लेकर अंत तक स्वतंत्रता की कामना करती है। यही उनका मूल स्वर भी है।

“वरदे वीणावादिनी वर दे
प्रिय स्वंत्रत-रव-अमृत मंत्र-नव

भारत में भर दे!” (निराला)

जयशंकर प्रसाद के अनुसार-

“हिमाद्रि तुंग-श्रृंग पर प्रबुद्ध शुद्धभारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतंत्रता पुकारती।” (प्रसाद)

अतः उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से यह कहा जा सकता है कि छायावादी कविता स्वतंत्रता की पुकार की कविता है। यह कविता स्वतंत्रता की कामना निरंतर करती रहती है।

छायावाद व्यक्ति की प्रतिष्ठा की कविता है। इसका महत्व इसलिए भी है कि जहाँ कविता निरंतर समाज आधारित रही थी वहाँ पहली बार व्यक्ति कविता का विषय बना। इस कविता में समाज केंद्र में न होकर व्यक्ति केंद्र में था।

इसलिए निराला कहते हैं कि- “मैंने मैं शैली अपनाई” (निराला)

‘मैं नीर भरी दुःख की बदली’ (महादेवी वर्मा)

छायावाद की कविता ‘मैं’ की अनुभूति की कविता है। निराला का पूरा साहित्य ही ‘मैं’ संपदित है। यह कविता मनुष्य की आंतरिकता की कविता है। स्वतंत्रता की पहली अभिव्यक्ति व्यक्ति की मानसिक और सामाजिक स्वतंत्रता में होती है। यह व्यक्तिबद्ध कविता नहीं है बल्कि व्यक्ति की प्रधानता की कविता है।

“छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ रहा है, उसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है।” (पंत)

क्योंकि बोध की दृष्टि से छायावादी कवि का व्यक्ति नए मूल्य का प्रतीक नए मूल्य का अंश था।

छायावादी कविता में व्यापक स्तर पर ‘मैं’ शैली का प्रयोग हुआ है यह केवल शैली नहीं बल्कि व्यक्तित्व के प्रतिफलन का आग्रह है इसलिए छायावादी कविता में वैयक्तिकता के आग्रह के साथ ही छायावादी कविता में व्यक्ति के आत्म प्रसार की आकांक्षा भी अभिव्यक्त हुई है। छायावादी कवि निजी ढंग से बातें करता है पाठक का आत्मीय बनकर। डॉ नगेन्द्र के अनुसार- “छायावादी कविता अपनी आरंभिक अवस्था में व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूतिप्राण और सौन्दर्यमयी रही है,

³ त्रिखा, चंद्र. आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ. पृ. 72

किन्तु बाद में जब कवियों की दृष्टि जीवन के अन्य प्रसंगों की और गई तो कवि व्यक्तिनिष्ठ परिधि से निकल आये, लेकिन अनुभूति और सौन्दर्य की कल्पनामयी अभिव्यक्ति के कारण जीवन के बाह्य प्रसंगों को चित्रित करने वाली रचनाएं भी एक अपूर्व दीप्ति और शक्ति से अलंकृत हो गई।”⁴

पंत निसंकोच भाव से कहते हैं कि-

“बालिका मेरी मनोरम मित्र थी”

छायावादी कवि अपनी व्यक्तिगत और निजी अनुभूतियों को अपनी अनुभूति कह कर प्रस्तुत करता है, उनके काव्य में वैयक्तिकता का स्वर होता है।

व्यक्ति के मन में कविता की अभिव्यक्ति होती है। छायावाद की सम्पूर्ण कविता काल्पनिक कविता है। कविता में नवीनता कल्पना के माध्यम से आती है। वैयक्तिकता का दूसरा पक्ष कल्पना है। छायावादियों ने कविता की रचना प्रक्रिया में कल्पना को स्थापित किया। छायावादियों ने किसी वस्तु को जानने के लिए कल्पना का सहारा लिया। छायावादी कवियों की कल्पना मानसिक स्वतंत्रता का अंश है। छायावादी कवियों में वास्तविकता के खिलाफ आकांक्षा की दुनिया है। छायावादी कवियों ने एक नए तरह की दुनिया के लिए कल्पना का सहारा लिया। छायावादी कल्पना को कविता का विशेष अंग मानते थे।

निराला ने कविता को कल्पना के कानन की रानी कहा है।

‘कल्पना मनुष्य के जीवन का प्राणतत्व है’ (प्रसाद)

‘कोई भी महत्वपूर्ण और रचनात्मक अनुभूति

अनिवार्यतः काल्पनिक होगी’। (पंत)

छायावादियों ने सबसे बड़ा काम यह किया कि कविता के मानस पटल पर कल्पना को स्थापित किया। कविता की रचना-प्रक्रिया में कल्पना की भूमिका को प्रतिष्ठित किया। रामदरश मिश्र के अनुसार- “छायावादी कल्पना ने आधुनिक संवेदना और ताप से स्पंदित लोगों का निर्माण भी किया। छायावादी कवि बिना किसी पथ-प्रदर्शक के अकेले यात्रा पर निकला था। उसकी स्वच्छंद कल्पना उसके साथ थी। जहां कहीं भी अच्छी

विस्मयकारी चीज उसे दिखलाई पड़ी, उधर लपक पड़ा, उसे जानने को उसका सौन्दर्य परखने को उत्सुक हो उठा उसने किसी दूसरे मनुष्य के विचारों पर विश्वास करना या तर्क पर कल्पना को निछावर करना अस्वीकार कर दिया।”⁵

छायावादियों का सबसे बड़ा सौन्दर्य अनुभूति की प्रतिष्ठा है। छायावादी कविता विषयी प्रधान होने के कारण अनुभूति परक भी है। छायावाद की कविता अनुभूति को महत्व देती है। प्रसाद कहते हैं कि- “कविता आत्मा की संकल्पनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।” छायावाद की कविता में स्वानुभूति पर बल है। स्वानुभूति के माध्यम से वे अभिव्यक्ति पर बहुत बल देते हैं। महादेवी वर्मा कविता में अनुभूति के महत्व को रेखांकित करती हैं और वह कहती हैं कि- “व्यक्तिगत सीमा में तीव्र दुःख-सुखात्मक अभिव्यक्ति ही कविता है।” (महादेवी वर्मा)

छायावाद की कविता अंततः अनुभूति पर बल देती है इसलिए इसकी प्रतिनिधि पंक्तियाँ निम्न हैं।

“वियोगी होगा पहला कवि

आह से उपजा होगा गान

उमड़कर आँखों से चुपचाप

बही होगी कविता अनजान” (पंत)

यह कहा जा सकता है कि हिंदी कविता को छायावाद की यह महत्वपूर्ण देन है कि उसने कविता में कोरे वस्तु वर्णन के स्थान पर अनुभूति के महत्व को प्रतिष्ठित किया। डॉ. अमरनाथ के अनुसार- “छायावादी काव्य का प्रथम लक्षण यह है कि यह आत्माभिव्यंजन का काव्य है। आत्माभिव्यंजना में कवि की कल्पना के साथ उसकी अनुभूतियों और चिंतन की सर्वाधिक अभिव्यक्ति होती है। ब्राहार्थ-निरूपण और वस्तु-वर्णन का उसमें अभाव होता है।”⁶ अतः छायावादी कविता शुरू से अंत तक अनुभूति पर बल देती है।

छायावाद कविता की निजी अनुभूतियों के कारण विषयीनिष्ठता की कविता है। वैयक्तिकता के कारण छायावादी काव्य में विषय के स्थान पर विषयी

⁵ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 69

⁶ डॉ. अमरनाथ. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. पृ. 152

⁴ डॉ. नगेंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. पृ. 529

की प्रधानता हुई इसलिए इस कविता को डॉ नगेन्द्र ने- “स्थूल के प्रति सुक्ष्म का विद्रोह कहा है।” इस कविता में वस्तुनिष्ठता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता तथा विषयनिष्ठता के स्थान पर विषयीनिष्ठता का आग्रह था। विषयीनिष्ठता की व्याख्या करते हुए अज्ञेय ने कहा है कि- ‘छायावादी कवि की व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई है किन्तु उनमें सामान्य बात यह है की उनमें विषयी की प्रधानता थी। सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। यह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिंतन की, चाहे अनुभूति की और स्वयं अध्यात्मिक व्याकुलता की हो।’ छायावादियों की विषयीनिष्ठता का प्रतिफलन प्रकृति चित्रण में स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

अज्ञेय के अनुसार- ‘विषयी प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है।’

छायावादी कवियों का सौन्दर्य वस्तु में नहीं बल्कि व्यक्ति में है तथा विषय के स्थान पर विषयी में है इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं कि- “छायावाद का सौन्दर्यबोध रीतिकाल का असंयत भोगवाद न होकर अंतस के संयम और पवित्रता से ज्योतित है। छायावाद में विज्ञान युग में प्रकृति और जीवन के क्षेत्र में उभरने वाले नवीन प्रयोगों, नवीन जीवन-संबंधों, नवीन मानव मूल्यों को तथा व्यक्ति स्वाधीनता की चेतना के आलोक में अपनी सौन्दर्य-दृष्टि की रचना की।”⁷

छायावादियों के विषय में शुक्ल जी कहते हैं कि- ‘छायावादी कवियों की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेम गीतात्मक है।’ छायावादी कवियों का प्रेम हृदय के स्तर पर है वह रूप के स्तर पर नहीं। इनका प्रेम शुद्ध व अशरीरी है और इसमें रीतिकालीन भोगवादीदृष्टि के स्थान पर मानसिक रागात्मकता की प्रतिष्ठा की गयी है। छायावादियों के प्रेम में पावनता का भाव है। उन्होंने आदर्शवाद का आश्रय लेकर प्रेम का अध्ययन किया। इसी प्रेम के आदर्श के कारण छायावादियों ने स्त्री के मानवीय रूप को छीनकर उसे देवी बना दिया है। बच्चन सिंह कहते हैं कि- “वही सात्विक प्रेम नारी के प्रति प्रेम

भावना का भी निर्माण करता है। स्वाभाविक था की छायावादी कवि नारी को अछूते सौन्दर्य और निष्कलुष प्रतिमा के रूप में चित्रित करते हैं। उसे उन्होंने केवल श्रद्धा, वासना की मुक्ति-मुक्तत्याग में त्यागी, अकेली सुंदरता आदि कहा। यह सही है कि इस चित्रण में नारी को अतीन्द्रिय धरातल पर रखने के कारण उसे मानवी रूप में नहीं देखा गया। यह भी सही है कि किन्हीं अर्थों में यह प्रेम चित्रण कुंठाग्रस्त हो गया। लेकिन छायावादी कवियों ने मुक्त प्रेम का समर्थन कर नारी के अधिकारों को पहली बार स्वीकृति दी। इस तरह इस प्रेम-चित्रण को भी उच्चतम नैतिक मूल्यों से जोड़ दिया गया।”⁸ प्रेम को उसके मध्ययुगीन अनुबंधों से मुक्त करना छायावाद की स्वातंत्र्य भावना का ही अंग है। छायावाद में प्रेम के प्रति सजलता का समर्पण का भाव है। उसमें कोई भी स्वार्थ का भाव नहीं है।

‘पागल रे वह मिलता है कब

उसको तो देते ही हैं सब’ (प्रसाद)

छायावादियों ने प्रेम को एक उदात्त रूप दिया और स्वतंत्र रूप से काव्य का विषय बना दिया और इस प्रकार छायावाद में प्रेम एक व्यापक जीवन दृष्टि के रूप में प्रकट हुआ इसलिए प्रसाद कहते हैं कि- ‘प्रेम एक प्रकार का आत्मदान है।’ छायावादी कवियों की दृष्टि सौन्दर्यवादी थी। सौन्दर्य की कविता उनकी प्रमुख देन है। छायावादियों ने सौन्दर्य स्त्री के रूप में ही देखा और प्रकृति सौन्दर्य और मानव सौन्दर्य की भी बात की। पंत के शब्दों में-

‘सुंदर है विहगसुमन सुंदर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम’
छायावाद का सौन्दर्य गोपनता में है वह दिखाई नहीं देता। प्रसाद सौन्दर्य मौन में मानते हैं। वे सौन्दर्य को लाज भरा मानते हैं।

‘तुम कनक किरण के अंतराल में लुक छिपकर चलते हो
क्यों

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन रहते हो क्यों।’
दूसरी ओर छायावाद का सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है यह सौन्दर्य कायिक नहीं है।

“उज्ज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते

⁷ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 39

⁸ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 143

है।” (प्रसाद)

रामदरश मिश्र के शब्दों में- “छायावाद और रोमेंटिक प्रवृत्ति के सभी आधुनिक लेखकों ने भोगवाद से आगे बढ़कर सौन्दर्य का संबंध आंतरिक पवित्रता, संयम और मांगलिक चेतना से माना है। यह मांगलिक चेतना जीवन को सामाजिक संदर्भ में देखने से ही उत्पन्न हो सकती है। प्रजातांत्रिक भावना ही इस अंतर पक्ष पर जोर दे सकती थी। अतः काम सौन्दर्य और प्रेम इन सभी शब्दों को नया अर्थ व नया आयाम दिया गया।”⁹ इस प्रकार छायावादी कवियों ने सौन्दर्य को उदात्तता, भव्यता, दिव्यता आदि गुणों से मंडित करके उसे काव्य में एक नए मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

छायावादी कवियों का प्रमुख सौन्दर्य वेदना का सौन्दर्य है। पंत के अनुसार- “बहुत सारी वेदना की अनुभूति उस युग के भाव-प्रवण मन में इसलिए भी थी कि वह इन श्रृंखला की कड़ियों के प्रति जागृत था जो समस्त देश तथा समाज की वेदना को अपनी दुनिर्वार, निर्मम, नृशंस लोह बंधनों से जकड़े हुए थी और जिन्हें तोड़ने के लिए प्रबुद्ध सामूहिक कर्म, तथा सामाजिक संघर्ष आवश्यक तथा अनिवार्य था। वेदना को छायावादी कवियों ने पीड़ा के अतिरिक्त अनुभूति, संवेदना तथा बोध के अर्थ में भी प्रयुक्त किया है। वेदना का स्वर ही छायावादियों का स्वर बनकर उभरा है।

“जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई
दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने
आई।” (प्रसाद)

“दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही” (निराला)
“वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास”
(महादेवी वर्मा)

छायावाद में सभी कवि देश की दशा से पीड़ा में थे और उनकी निजी अनुभूति भी पीड़ात्मक थी इसीलिए वेदना का स्वर भी था। इसीलिए इस पर आरोप लगाया जाता रहा कि छायावादी काव्य पलायन का काव्य है।

“ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे”

(प्रसाद)

प्रसाद की इन्हीं पंक्तियों के आधार पर छायावाद पर लगातार आरोप प्रत्यारोप लगते रहे। परन्तु इन्हीं कारणों से छायावाद में वेदना गहरे स्तर तक है। डॉ. अमरनाथ के अनुसार- “छायावादी कवियों पर बहुत दिनों तक यह आरोप लगाया जाता रहा है कि जिस समय देश उपनिवेशिक शक्तियों के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के संग्राम में संलग्न था, वे कवि राष्ट्रीय प्रश्नों से उदासीन और विरत होकर क्षितिज के पार ताक-झांक करते रहे। यह वस्तुतः छायावादी काव्य को एकांगी दृष्टी से देखने का ही परिणाम है। वरना इन कवियों में ओजस्वी स्वर में जागरण गीत भी कम नहीं लिखे। प्रसाद जी की ‘हिमालय के आंगन में’, ‘प्रथम किरणों का दे उपहार’, और ‘हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती’ जैसे गीत निराला की ‘भारती जय विजय करे’, ‘महाराजा शिवाजी के नाम पत्र’ जैसी रचनाएं इसका प्रमाण हैं।”¹⁰

छायावादी कवियों का प्रमुख सौन्दर्य प्रकृति सौन्दर्य भी रहा है। छायावादियों ने प्रकृति का तीव्र प्रकार से वर्णन किया है।

1. प्रकृति की निर्जनता का वर्णन व सुदूर प्रकृति।
2. प्रकृति की विराटता का वर्णन।
3. प्रकृति का मानवीकरण।

प्रकृति की स्वच्छता का वर्णन छायावादियों ने किया। पंत को तो प्रकृति का सुकुमार कवि भी कहा जाता है। उन्होंने कविता के सुदूर क्षेत्रों को चुना जहाँ मनुष्य के चरण नहीं पड़े हैं। छायावाद में प्रकृति अपने विविध रूपों में है इसलिए इसे कुछ विद्वान प्रकृति काव्य भी कहते हैं। छायावादियों में हिमालय और नदी राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है। इस देश को प्रसाद ने हिमालय का आंगन कहा है। प्रकृति का वर्णन देश के गौरव के लिए भी किया। प्रसाद के अनुसार- “अरुण यह मधुमय देश हमारा जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा” छायावादियों ने प्रकृति के मानवीकरण की शुरुवात

⁹ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 40

¹⁰ डॉ. अमरनाथ. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. पृ. 153

की। प्रकृति के प्रति प्रेम का भाव छायावादियों में है। आधुनिक समस्या ने प्रकृति का नाश किया इसलिए छायावादियों ने प्रकृति का मानवीकरण, निर्जन प्रकृति व विराटता का आग्रह किया। यह छायावादियों का प्रमुख काव्य सौन्दर्य है। रामदरश मिश्र के अनुसार- “अन्य छायावादी कवियों में भी प्रकृति छोटे-बड़े प्रतीकों के रूप में खूब आई है। छायावादी कवियों ने प्राकृतिक व्यापारों से मानवीय सत्य की व्यंजना की है।”¹¹

छायावाद आधुनिक हिंदी काव्य में शिखर काव्य है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार- “छायावाद नौका विहार की कविता नहीं है न ही पलायन की कविता है बल्कि छायावाद एक शक्ति काव्य है। छायावाद की वास्तविक चिंता शक्ति संचयन की है। छायावाद जागरण का आह्वान करती है।

“बीती विभावरी जागरी
अम्बर पनघट में डुबो रही
तारा घाट उषा नागरी।” (प्रसाद)

विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार- “छायावाद साम्राज्यवाद विरोधी मानवतावादी काव्य आंदोलन है। यह व्यक्ति के सुख-दुःख का उद्घातीकरण करके उसे राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता एवं सर्वात्मवाद की ओर पहुंचा देता है।”¹²

“शक्तिशाली हो विजयी बनों विश्व में गूँज रहा
जयगान” (प्रसाद)

निराला भी कहते हैं कि- “न्याय जिधर है उधर शक्ति” शक्ति और जागरण ही इस काव्य की विशेषता है।

प्राचीन कवियों के प्रति विद्रोह करते हुए भी छायावाद ने समकालीन पुनर्जागरण भावना के अनुरूप अपनी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की और भी ध्यान दिया परन्तु छायावाद की सांस्कृतिक चेतना पूर्ववर्ती द्विवेदी युग से अधिक परिमार्जित और शूक्ष्म थी। छायावाद की कविता सांस्कृतिक गरिमा

की कविता है इसलिए यह कवि आधुनिक भी कहलाए। छायावाद व्यष्टि से समष्टि की और प्रवृत्त होती हुई कविता है।

“सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण सा आंसू बन
इस विश्व सदन में।” (प्रसाद)

विजयबहादुर सिंह के अनुसार- “आधुनिक कवि कहलाने का अधिकारी वह हो ही नहीं सकता जिसकी दृष्टि एकांगी हो। आधुनिकता समूचे युग के पर्याय के रूप में प्रयुक्त शब्द है जिसका अर्थ न तो राजनीति कविता से है और न सामाजिक विद्रोह की कविता से बल्कि इसका अर्थ है आधुनिक मनुष्य को केंद्र में रखकर लिखी जाने वाली कविताएँ।”¹³

छायावाद का महत्वपूर्ण सौन्दर्य अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य है। अज्ञेय के अनुसार- “छायावाद के सम्मुख पहला प्रश्न अपने काव्य के अनुकूल भाषा का, नई संवेदना के मुहावरे का था। इस समस्या का उन्होंने धैर्य और साहस के साथ सामना किया। छायावादियों ने अपने काव्य में शिल्प पक्ष में बहुत बदलाव किए जिसके लिए द्विवेदी युग की भाषा अनुपयुक्त थी। बच्चन सिंह के अनुसार- “कहना न होगा कि छायावादी काव्यभाषा ने पूर्णता के पूर्वार्ध लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है। मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, आदि नवीन अलंकारों को भी छायावादी काव्य में स्थान मिला है। पर इन प्रयोगों को ही छायावाद नहीं कहना चाहिए क्योंकि निराला की काव्यभाषा मुख्यतः अभिधात्मक है। फिर भी उनकी पदावली द्विवेदीकालीन कवियों की पदावली से भिन्न है। छायावादी काव्य छंद, लय, संगीत, पदयोजना, बिम्बविधान आदि की अपनी संश्लिष्टता में एकदम अलग नूतन और ताजा है।”¹⁴

छायावादियों ने कथ्य और शिल्प में नए प्रयोग किए, उन्होंने सामान्य के स्थान पर विशेष, परंपरा

¹¹ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 62

¹² त्रिपाठी, विश्वनाथ. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास. पृ. 130

¹³ सिंह, विजय बहादुर. प्रसाद निराला और पंत छायावाद और उसकी बृहन्नयी. पृ. 252

¹⁴ मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. पृ. 142

के स्थान पर नवीनता और रूढ़ि के स्थान पर विद्रोह की अभिव्यक्ति प्रदान की। नामवर सिंह ने छायावाद का समग्र मूल्यांकन करते हुए कहा है कि- “छायावादी कविता की आत्मीयता, प्रकृति प्रेम, सौन्दर्य-भावना, संवेदन-शीलता, अथक जिज्ञासा, जीवन की लालसा, उच्चतर जीवन की आकांक्षा और इन सबके लिए संघर्ष करने की अनवरत प्रेरणा, छायावादी कविता का स्थायी संदेश है। छायावाद हमें रसमग्न करके निष्क्रिय नहीं बनाता, बल्कि उद्बुद्ध करके सक्रिय बनाता है। वह हमारी भावनाओं को व्यापक, अनुभूतियों को गहरी और भावों को परिष्कृत तथा परिमार्जित करता है।”¹⁵

छायावादियों ने नए प्रकार के बिंब और प्रतीक का वर्णन किया है। उन्होंने पहली बार आधुनिक हिंदी कविता में गीतात्मक शैली का प्रयोग किया। जिससे उनके काव्य में सजीवता व जीवंतता आ गई है।

“झंझा झंकोर गर्जन था बिजली थी नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा
डाला।” (प्रसाद)

छायावाद से पहले और बाद में ऐसे बिंब और प्रतीक हिंदी साहित्य में दुर्लभ थे। इसलिए यह आधुनिक हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल है।



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, नामवर. छायावाद. राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-6
2. शुक्ल, रामचंद्र. हिंदी साहित्य का इतिहास. लोकभारती प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-455
3. त्रिखा, चन्द्र. (संपा). आधुनिक काव्य प्रवृत्तियाँ. हरियाणा साहित्य अकादेमी. पंचकूला. पृष्ठ-72
4. डॉ. हरदयाल. डॉ नगेन्द्र (संपा). हिंदी साहित्य का इतिहास. मयूर पेपरबैक. नोएडा. पृष्ठ-529
5. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-69
6. डॉ. अमरनाथ. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली; पृष्ठ-152
7. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-39
8. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-143
9. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-40
10. डॉ. अमरनाथ. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-153
11. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-62

¹⁵ सिंह, नामवर. छायावाद. पृ. 154

12. त्रिपाठी, विश्वनाथ. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास. ओरियंट ब्लेक्सवान. पृष्ठ-130
13. सिंह, विजय बहादुर. प्रसाद निराला और पंत छायावाद और उसकी बृहत्रयी. स्वराज प्रकाशन. दिल्ली. पृष्ठ-252
14. मिश्र, रामदरश. छायावाद का रचनालोक. वाणी प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-142
15. सिंह, नामवर. छायावाद. राजकमल प्रकाशन. नई दिल्ली. पृष्ठ-154

सहायक ग्रन्थ सूची

1. छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन- विमल कुमार
2. छायावाद की प्रासंगिकता- रमेशचंद्र शाह
3. आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द- बच्चन सिंह
4. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ- नामवर सिंह
5. छायावाद: पुनर्मूल्यांकन- सुमित्रानंदन पंत
6. छायावाद के गौरव चिन्ह- क्षेम



'आई. ए. रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन'

ऋतु

शोधार्थी(दिल्ली विश्वविद्यालय)

Email-fromriturajput@gmail.com

रिचर्ड्स का रचनाकाल पूरी आधी शताब्दी तक फैला है रिचर्ड्स का मुख्य रूप से महत्व इस बात में है कि उन्होंने अपने युग की विभिन्न आलोचना पद्धतियों का जो कला के निरपेक्ष संसार पर आस्था रखती थी, युक्ति युक्त खंडन करके आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित किया है 'कला के लिए कला', 'कविता कविता के लिए' तथा सौंदर्यशास्त्रीय अवधारणाओं के प्रचार-प्रसार से ऐसे वातावरण का निर्माण हो रहा था जिसमें कला को जीवन से काटकर देखने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही थी ऐसी परिस्थिति में रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के सहारे काव्य के भाव पक्ष की व्याख्या की तथा काव्य के मनोवैज्ञानिक मूल्य का सिद्धांत प्रस्तुत किया।

रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन संबंधी धारणाओं का संबंध हमारे मानसिक अवधारणाओं से हैं जो वस्तु हमारे मानसिक अवधारणाओं को संतुष्ट करती है उसी को सामान्यतः हम मूल्यवान समझने लगते हैं।

रिचर्ड्स ने दो प्रमुख सिद्धांतों की व्याख्या की है-

- मूल्य सिद्धांत।
- संप्रेक्षण सिद्धांत।

रिचर्ड्स कला को साधारण मूल्यों का सिद्धांत कहते हैं उनकी धारणा है कि कला अनुभूति अथवा सौंदर्य अनुभूति किसी प्रकार की अलौकिक विशिष्ट एवं कथा पूर्ण नहीं होती और उस पर निरपेक्ष रूप से विचार किया जाना मूर्खता होगी वे लिखते हैं - "काव्य जगत की शेष जगत से किसी भी अर्थ में कोई प्रथक सत्ता नहीं है, न उसके कोई विशेष नियम है और न कोई अलौकिक

विशेषताएं। उसका निर्माण भी बिल्कुल इसी प्रकार के अनुभवों से हुआ है जैसे अनुभव हमें अन्य क्षेत्रों में हुआ करते हैं" (प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) अनुवादक-महेन्द्र चतुर्वेदी, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा।

वस्तुतः है वह कला के मूल्यवादी समीक्षक है एवं 'कला कला के लिए' सिद्धांत के विरोधी है। इसी संदर्भ में वह लिखते- हैं कि यदि "कला मानव- सुख की अभिवृद्धि में भी हो, पीड़ितों के उद्धार या हमारी पारस्परिक सहानुभूति के विस्तार में सलग्न हो अथवा हमारे अपने विषय में या हमारे और वस्तु जगत के परस्पर संबंध के विषय में ऐसे नूतन या पुरातन सत्य का आख्यान करें जिससे उक्त भूमि पर हमारी स्थिति और सुदृढ़ हो तो वह भी महान कला होगी" (वही)

हिंदी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल रिचर्ड्स के सिद्धांतों के समर्थक एवं प्रशंसक हैं वस्तुतः दोनों में काफी दूर तक समानता भी है।

डॉ बच्चन सिंह ने लिखा है " रिचर्ड्स और शुक्ल जी दोनों ही काव्य को नैतिकता से संबद्ध करके देखते हैं दोनों के विचार से वह मन को विशदीभूत और परिष्कृत करता है किंतु शुक्ल जी की तरह वह कविता को आचार से संबंध नहीं करता और न कविता को पुलिस की क्रूरता दूर करने की दवा मानता है।... फिर भी मानवीय संवेदना के विस्तार में वह उनका महत्व मानता है"(आलोचक और आलोचना, डॉ बच्चन सिंह)

रिचर्ड्स की आलोचना का व्यावहारिक पक्ष अधिक सुदृढ़ और पुष्ट है। इसके साथ ही सिद्धांत पक्ष में उनकी कुछ मान्यताओं ने काव्य और कवि को गिराया है। उनके अनुसार काव्य सत्य का सत्यापन नहीं कर सकता, विज्ञान कर सकती है। जहां अरस्तू ने काव्य सत्य को अत्यंत महत्ता प्रदान की वहीं पर रिचर्ड्स कविता को सत्य एवं ज्ञान के क्षेत्र से काटकर देखते हैं। ज्ञान के मामले में काव्य को वह विज्ञान के बाद द्वितीय स्थान पर भी नहीं रखते। उनका मानना है कि कविता ज्ञान के क्षेत्र की वस्तु ही नहीं है, क्योंकि उसका प्रयोग मात्र रागात्मक और भावात्मक ही होता है।

रिचर्ड्स ने आधुनिक जीवन में कविता की संदर्भता पर प्रकाश डाला और संपूर्ण और स्वस्थ मानव जीवन में काव्य के महत्व और मूल्य पर भी विचार किया है। मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कविता की सार्थकता और महत्ता पर इनके मौलिक विचार हैं। उनका मत था कि आज के युग में जब प्राचीन परंपराएं और जीवन मूल्य विघटित हो रहे हैं तब कविता का मूल्य उसके मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर करता है।

"रिचर्ड्स के विचार से मन में संवेगों का उतार-चढ़ाव होता रहता है, जिससे उसमें तनाव या विषमता उत्पन्न होती रहती है। काव्य और कला इन संवेगों में संगति और संतुलन स्थापित करती है। वे संवेगों को स्थापित करती है तथा स्नायु व्यवस्था को सुख पहुंचाती है। सौंदर्य मूल्यवान इसलिए है क्योंकि वह विरोधी समूहों से उत्पन्न विषमता में व्यवस्था और संतुलन स्थापित करता है।" (पाश्चात्य काव्यशास्त्र: अधुनातन संदर्भ, सत्यदेव मिश्र) यह संतुलन और सामंजन भी रिचर्ड्स के अनुसार दो रूपों में घटित होता है अपवर्जन के द्वारा और समावेशन के द्वारा।

रिचर्ड्स ने अपने मूल्य सिद्धांत में जिस मनोविज्ञान का

उपयोग किया है वह मनोविज्ञान की दो सर्वथा भिन्न शाखाओं का मिश्रण है वे शाखाएं हैं - व्यवहारवादी मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषणवादी।

रिचर्ड्स के अनुसार सामरस्य और संतुलन ही मूल्य है। इस मूल्य को वे आनंद और शिक्षा के ऊपर रखते हैं। यह अनुभव मूल्यवान हैं और अन्य अलौकिक अनुभव से भिन्न है। आलोचक चूंकि इस अनुभव का विश्लेषण करता है, इसलिए रिचर्ड्स ने इसे मूल्यों के न्यायाधीश का दर्जा दिया है।

आनंद का निषेध करने के बावजूद आलोचकों की दृष्टि में रिचर्ड्स का मूल्य सिद्धांत 'बंधम' और 'मिल' के सुख-कामना सिद्धांत पर आधारित है। अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक संतुष्ट करने की अपेक्षा करना कहीं न कहीं पाठकों के लिए सुख की कामना करना ही है। किंतु रिचर्ड्स उनकी तरह सुखवादी नहीं हैं। वृत्तियों के जिस सामरस्य और संतुलन को रिचर्ड्स मूल्य मानते हैं उसमें आनंद की कोई भूमिका नहीं है। इस अनुभव को समझने के लिए रिचर्ड्स ने कही आनंद की अनुभूति का उल्लेख नहीं किया है। वह काव्यानुभूति को आनंदानुभूति नहीं मानते। देवेन्द्रनाथ शर्मा इसी संदर्भ में लिखते हैं "काव्यानुभूति की व्याख्या के क्रम में रिचर्ड्स पहले मानव मन की क्रिया एवं प्रक्रिया की व्याख्या करते हैं।" (पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाथ शर्मा)

"The mind is a system of impulses" (principle of literary criticism)

रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन संबंधी धारणाओं का संबंध हमारे मानसिक अवधारणाओं से है जो वस्तु हमारे मानसिक अवधारणाओं को संतुष्ट करती है उसी को सामान्यतः हम मूल्यवान समझने लगते हैं।

अतः वह नियम जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों को बिना किसी पारस्परिक विरोध के उनकी प्रमुख परिणामों

को तुष्ट करने का विधान करता है वही सबसे अच्छा नियम है उसी को हम नैतिक नियम भी कहते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह सीधे नैतिकता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं।

अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिस नींव पर रिचर्ड्स अपने मूल्य सिद्धांत की इमारत खड़ी करते हैं वह बहुत कच्ची और कमजोर है एक तो मनोविज्ञान से विज्ञान का तकाजा पूरा नहीं होता क्योंकि वह सच्चे अर्थ में विज्ञान नहीं है। दूसरी चीज यह कि अभी वह निर्माण अवस्था में है। रोज-रोज नई मान्यताएं सामने आ रही है जो पुरानी मान्यताओं को झुठला देती है, और बहुत बार नकार भी देती है। इसलिए उनकी प्रमाणिकता और उपयोगिता संदिग्ध बन जाती है। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान की एकांगी एवं तत्कालिक मान्यताओं पर किसी स्थाई परिनिष्ठित आलोचना सिद्धांत का निर्माण दुष्कर है।

रिचर्ड्स के इस मूल्य सिद्धांत का विरोध उनके समकालीन टी.एस इलियट ने भी किया। अपनी पुस्तक 'द यूज ऑफ पोएट्री' एंड 'द यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' की भूमिका तथा 'मॉडर्न माइंड' में अपना विरोध प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि "मैं इस प्रकार के किसी सिद्धांत को स्वीकार नहीं कर सकता जो शुद्ध व्यक्तिक मनोविज्ञान की नींव पर टिका हो। उसके काव्यात्मक अनुभव का मनोविज्ञान जिस प्रकार खुद उसी के कार्यानुभव पर आधारित है, उसी प्रकार उसका मूल्य सिद्धांत उसके

मनोविज्ञान पर।"

रिचर्ड्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि अंतवृत्तियों का सामरस्य सौंदर्य शास्त्रीय अनुभव का परिणाम है किंतु इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी कहा कि अंतवृत्तियों के संबंध में हम मनोविज्ञान के अपेक्षित विकास के अभाव में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते।

"मनोवेगों के संतुलन के बारे में रिचर्ड्स ने यह भी स्वीकार किया है कि इसकी सूक्ष्म दृष्टि एवं जटिल क्रिया के सभी पक्षों को पूरी तरह समझ पाना सम्भव नहीं है।" (पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास, तारकनाथ बाली)

इस प्रकार रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के पश्चात स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उनके मूल्य सिद्धांत को स्वीकार करने पर कविता का संरचनात्मक विश्लेषण सर्वदा अनुपयोगी हो जाता है क्योंकि मूल्य सिद्धांत में पाठक पर कविता का पड़ने वाला प्रभाव ही सब कुछ है। कविता की वस्तु योजना, शब्द योजना, शब्द प्रयोग, शब्द अर्थ का व्यंजक, सहसंबंध, छंद, लय, तुक आदि का कोई महत्व ही नहीं रह जाता क्योंकि रिचर्ड्स के मत से कविता अनुभूति है, अतः अनुभूति के अतिरिक्त किसी वस्तु की चर्चा अप्रासंगिक और प्रसांगिक निरर्थक है।

यही कारण है कि परवर्ती आलोचना में रिचर्ड्स के मूल्य सिद्धांत को विशेष मान्यता और अहमियत नहीं दी गई।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. प्रिंसिपल ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म) अनुवादक-महेन्द्र चतुर्वेदी, पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा।
2. आलोचक और आलोचना, डॉ बच्चन सिंह)
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्र: अधुनातन संदर्भ, सत्यदेव मिश्र
4. पाश्चात्य काव्यशास्त्र, देवेन्द्रनाथ शर्मा
5. पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास तारकनाथ बाली
6. principles of literary criticism, I.A Richards. page no.23

गंग कवि की काव्य भाषा

मीनाक्षी

एम.फिल. शोधार्थी

हिंदी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

meenakshiarya1540@gmail.com

मध्यकालीन कवियों की दरबारी परंपरा में गंग कवि का महत्वपूर्ण स्थान है। उनका जन्म संवत् १५९५ में उत्तरप्रदेश के इटावा जिले के इकनौर गाँव में हुआ। इनकी जाति ब्राह्मण या भट्ट ब्राह्मण मानी गई है। गंग कवि मुगलकालीन दरबारी

कवि थे और अकबर के दरबार में विशेष सम्माननीय थे। उनका व्यक्तित्व बहुआयामी है। वाक् चातुर्य, सरसता, स्पष्टवादिता, स्वाभिमानी, शाहखर्ची, निर्भीकता और दानी प्रवृत्ति उनके व्यक्तित्व की विशेषताएँ हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी गंग कवि के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए अपने ‘हिंदी साहित्य का सरल इतिहास’ में लिखते हैं – “गंग का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य में अनुपम है।”¹

इसके अतिरिक्त आचार्य रामचंद्र शुक्ल ‘हिंदी साहित्य के इतिहास’ में लिखते हैं कि – “सरल हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इसमें प्रचुर मात्रा में था।”² गंग कवि मूलतः भक्तिकाल की दरबारी परंपरा के कवि

हैं किंतु अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण उनके काव्य में भक्तिकाल के साथ-साथ रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। उन्होंने जिन काव्य ग्रंथों की रचना की, वे इस प्रकार हैं – ‘गंग पच्चीसी’, ‘गंग पदावली’, ‘गंग रचनावली’, ‘खानखाना कवित्त’, ‘भाषा-कवित्त’, ‘गंग

विनोद’।

गंग कवि की गुरुमुखी लिपि में भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं। जैसे- ‘कवित्त हीर रांझा के’, ‘छंद दर्पण’, ‘छंद दर्पण पिंगल भाषा’। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली गद्य में रचित प्रथम ग्रंथ ‘चंद छंद बरनन की महिमा’ को भी इन्हीं के द्वारा रचित माना जाता है। इसमें गद्य एवं पद्य दोनों रूप मिलते हैं किंतु फिर भी विद्वानों ने इसे गद्य की रचना ही माना। किंतु अब कुछ विद्वानों ने इसे जाली ग्रंथ घोषित कर दिया है।

बच्चन सिंह ने इनके काव्य को तीन भागों में विभाजित किया –

भाषा, साहित्य और समाज में एक संबंध होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति हेतु भाषा का आश्रय लेता है। इस प्रकार कवि गंग ने भी अपनी लेखनी के माध्यम से अकबरकालीन समाज की सभी परिस्थितियों को अपने काव्य के द्वारा समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने उस समय में लोक प्रचलित ब्रजभाषा का प्रयोग अपने काव्य में किया तथा विभिन्न काव्यांगों जैसे- रस, अलंकार, छंद, प्रतीक, बिंब, मुहावरे आदि का भी प्रयोग भी अपने काव्य में किया। उनकी काव्यभाषा को लेकर विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं जिसका वर्णन प्रस्तुत शोध आलेख में किया जाएगा।

“नायिका भेद, कृष्ण लीला, प्रशस्ति और नीति धर्मा”³ तथा डॉ. रामस्वरूप शास्त्री ‘रसिकेश’ ने बच्चन सिंह के इस विभाजन को विस्तार दिया। उनके अनुसार – “शृंगार

¹ त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरिएंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, 2018, पृ. 64

² शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, 2015, पृ. 172

³ सिंह, बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दंसवा संस्करण - 2018

और भक्ति गंग की कविता के मुख्य क्षेत्र है तथा वीरत्व और नीति गौण। गंग ने नायिका, नखशिख, राम, कृष्ण आदि पर अधिक लिखा है और आश्रयदाता की वीरता, नीति, उपदेश आदि पर न्यून।⁴

इसी प्रकार भिखारीदास ने गंग की तुलना महाकवि तुलसीदास से की है। वे अपने ‘काव्य निर्णय’ में लिखते हैं कि—

“तुलसी गंग दुवो भए, सुकविन के सरदार।
इन के काव्यन में मिलि भाषा बिबिध प्रकार।”⁵

गंग कवि ने अपने काव्य में मध्यकाल में लोक प्रचलित ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। तथा इसके साथ पंजाबी, खड़ी बोली, राजस्थानी, अवधि, बुंदेलखंडी, देशज, विदेशी आदि शब्दों का प्रयोग भी उनके काव्य में मिलता है।

बच्चन सिंह लिखते हैं कि – “तुलसीदास की तरह अनेक बोलियों को एक भाषा में मिश्रित कर लेना उनके लिए सहज था।”⁶ यहाँ हम गंग कवि के काव्य में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के शब्दों को देख सकते हैं –

शब्द भंडार

तत्सम शब्द- गोरस, प्रचंड, मृगमद, मराल, गामिनी, ग्रीवा, पीयूष, दीनबंधु, मयंक, लोचन, अतल, सिंधुसुता।

तद्भव शब्द- तुरसी, छदस, पूस, गोत, पूतरी, कटाच्छ, दारिम, मीतल, परस, सांवरी, छिति, दूबरो।

देशज शब्द- जिरह, छबीले, ठगौरी, लरिकाई, अलबेली, फुलेल, चहचही, मुंगिया, हूक, ठहक, अलोल, धूमा।

विदेशी शब्द- कसाई, कबूल, दिलदार, काजी, मेहरी, जमा, जंग, पीक, दर, वजीर, हालता।

गंग के काव्य से संबंधित एक प्रसिद्ध पंक्ति है कि –
“सुंदर पद कवि गंग के उपमा को बलबीर
केसव अर्थ गंभीर को सूर तीन गुन धीरा”⁷

रस

गंग कवि की कविता में भक्ति, श्रृंगार, वात्सल्य, शांत, वीर, हास्य आदि विभिन्न रसों का प्रयोग हुआ है। जैसे वे अपनी कविता में लिखते हैं कि एक स्त्री का पति किसी कार्य को करने के लिए विदेश चला गया है और उससे बिछड़ने पर उसे अपार कष्ट होता है उस स्त्री की स्थिति का वर्णन गंग कवि श्रृंगार (वियोग पक्ष) रस के द्वारा करते हुए कहते हैं कि –

“जा दिन कंत बिदेस चले, गलहू न लगी न परी चरना।
ता दिन तें तन ताप रह्यो, मन झूर रही पिय को मिलना।
भूलि गई सुख, फूलि रह्यो दुख, नैन लगे गिरि के झरना।
कबि गंग यों नारि बिचारि करै, पिय के बिछूरें तें भलो
मरना।”⁸

इसी प्रकार जब अकबर गंग कवि को मृत्यु दण्ड देते हैं तो वे उससे बिल्कुल नहीं डरते और अपनी निर्भीकता का परिचय वीर रस में देते हुए कहते हैं कि -

“कबहूँ न भँडुआ रन चढै, कबहूँ न बाजी बंबा।
सकल सभाहि प्रनाम करि, बिदा होत कबि गंगा।”⁹
करुण रस का प्रयोग करते हुए गंग कवि कहते हैं कि-

“कालिंदी के कूल कूल, कुंजन की छाया मधि,
कोइल की कुहक करेजा जारियत है।
दोहनी को नाम सुनें दूनो दुख होत दर्ई,
बाँसुरी की सुधि आएँ आँसू ढारियत है।
कहै कबि गंग तुम दीनबंधु दीनानाथ
ए हो गोपीनाथ जन यों बिसारियत है।
गोधन की छाया में छिपाई राखे छातीतर,

⁴ शास्त्री ‘रसिकेश’, रामस्वरूप, दिल्ली पुस्तक सदन, १९६२

⁵ भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ. 6,

⁶ सिंह, बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2018, पृ. 159

⁷ बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ. 199, पद - 2

⁸ वही, पृ. 116, पद - 168

⁹ वही पृ.163, पद - 378

मेह तें बचाइ अब नेह मारियत है।¹⁰

हास्य रस का प्रयोग उनकी कविता में इस प्रकार हुआ है

-

“ऐते मान खोनित की नदियां उमडि चलीं,

रही न निसानी रनभूमि में गरद की।

गौरी गहो गिरिपति गनपति गहो गौरी

गौरीपति गहो पुंछि लपकि बरद की।”¹¹

इसी प्रकार वीभत्स रस का एक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि-

“डाकिनी धरनि घरबाहन खचर-खर

जिनकी चुरैलें दासी, निसाचर दास है”¹²

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार- “वीर और श्रृंगार रस के बहुत ही रमणीक कवित्त इन्होंने कहे हैं। कुछ अन्योक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हास्य रस का पुट भी बड़ी निपुणता से यह अपनी रचना में देते थे। घोर अतिशयोक्तिपूर्ण वस्तु व्यंग्य पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करने वाले सब गुण इनमें विद्यमान थे इसमें कोई संदेह नहीं।”¹³

अप्रस्तुत विधान –

अप्रस्तुत विधान मध्यकालीन कविता की एक विशेषता थी। अप्रस्तुत विधान से अभिप्राय विभिन्न उपमानों से है जिसका उपयोग प्रत्येक कवि अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग करता है। गंग कवि ने भी अलंकारों के माध्यम से भिन्न-भिन्न अप्रस्तुत विधानों का प्रयोग किया है।

अलंकार

गंग कवि के काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी मिलता है

¹⁰ वही पृ. 141, पद - 280

¹¹ डॉ. रामप्रकाश, गंग कवित्त पियूष, भारती भाषा प्रकाशन, 1984, पृ.

37

¹² वही

¹³ शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, वाणी प्रकाशन, 2015, पृ.172

जिसके माध्यम से उन्होंने अपने काव्य में वर्णित विषयों को बहुत प्रभावशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उनके काव्य में अलंकारों का प्रयोग इतना स्वाभाविक है कि वे बाहर से आरोपित हुए नहीं मालूम होते। उनके काव्य में अनुप्रास, उपमा, रूपक, वक्रोक्ति, दृष्टांत, पुनरुक्ति प्रकाश आदि अलंकारों का प्रयोग मिलता है।

आदर्श हिंदी शब्दकोश के अनुसार अलंकार का अर्थ है – “वाक्य का वह विशेष गुण जो सुनने में अच्छा लगे और हृदय को पुलकित करे।”¹⁴

इस प्रकार “अलंकार को काव्य की शोभा का अतिशय करने वाले तथा रसादि के उपकारक एवं शरीर पर धारण किए जाने वाले आभूषणों के समान शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म अर्थात् अनित्य और बाहर से आरोपित विशेषताएँ मात्र मानते हैं।”¹⁵

इसके विपरित कुछ अन्य विद्वानों का समूह भी है जो यह मानता है कि – “अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म अर्थात् सहज और अनिवार्य गुण मानते हुए अग्नि से उष्णता के समान अपरथक स्वीकार करते हैं।”¹⁶

ये दोनों ही सिद्धांत वस्तुतः अधूरे हैं। देखा जाए तो अलंकार अभिव्यक्ति के ऐसे अंग हैं जिन्हें हम अभिव्यक्ति से पृथक नहीं कर सकते। अलंकार वस्तुतः बिंब ही तो है। अलंकार, बिंब और उसकी अभिव्यक्ति के ऐसे धर्म हैं जो दोनों के स्वरूप को स्पष्ट तथा सौंदर्य की सृष्टि करने के कारण उनसे अपरथक तो होते हैं किंतु अनिवार्य अथवा नित्य नहीं कहे जा सकते हैं।

अनुप्रास अलंकार गंग कवि का प्रिय अलंकार है। गंग कवि की शायद ही कोई ऐसी कविता होगी जिसमें अनुप्रास अलंकार का प्रयोग न हुआ हो। अनुप्रास अलंकार का एक उदाहरण इस प्रकार है जिसमें ‘च’ वर्ण की आवृत्ति बार-बार हुई है -

¹⁴ पाठक, पंडित रामचंद्र, भार्गव आदर्श हिंदी शब्दकोश, पृ. 89

¹⁵ कुमार, डॉ. महेंद्र, रीतिकालीन कवियों का काव्य शिल्प, पृ. 268

¹⁶ वहीं

“चूतिया चलाक चोर चौपट चवाई च्युत,
चौकस चिकित्सक चिबिल्ला औ’ चमार है।
चोसरखिलार सिर चाँदुल चपल चित,
चतुर चुहेड़ा चरगन चिड़ीमार है।
चिहुकन चटना चुहुलबाज गंग कहै,
चुगल चंडाल चरपरिया चपार है।
जुलम की चाल सब जाल को हवाल जानै
चौधरी बखानों जामें चौबिस चकार है।”¹⁷

इसी प्रकार गंग के काव्य में उपमा अलंकार का प्रयोग भी कई स्थानों पर देखने को मिलता है जैसे-

“रूप की ठगोरी मेली डोरी ज्यों जरत तन,
ढौरी लागि मोहनी मोहनी जीभ नाइये।
तैं तौ लै परायो मन सरग पतार मेल्यो,
तरुनी न तेरो नेक तारा मंत्र पाइये।”¹⁸

रूपक अलंकार का प्रयोग भी गंग कवि के काव्य में मिलता है जैसे-

“सहत सँताप आप, पर को मिटावै ताप,
करुणा को द्रुम, सुभ छाया सुखकारी है।
सूर बीर क्षमावान कोटपती नहीं मान,
ज्ञान को निधान भान, धीर गुनधारी है।”¹⁹

यहाँ ‘करुणा को’ और ‘द्रुम और ज्ञान का निधान भानु’ में रूपक अलंकार है।

पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार का प्रयोग भी गंग के काव्य में कई जगह मिलता है जैसे-

“रती बिन राज, रती बिन पाट, रती बिन छत्र नहीं इक
टीको।

रती बिन साधु रती बिन संत, रती बिन जोग न होय जती
को।

रती बिन मास रती बिन तात, रती बिन मानस लागत

फीको।

गंग कहै सुनि साह अकब्बर, एक रती बिन एक रती
को।”²⁰

यहाँ ‘रति’ शब्द की आवृत्ति बार-बार होने से उसके अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए यह पर पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार है।

दृष्टांत अलंकार का एक उदाहरण इस प्रकार है कि -

“प्रीति करौ नित जान सुजान सों, और हैवान सों प्रीति
कहा।

षट मास सुवा तरु सेंमल सेयो, सुदेस तज्यो परदेस रहा।
फल टूटि पड़े पछिराज उड़े, जब चोंच दई तो कपास
लहा।

कवि गंग कहै सुनि साह अकब्बर, छाछ मिली यह दूध
महा।”²¹

यहाँ पहला वाक्य उपमेय है और अन्य वाक्य उपमान है इसमें परस्पर बिंब प्रतिबिंब होने से दृष्टांत अलंकार है।

प्रतीप अलंकार का प्रयोग भी गंग कवि की कविता में मिलता है जैसे -

“लोहे के घाव दवा सों मिटै, पर चित्त को घाव न जाइ
बिसारी।

गंग कहै सुनि साहि अकब्बर, नारी की प्रीति अँगार ते
छारी।”²²

नारी की प्रीति (उपमेय) को अँगार (उपमान) से भी दाहक कहने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है।

छंद

कवि के काव्य में कवित्त और सवैया छंदों का प्रयोग हुआ है इसके अतिरिक्त दोहा, छप्पय, झूलना छंद का प्रयोग भी कई जगह देखने को मिलता है। बच्चन सिंह के अनुसार - “कवित्त और सवैयों में गजब प्रवाह है।

¹⁷ बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ. 172, पद - 421

¹⁸ वही पृ. 165, पद - 389

¹⁹ वही, पद - 391

²⁰ वही पृ. 174, पद - 432

²¹ बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ.165, पद - 386

²² वही, पद - 390

कभी कभी प्रवाह का वेग इतना तीव्र हो जाता है कि छंद की सारी पंक्तियाँ प्रवाह की ध्वनि में बदल जाती हैं।²³

दोहा छंद का प्रयोग-

“सीखे कहा नवाब जू ऐसी देनी दैना

ज्यों ज्यों कर ऊँचे करौ, त्यों त्यों नीचे नैना।²⁴

कवित्त छंद का प्रयोग-

“कन्यादान लेत सब छत्रपति छत्रधारी,

हयदान गजदान भूमिदान भारी है।

राजा माँगे रावन पै, राव माँगे खानन पै,

खान सुलतानन पै भिच्चा कछु डारि है।

मिच्छा के काजें कबि गंग कहै ठाढे द्वार,

बलि से नृपति तहाँ बावन बिहारी है।

संपदा के काजें कहौ कौनै नहिं ओडयो हाथ,

जहाँ जैसा दान तहाँ तैसाई भिखारी है।²⁵

सवैया छंद का प्रयोग-

“चंचल नारि की प्रीति न कीजिये, प्रीति किये दुख होत
है भारी।

काल परे कछु आन बने कब, नारि की प्रीति है प्रेम-
कटारी।

लोहे को घाव दवा सों मिटै, पर चित्त को घाव न जाइ
बिसारी।

गंग कहै सुनि साहि अकबबर, नारि की प्रीति अँगार तें
छारि।²⁶

छप्पय छंद का प्रयोग-

“बुरो प्रीति को पंथ, बुरो जंगल में बासो।

बुरो नारि से नेह, बुरो मुख संग हांसो।

बुरी सूम को सेव, बुरो भगिनी- घर भाई।

बुरी कुलच्छिनि नारि, सास- घर बुरो जमाई।

बुरो पेट पप्पाल है, बुरो जुद्ध तें भागनो।

गंग कहै अकबर सुनौ, सबतें बुरो है मांगनो।²⁷

झूलना छंद का प्रयोग-

“केस पर सेस, दृग- चलन पर खंजनी, भौहें पर धनुष

धरि सुरति सारौं।

दसन पर दामिनी, कंठ पर कोकिला, अधर पर बिंब रहि

रहि संहारौं।

जंघ पर कदलि, कटि छीन पर केहरी, कुचन पर मेरू

महासुंड टारौं।

जोति पर जोति छबि अंग पर गंग, श्रीराधिका नखन पर

चंद वारौं।²⁸

मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ

गंग कवि के काव्य में कई मुहावरे, लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का प्रयोग हुआ है। इनके प्रयोग में लक्षणा शब्द

शक्ति काम करती है। मुहावरे, लोकोक्तियों और सूक्तियों के द्वारा भाषा में सौंदर्य और अधिक बढ़ जाता है। इनके

प्रयोग से भाषा और अधिक प्रभावी होती है। जैसे – अंधे आगे आरसी, पीठ दिखायो, भैंस का जानहीं खेत

सगा को, गिद्ध का जानहीं नीर गंगा को, बिना दाम गुलामी करना, आंख मूंद लेना, बिका हुआ होना।

काव्य गुण

माधुर्य गुण

“आँग ओप आँगी भीजी, आँग अनुराग-भीजे,

अधर तमोर-भीजे विद्रुम से झलकैं।

गति भीजी आलस, सुहास भीजी सोहैं भौहें,

लाज-भीजी चितवनि, प्रेम-भीजी पलकैं।

आवौ लाल दौरी दुरि देखौ मेरी पीठि पीछे,

जा के देखिये कों निसिद्योस लेत ललकैं।

बचन पीयूष-भीजे बुधि के बिलास गंग,

रस-भीजी आँखनि फुलेल-भीजी अलकैं।²⁹

²³ सिंह, बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दसवा संस्करण -2018, पृ. 159

²⁴ वही, पृ. 150, पद - 318

²⁵ वही, पृ. 171, पद - 417

²⁶ वही, पृ.165, पद - 390

²⁷ बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ.175, पद - 434

²⁸ वही, पृ.101, पद - 95

²⁹ बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ. 99-100, पद - 87

यहाँ हम देख सकते हैं कि इस कविता में अनुस्वार और अनुनासिक शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा कठोर एवं द्वित वर्णों का अभाव है। इस कविता में नायिका के रूप का वर्णन किया गया है। इसलिए यहाँ माधुर्य गुण है।
ओज गुण

“प्रबल प्रचंड बली बैरम के खानखाना,
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि गंग तहाँ भारी सूरबीरन के,
उमड़ी अखंड दल प्रलै पौन लहकी।
मच्चो घमासान तहाँ तोप तीर-बान चले,
महिं बलवान किरवान कोपि गहकी।
तुंड काटि मुंड काटि जोसन जिरह काटि,
नीमा जामा जीन काटि जिमी आनि ठहकी।”³⁰

इस कविता में द्वित वर्णों और कठोर ध्वनि जैसे ट वर्ग की ध्वनियों का प्रयोग होने से ओज गुण का समावेश हुआ है।

प्रसाद गुण

“पान पुराना घी नया, अरु कुलवंती नारि।
चौथी पीठि तुरंग की, स्वर्ग निसानी चारि।”³¹

इस कविता में प्रसाद गुण का समावेश हुआ है। यहाँ इसे पढ़ते ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

शब्द-शक्ति

अभिधा शब्द-शक्ति –

“बाल सों ख्याल, बड़े सों बिरोध, अगोचर नारि सों ना
हँसियो
अन्न सों लाज, अगिन्न सों जोर अजानत नीर में ना
धँसियो
बैल को नाथ, घोड़े को लगाम, मतंग को अंकुस में
कसियो।

गंग कहै सुनि साह अकब्बर, कूर तें दूर सदा बसियो।”³²

³⁰ वही, पृ. 146, पद - 301

³¹ वही, पृ. 173, पद - 425

निम्न कविता में गंग कवि ने लोक शैली का प्रयोग करते हुए कुछ लोक व्यवहार से संबंधित बातों का वर्णन किया।

लक्षणा शब्द-शक्ति –

“धन देवै धाम देवै, बात को बिराम देवै।
राज को लगाम देवै, ऐसो प्रिय पेख्यो है।
समै अनुकूल रहै भूल थाप नाहिं देवै,
निष्कपट न्यायिक कपट जानि छेक्यो है।”³³

निम्न पंक्तियाँ व्यवहारिक होते हुए भी लाक्षणिक विशेषता से युक्त हैं जैसे - राजा कोई अश्व नहीं जिसे लगाम दी जा सके। अर्थात् निरंकुश राजा के अनाचार को रोकने के लिए कहा गया है।

व्यंजना शब्द-शक्ति

“जा दिन कंत बिदेस चले, गलहू न लगी न परी चरना।
ता दिन तें तन ताप रह्यो, मन झूर रही पिय को मिलना।
भुलि गई सुख, फूलि रह्यो दुख, नैन लगे गिरी के झरना।
कबि गंग यों नारि बिचारी करै, पिय के बिछुरें तें भलो
मरना।”³⁴

निम्न पंक्तियों में नायिका वियोग की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना बेहतर समझती है इसलिए यहां व्यंजना शब्द शक्ति है।

नाद सौंदर्य

गंग कवि के काव्य में नाद सौंदर्य का प्रयोग भी देखने को मिलता है। नाद सौंदर्य का एक उदाहरण इस प्रकार है

–

“असुर संग सकपकत और धकपकत धमक सुनि।
भजत भीर भहरात खंभ खहरात फटत पुनि।
अति विकट दंत कटकट करत, चटचटात नखनिकर तपु।
लफलफत जीह दुर्जन- दलन, जय जय जय नरसिंह-

³² बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, 2016, पृ.170, पद - 413

³³ वही, पृ. 166, पद - 392

³⁴ वही, पृ. 116, पद - 168

बपु।।³⁵

चित्रात्मकता

चित्रात्मकता किसी भी कविता का एक महत्पूर्ण तत्व है जो किसी वस्तु, स्थिति, अनुभूति, आदि का एक सजीव चित्र हमारे सामने प्रस्तुत कर देती है। इसे बिंब भी कहते हैं। यह काव्य के सौंदर्य को और अधिक बढ़ा देती है। गंग कवि की विभिन्न कविताओं में चित्रात्मकता देखने को मिलती है जैसे –

“करिकै जु सिंगार अटारी चढ़ी, मनि हारन सों हियरा
लहक्यो।

सब अंग सुवास सुगंध लगाइ कै बास चहुं दिसि को
मेहक्यो।

कर तें इक कंकन छूटि परयो, सीढ़ियां सीढ़ियां सीढ़ियां
बहक्यो।

कवि गंग भने इक शब्द भयो, ठननं ठननं ठननं
ठहक्यो।।³⁶

भाषा-शैली

कवि की अपनी शैली होती है जिसमें वह काव्य रचना करता है। गंग कवि ने अपने काव्य में उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। उनकी शैली कुछ-कुछ कबीर से मिलती जुलती है। जैसे कबीर ने अपने नीति के दोहों की अंतिम लाइन में ‘कहे कबीर सुनो भई साधो’ मिलता है। उसी प्रकार गंग कवि की अधिकतर कविताओं में ‘गंग कहे सुन शाह अकबर’ का प्रयोग करते हैं। अपने काव्य के चौथे चरण में वे अकबर या समाज के सामान्य जन को संबोधित करते हैं। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में तथ्यनिरूपण, अन्योपदेशात्मक और विभिन्न लोक शैलियों का प्रयोग हुआ है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि गंग कवि ने

अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग किया तथा इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग करने से भी कोई परहेज नहीं किया तथा तीनों शब्द शक्तियों में विशेषकर अभिधा शब्द शक्ति का खूब प्रयोग किया। मुहावरे एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी गंग कवि के काव्य में मिलता है। उन्होंने अपने काव्य में मुख्यतः उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया। भाषा को व्यंजक और प्रभावी बनाने के लिए अलंकारों, प्रतीकों एवं बिंबों का प्रयोग भी किया। उनके काव्य में चित्रात्मकता भी देखने को मिलती है। अतः यह कहा जा सकता है कि आचार्य भिखारीदास ने जो गंग कवि की भाषा की तुलना तुलसी की भाषा से की उसके अनुसार गंग कवि का भाषा के आधार पर मध्यकाल में सर्वश्रेष्ठ स्थान है।



³⁵ वही, पृ. 80, पद - 6

³⁶ डॉ. रामप्रकाश, कवि गंग पियूष, भारती भाषा प्रकाशन, प्रथम संस्करण – 1984, पृ. 48

सहायक ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. बटे कृष्ण, कवि गंग रचनावली, राजस्थानी ग्रन्थागार, द्वितीय संशोधित संस्करण – 2016
2. डॉ. रामप्रकाश, गंग कबित्त पियूष, भारती भाषा प्रकाशन, प्रथम संस्करण – 1984

हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ

1. डॉ. नगेन्द्र (संपादक) हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९७३
2. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. २०२९ वि.
3. मिश्रबंधु, मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, सं० १९८३
4. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, हिंदी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, द्वितीय संस्करण
5. सिंह, बच्चन, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1996

आलोचनात्मक ग्रंथ

1. अकबर दरबार के हिंदी कवि, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०८७
2. शास्त्री ‘रसिकेश’, रामस्वरूप, दिल्ली पुस्तक सदन, १९६२
3. डॉ. नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, १९४९
4. भिकारीदास, काव्य निर्णय, जवाहरलाल चतुर्वेदी, १९५६
5. कुमार, डॉ. महेंद्र, रीतिकालीन कवियों का काव्य शिल्प

कोश ग्रंथ

1. पाठक, पंडित रामचंद्र, भार्गव, आदर्श हिंदी शब्दकोश।



‘जंग लगी तलवार’ और श्रमिक जीवन

मिनहाज अली

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

पांडिच्चेरी विश्वविद्यालय, पुदुच्चेरी- 605014

ई-मेल- minhazali82@gmail.com

मो.नं- 7598611303

आधुनिक असमिया साहित्य में महिला लेखिकाओं का नाम लेते ही इंदिरा गोस्वामी का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। असमिया साहित्य जगत में उन्हें मामोनी रायसम गोस्वामी के नाम से जाना जाता है। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से मानवता की वास्तव छवि को उकेरा है। ‘जंग लगी तलवार’ इनमें से एक प्रमुख उपन्यास है। असमिया में ‘मामरे धरा तरोवाल’ शीर्षक से प्रकाशित है और पापोरी गोस्वामी ने इसे हिन्दी में अनुवाद किया है। सन 1982 में इस उपन्यास के लिए उन्हें ‘साहित्य अकादमी’ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

सन 1978 उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के साई नदी के जलसेतु का कार्य जोर-शोर से शुरू हो गया था। इसमें काम करने वाले मजदूरों को कंपनी ने ग्रुप में विभाजित कर दिया था। इनमें से कुछ दिहाड़ी मजदूर, मंथली वेतनभोगी और कंपनी के नियमित मजदूर थे। जिन मजदूरों से कंपनी को ज्यादा मुनाफ़ा नहीं हुआ उन्हें काम से निकाला जा रहा था। कंपनी के ठेकेदार मजदूरों से फटे जूते की तरह व्यवहार करते थे। उन्हें जब चाहे फेंका दिया जाता था। अक्टूबर का महीना है कंपनी के दफ्तर

असमिया लेखिका इंदिरा गोस्वामी जी ने ‘जंग लगी तलवार’ उपन्यास में उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के साई एक्वेडक्ट (जलमार्ग) कंपनी में काम करने वाले हरिजन मजदूरों की हड़ताल, कंपनी समेत उनके ठेकेदार के द्वारा किये गये शोषण, असुरक्षा, आर्थिक असमानता, अवसरवादी राजनैतिक नेताओं के खोखलेपन को दर्शाया है। उपन्यास में हरिजन मजदूरों के हड़ताल से पहले और बाद की स्थिति का अत्यंत सार्थकता के साथ वर्णन किया है।

के नोटिस बोर्ड पर सरप्लस अर्थात् सटाई किये गये मजदूरों की तालिका को लटका दिया गया था। इनमें से दैनिक भुगतान और अनौपचारिक श्रमिकों को सबसे पहले निकाला गया था। जमादार से लेकर फिटारस, हेल्पर्स, चौकीदार, गेस्ट हॉउस का रखवाला आदि

मजदूरों के बीच में हलचल मच गई थी। स्थानीय मजदूर यूनियन के साथ कंपनी के संचालक प्रधान का जो समझौता हुआ था वह टूट गया था। संचालक प्रधान ने इन असहाय मजदूरों के साथ विश्वासघात किया था।

फलस्वरूप उपायहीन मजदूरों ने अपने अधिकारों के लिए कंपनी के खिलाफ हड़ताल शुरू कर दी। उनकी एक ही माँग थी बर्खास्त होनेवाले मजदूरों को कंपनी की अन्य शाखा-प्रशाखाओं की ब्रांचों में स्थायी रूप से नियुक्त किया जाए। मजदूरों की न्याय के समय इंजीनियर और एस.डी.ओ. ने कंपनी से पैसा लेकर मुँह बंद रखा था, शास्त्री जी का सहायक हरिजन श्रमिकों का लीडर यशवंत से कहता है- ‘ओवरसीयर से

लेकर वह सियार जैसी शक्लवाला इंजीनियर तक, सब जानते हैं हम लोग.....। इंजीनियर कंपनी से हर महीने दो हजार लेकर चुपचाप बैठ जाता है.....एस.डी.ओ. हर महीने पन्द्रह सौ लेकर सन्तुष्ट रहता है और लालची

ओवरसीयर महीने भर में सिर्फ पचास रुपये में ही.....।¹

मजदूरों के हड़ताल शुरू होने की खबर स्थानीय राजनैतिक नेताओं तक पहुँच जाती है। हर राजनैतिक नेता जनता के प्रति सेवा भाव रखता है। परन्तु उसके लिए वे जनता से सूद समेत वसूली कर लेता है। रायबरेली के स्थानीय नेता शास्त्री जी अपने कार्यकर्ता तथा एजेन्ट को मजदूरों के पास भेजता है। वह शास्त्री के रिश्तवत की रेट के बारे में यशवंत को समझाते हुए कहता है- “सुनो, क्या तुमने हमारे लोकल लीडर का रेट ज्यादा समझ लिया है? बहुत ज्यादा नहीं है। और ऐसे श्रमिक हड़ताल में तो....।”² हरिजन मजदूरों के बीच में यशवंत ही एक मात्र पढ़ा-लिखा था। यशवंत से उन्हें बहुत उम्मीद थी कि एक दिन हरिजनों का दिन बदल जाएगा। परन्तु यशवंत कुछ न कर सका। वह राजनैतिक नेताओं के षड़यंत्र के सामने हार जाता है।

धार्मिक अनुष्ठानों के समय भी मजदूरों को छुट्टी नहीं मिलती थी। कंपनी के ठेकेदारों ने पहले से सूचित कर देता था कि कंपनी के छुट्टी के दिन में ही पूजा की छुट्टी शामिल कर लेना है अन्यथा उस दिन की मजदूरी काट दिया जाता था। कंपनी में उसकी मजदूरी परमानेंट नहीं थी। इसलिए काम के लिए उसे जगह-जगह से भगाया जाता था। शंभू पासवान कहता है- “बीस साल से धक्के खाकर क्या हमारी चमड़ी मोटी नहीं हुई? विभाग बंद हो जाने के बाद आवारा कुत्तों जैसी हालत बन जाती है। हर बार नया शहर नया चेहरा। कसाई की तरह उनका दिला सिर्फ हट-हट जा, भाग-भाग जा....।”³

लेखिका ने उपन्यास में बाल मजदूरों का भी जिक्र किया है। कंपनी के ठेकेदार कम उम्र वाले बच्चों की उम्र ज्यादा बताकर काम करवाते थे। वे बालक अपना नाम तक लिखना नहीं जानते थे। कंपनी के राक्षस दलाल जैसे ठेकेदार हफ्ते के आखिरी दिन अँगूठे की

छाप लेकर बीस रूपया मजदूरी के बदले में दस रूपया देता था। केवल यही नहीं वर्क साईट में काम करते वक्त दुर्घटना में मृत्यु होने वाले मजदूरों को कंपनी की ओर से कोई सहायता भी नहीं मिलती थी।

हड़ताल शुरू होते ही वर्क साईट में काम बंद हो गया था। काम के बिना वर्क साईट श्मशान घाट जैसी दिख रही थी। मजदूरों में आर्थिक संकट दिखाई देने लगा। मजदूर यूनियन फण्ड के पूंजी भी खत्म हो चुकी थी। दो वक्त की रोटी के लिए मजदूर लड़ रहे थे। रायबरेली के वर्क साईट में भूखमरी एक प्रचंड आँधी के रूप फैल गयी थी। भूख के मारे पानी पीते-पीते अब पानी भी उन्हें कड़वा लग रहा था। भूख की ज्वाला में खलासी लंगर में स्वीपर लाइन के बच्चे रोटी के लिए कुत्तों से छीना झपटी कर रहे थे। हड़ताल ने बुढ़े-बच्चे सब को राक्षस बना दिया था। बसुमति बुढ़िया कच्चे तरबूज के पत्ते को जानवर की तरह चबाकर खा रही थी। जंगली जिलेबी नाम के फलों के लिए जमादार गुटों में एक दूसरे से मारपीट करने लगा था। जमादारों के बच्चे साई नदी से मछली पकड़ कर खा रहे थे। भूख के भयानक दृश्य का वर्णन लेखिका ने इस प्रकार किया है- “कुछ दूर जाकर यशवंत ने एक और भयानक दृश्य देखा। मुंशीगंज के कसाई की दुकान से बकरे की अँतड़ियों-जैसा कुछ लाकर जमादारों के बच्चे आपस में झगड़ रहे हैं। कुछ दिनों से साई के किनारे गिद्धों के झुंड बैठने लगे हैं। यशवंत को लगा जैसे इन बच्चों और गिद्धों में कोई फर्क नहीं बचा। पेट की ज्वाला का भयानक रूप साई के चारों तरफ नग्न होकर सामने आ गया है।”⁴ नारायणी के पास बीमार पति और बच्चे के लिए दूध और रोटी के लिए पैसा नहीं था। हरिजन होने के नाते नारायणी को दूसरों के घर में काम नहीं मिलती थी। घर संभाले के लिए नारायणी के पास कोई उपाय नहीं था। असहाय नारायणी अपना परिवार संभालने के

लिए कंपनी के उच्च पदस्थ अधिकारियों के पास देह का सौदा करने लगी। एक दिन धंधे से लौटते वक्त नारायणी और पहरादार देने वाले जमादार के बीच पैसा लेकर छीना-झपटी शुरू हो गयी। जमादार ने उसका सारा पैसा छीन लिया। नारायणी रणचंडी रूप धारण करती हुई जमादारों से कहने लगी कि- “सुअर के बच्चे! लौटा दे मेरे पैसे। जब धासला बीमार था तो मैं नमक की बोरी जैसा पेट लेकर यहाँ-वहाँ ठोकर खा रही थी, तब एक भी पैसा देकर तुम लोगों ने मेरी मदद की क्या? अब हड़ताल के नाम पर अन्न के दाने भी छीन रहा है.....साले!.....मेरी मर्जी, मैं रंडी बनकर कमाऊंगी, खाऊंगी- लौटा मेरा पैसा।”⁵ केवल नारायणी ही नहीं भृगु जमादार की दो जवान बहनें भी दो वक्त की रोटी के लिए पंजाबी खलासियों के साथ अवैध संबंध रखती थी। भूख के मारे लिचु लँगड़ा नारायणी से कहता है कि मेरे लिए दो रोटी लाकर दे सकती हो देखो तो, पेट कैसे सूख गया है।

मजदूरों की हड़ताल में रायबरेली के आस-पास के गाँव के किसान भी उसका साथ दे रहा था। परन्तु कंपनी का पैसा खाकर पेट मोटा करने वाले लेबर इन्स्पेक्टर गाँव-गाँव में जाकर किसानों को समझा रहा था कि मजदूरों की यह हड़ताल गैरकानूनी है, उन्हें गेहूँ, चावल उधार देना उचित नहीं है। यह कंपनी मजदूरों को दूसरी कंपनी से ज्यादा मजदूरी देती है। लेबर इन्स्पेक्टर की बातों में आकर मजदूरों का साथ देने वाला किसान भी उनकी सहायता करने से मुकर गया और गेहूँ, चावल देने से मना कर दिया था।

राजनैतिक रूप से किसान-मजदूरों का शोषण स्वतंत्रता पूर्व से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अर्थात् आज भी उसका शोषण हो रहा है। हाँ स्वतंत्रता के पश्चात देश में उन्नति हुई है, तो केवल पूँजीपति लोगों की। किसान-मजदूर की स्थिति पहले जैसी थी आज भी

उनका वही हाल है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं और मजदूर जी तोड़ मेहनत करने के बावजूद भी दो वक्त की रोटी के लिए तरस रहा है। परन्तु किसान-मजदूरों का खून पीने वाले राजनैतिक नेतागण यश-आराम का जीवन जी रहे हैं। मजदूरों का बुनियादी अधिकार है कि कंपनी में उनकी नौकरी स्थायीकरण किया जाए। सन 1975 के जनवरी महीने में अधिकारियों और अखिल भारतीय डंकन कंपनी, मजदूर यूनियन के बीच हुए समझौते और औद्योगिक विवाद अधिनियम के अनुसार कंपनी के पास काम न होने पर दिहाड़ी मजदूरों की छँटाई कर दी जाएगी और मासिक वेतन मिलने वाले मजदूरों को लंबी छुट्टी पर भेज दिया जाएगा। इस समझौता पत्र के अनुसार भारी संख्या में दिहाड़ी मजदूरों की बर्खास्त करने का नोटिस दिया गया था। मजदूरों के बर्खास्त करने का नोटिस कंपनी के समझौता पत्र के अनुसार कानून सम्मत था। फिर भी बेकसूर मजदूरों को स्थानीय राजनैतिक नेता ने हड़ताल करने के लिए प्रोत्साहन दे कर उन्हें अंधी खाई की ओर धकेल दिया था। राजनैतिक नेता मजदूरों को लीगल फाईट अर्थात् हड़ताल की सफलता का लालच और आश्वासन देकर उनका शोषण करने लगा था। स्थानीय नेता शास्त्री जी मजदूरों से कहता है- “सुनो, मैं लीगल फाईट करवा दूँगा। मजदूरों की छँटाई नहीं होने देंगे। लेकिन मेरी भी एक निश्चित कीमत है, यह मेरे एजेंटों ने जरूर बताया होगा और तभी मैं मजदूरों के बीच जा सकता हूँ।”⁶ मजदूरों की हड़ताल को लेकर राजनैतिक नेता दो हिस्सों में बँट गए थे। एक दल के नेता कंपनी के साथ समझौता करना चाहते थे। दूसरे दल यानी लाल टोपीवाले नेता कंपनी के साथ लड़ना चाहते थे। हड़ताल के नाम से नेता मजदूरों के यूनियन के फंड के पैसों से भात, मांस, बर्फ डाला हुआ शर्बत पी रहे थे और हड़ताल को अधिक से अधिक गति देने के लिए स्थानीय नेता शास्त्री जी ने सहज-सरल मजदूरों के सामने भाषण देते हुए कहा था-

“भाइयों, मजदूरों को लड़ाई लड़ने से पहले ही इसका नतीजा मालूम रहता है.....।”⁷

मजदूर यूनियन के फंड की पुँजी खत्म हो चुकी थी। बाहर से भी किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल रही थी। ऐसी स्थिति में मजदूर हड़ताल को आगे बढ़ाने में असंभव लग रहे थे। इसलिए वह कंपनी के साथ समझौता कर हड़ताल रोक देना चाहते थे। इसके सिवाय मजदूरों के पास और कोई उपाय नहीं था। परन्तु स्थानीय नेता शास्त्री मुख्य कार्यालय से आये हुए अधिकारियों से मजदूरों की बैठक तो दूर की बात अधिकारियों से उन्हें मिलने तक नहीं दिया। शास्त्री मजदूरों से कहने लगा- “तुम लोगों के पास आत्मबल नहीं है? बिना किसी ज्ञान के नेता बनने वालों के साथ हमेशा ऐसा ही होता है। मुझे सलाह देने आए हो तो सुनो, यह हड़ताल चलती रहेगी। मुख्य कार्यालय से आनेवाले प्रतिनिधियों के साथ तुम लोगों की बैठक नहीं हो सकती। ढिठाई मत दिखाओ। तुम लोगों के खून में कितना जोश है मुख्य कार्यालय वालों को जानने दो। मैं लीगल फ़ाइट करवा दूँगा। जरूरत पड़ी तो जुलूस भी निकलवा सकता हूँ। आस-पास के दूसरे कारखाने में भी टोकन स्ट्राइक शुरू हो जाएगी।”⁸ केवल यही नहीं शास्त्री जी ने मजदूरों के ऊपर गरजते हुए कहा था कि- “दुश्मन का सामना करना सीखो। फंड खत्म हो गया है, तो दिमाग से काम लो। सुना है, एक ट्रक भरकर कंपनी की सीमेंट रायबरेली पहुँच रही है....समझ से काम लो।”⁹ इस प्रकार शास्त्री जी ने मजदूरों को गैरकानूनी काम करने के लिए भी उकसाता है। मजदूरों के धैर्य का बांध टूट जाती है। परन्तु धोखेबाज शास्त्री कहता है- “सुनो, तुम लोगों को नेता समझना भी शर्म की बात है। हड़डियाँ चूर-चूर हो जाँए, देह से मांस सड़कर गिर पड़े, लेकिन मजदूरों को दिया हुआ वचन.....।”¹⁰ मजदूरों को मधुर-मधुर वाणी और

भाषणों से आश्वासन देने वाला स्थानीय नेता शास्त्री जी ने मजदूरों के साथ विश्वासघात कर कंपनी से पैसा खाकर अर्थात् रिश्वत लेकर हड़ताल और मजदूरों की उम्मीद दोनों तहस-नहस कर देती है। असफल हड़ताल के दो साल बाद यशवंत ढेर सारे सवालियों का जबाब जानने के लिए स्थानीय नेता स्त्री जी से मिलने आता है। उनके हाथ में एक तलवार थी जिसमें जंग नहीं लगी थी। इन दो सालों में उन्हें हड़ताल की सच्चाई मालूम हुई कि हड़ताल एक जंग लगी तलवार है। उससे मजदूरों का सुधार और उद्धार संभव नहीं।

निष्कर्ष-

लेखिका ने हड़ताल को प्रमुख मुद्दा बनाकर मजदूरों की समस्याओं के साथ-साथ सन 1975-80 तक उत्तर प्रदेश के रायबरेली के राजनैतिक भ्रष्टाचार का भी चित्रण किया है। उपन्यास में मजदूरों की असुरक्षा, आर्थिक असमानता, अवसरवादी राजनैतिक नेताओं के खोखलेपन को दर्शाया है। हरिजन मजदूरों के युवा नेता यशवंत बलेही कुछ पढ़ा-लिखा नेता था। फिर भी वह मजदूरों के हक के लिए कुछ नहीं कर पाए। वह राजनैतिक नेताओं के सामने हार जाते हैं। यह केवल उस दौर की कहानी नहीं आज भी किसान-मजदूरों का हाल वही है जो पहले था। आज भी किसान और मजदूर नेताओं और पुँजीपति के हाथ की कठपुतली जैसा है जब चाहे उनके जीवन के साथ खेल सकता है। मजदूर और उनके बच्चे भूखमरी के साथ जुझ रहे थे। हड़ताल की लीगल फ़ाइट के नाम से नेतागण उनके खून-पसीने के पैसों (मजदूर यूनियन फंड) से मजेदार खाना, शराब पी रहे थे। ऐसे नेतागण आज के भ्रष्ट नेताओं के प्रतिरूप हैं।

संदर्भ सूची-

1. जंग लगी तलवार, इंदिरा गोस्वामी, अनुवादक, पापोरी गोस्वामी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, संस्करण- 2006, पृ. सं- 10
2. वही, पृ. सं- 10
3. वही, पृ. सं- 13
4. वही, पृ. सं- 48
5. वही, पृ. सं- 50
6. वही, पृ. सं- 46
7. वही, पृ. सं- 69
8. वही, पृ. सं- 52
9. वही, पृ. सं- 53
10. वही, पृ. सं- 73



मंगलेश डबराल- मनुष्यता के कवि

डॉ. गौरी त्रिपाठी

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
गुरु घासीदास केंद्रीय विश्वविद्यालय
बिलासपुर, छत्तीसगढ़

मं

गलेश डबराल समकालीन कवियों में चर्चित नाम हैं। राजेश जोशी, अरुण कमल और उदय प्रकाश के समकालीन। समकालीन कविता की विशेषता कह लें या खामी लगभग इस कविता में फर्क करना मुश्किल हो जाता है क्योंकि वह अपने समय को एक साथ और लगभग एक जैसा प्रस्तुत करते हैं। अपने तरीके के ये

अलग कवि हैं। उनकी कविता का एक खास रंग है, इनकी कविता में समकालीन समय अपने पूरे बिखराव के साथ मौजूद दिखाई देता है। पहाड़, नदी जंगल ही नहीं है बल्कि सत्ता का विरोध मानवता की खोज हुई है। मानवीयता से जुड़कर कविता ज्यादा आसान हो जाती

है, जो कि इनकी कविताओं में बहुतायत दिख जाती हैं। सहृदयता और अनुभूति संपन्नता दो विशेष मूल्य मंगलेश की कविता में हर जगह दिखाई देते हैं। उनकी कविता की पहली शर्त यही है कि हम मनुष्य बने रहें। ऐसा आग्रह वह बार-बार अपनी कविता में करते रहते हैं। इनकी कविता नई पीढ़ी के संघर्षों को भी सामने लाती है, साथ ही पहाड़ की संवेदनाओं भी उसी संघर्ष के साथ मिलकर कविता बन जाती हैं। अपने को मार्क्सवादी कवि के रूप में घोषित करते हैं "मैं एक मार्क्सवादी हूँ लेकिन शायद स्वतंत्र मार्क्सवादी।" सर्वहारा क्रांति का सपना हर बड़े कवि की तरह उन्होंने भी देखा था।

हिंदी कविता में मंगलेश डबराल 80 के दशक में आते हैं

और उनका पहला ही काव्य संग्रह "पहाड़ पर लालटेन" बहुत चर्चित होता है। शुरुआती दौर में वे गद्य के साथ साहित्य की तमाम विधाओं में लिखना शुरू करते हैं लेकिन साहित्य की शुरुआत कविता से ही होती है। उन्हें लगता है कि वर्तमान समाज और समय की विद्रूपताओं को बता पाने का सबसे अच्छा जरिया है कविता। "पहाड़ पर लालटेन" कविता संग्रह में पहाड़ का जीवन

हिंदी कविता में मंगलेश डबराल 80 के दशक में आते हैं और उनका पहला ही काव्य संग्रह "पहाड़ पर लालटेन" बहुत चर्चित होता है।

भी है और लालटेन के माध्यम से एक उम्मीद भी है। यह कविता संग्रह समाज में फैले हुए उदासी और मुक्ति का संकल्प एक साथ दिखाता है। जीवन का कटु यथार्थ और समाज की पेचीदगी के साथ-साथ पहाड़ के यथार्थ जीवन का मर्म बहुत संजीदगी के साथ उभरता है।

वह बदलाव चाहते हैं, समाज में यह समकालीन कविता की सबसे बड़ी पहचान है-

"जंगल में औरतें हैं

लकड़ियों के गड्ढर के नीचे बेहोश

जंगल में बच्चे हैं उसमें दफनाए जाते हुए

जंगल में नंगे पैर चलते हैं बूढ़े डरते खांसते

अंत में गायब हो जाते हुए

जंगल में लगातार कुल्हाड़ियां चल रही हैं

जंगल में सोया है रक्त"(1)

यह है पहाड़ का स्वाभाविक जीवन जहां अक्सर ही सोया रहता है रक्त। इस कविता में कुल्हाड़ी केवल वृक्षों

पर ही नहीं चलती बल्कि मनुष्य के जीवन में भी लगातार चलती रहती है। वे त्रस्त व पस्त होते रहते हैं। मंगलेश सीधे सीधे सीधे अपनी कविता में पहाड़ों के शोषण का जिक्र करते हैं, पहाड़ों में शोषण की एक लंबी परंपरा रही है। जैसे पहाड़ कठोर होते हैं वैसे ही पहाड़ी मनुष्य का जीवन भी कठिन खुरदुरा और संघर्षमय होता है। इस संग्रह की कविताओं में मंगलेश पहाड़ी जीवन का कोई आदर्श नहीं प्रस्तुत करना चाहते थे बल्कि पहाड़ी संस्कृति के अंतर्विरोध को दुनिया के सामने लाना चाहते थे। पहाड़ का जीवन बिल्कुल खराब नहीं है लेकिन वहां फैली हुई भूख, उदासी, अकाल, बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएं किसी उपहार के तौर पर पहाड़ी मनुष्य को जो मिलती हैं उस से निजात पाना चाहते हैं-

"दूर एक लालटेन जलती है पहाड़ पर
एक तेज आंख की तरह
टिमटिमाती धीरे-धीरे आग बनती हुई
देखो अपने गिरवी रखे हुए खेत
बिलखती स्त्रियों के उतारे गए गहने।"(2)

पहाड़ों पर भूख और महामारी एक साथ मनुष्यता को नष्ट करने के लिए आती हैं। 'मुक्ति' कविता में मंगलेश डबराल पहाड़ी संस्कृति के शोषण का एक और ही स्वरूप दिखाते हैं जिसमें सीधा- साधा इंसान तबाह हो जाता है-

'पीठों पर घाव और कंधों पर हथियार लिए हुए
लोगों की आहटें और नजदीक हो गईं।
उनके कांपते सर और सूराखदार सीने
धीरे-धीरे अपने पैतृक विलाप से बाहर आ रहे हैं।
उनकी धमनियों में गूंजती भूख
खोजती है अपना गुस्सा और अपना प्रेम

उनके रोओं में उड़ती है बारूद'(3)

इस कविता में कवि संवेदना के स्तर पर आम आदमियों से जुड़ जाता है। समाज में तो नहीं लेकिन कविताओं में वह इन बातों को मुख्यधारा में ले आते हैं जैसे-

' अपने मरे हुए बच्चों की खोज में
मैं ने उन्हें एक जंगल से निकलकर
दूसरे जंगल में जाते हुए देखा है।
मैंने नारों और वायदों के लिजलिजे जाल में उनकी भूख
को
एक मुस्तैद और नुकीले पंजे में बदलते देखा है।'(4)

मंगलेश की कविताओं में बिंब काफी उभरता है। 180 का दशक कविता के क्षेत्र में बिंबों और प्रतीकों का दौर था जहां ज्यादातर खिड़की, चौखट, छत, दीवार जैसी कविताएं लिखी गईं जो मानवीय संवेदनाओं को एक गति दिया करती थी, साथ ही जिंदगी के तनाव को भी। ये प्रतीक बहुत स्वाभाविकता के साथ प्रयुक्त होते थे। मंगलेश की कविता में जंगल कई कई रूपों में आता है, कहीं वह मनुष्यता के प्रतीक के रूप में आता है और कहीं वह स्मृतियों के रूप में आता है। उन्हें पता है कि खालीपन और उदासी केवल बाहरी तौर पर नहीं होती है, बल्कि यह अंदरूनी भी उतनी ही होती है-

' सबसे ज्यादा खामोश चीज है बर्फ
उसके साथ लिपटी होती है खामोशी
वह तमाम आवाजों पर एक साथ गिरती है
एक पूरी दुनिया और उसके कोहराम को
ढांपती हुई
बर्फ के नीचे दबी है घास। चिड़ियां और
उनके घोंसले
खंडहर और टूटे हुए चूल्हे। लोग बिना
खाए सो जाते हैं

वह चुपचाप गिरती रहती है
बर्फ में जो भी पैर आगे बढ़ाता है
उस पर गिरती है बर्फ '(5)

जाहिर सी बात है मंगलेश डबराल की कविताएं उनके व्यक्तिगत जीवन से भी प्रभावित हैं। वे पहाड़ के कवि हैं। यह सभी चीजें उनकी कविताओं में बरबस ही आ जाती हैं। ज्यादातर सारी चीजें दुख स्वप्न की तरह आती हैं-

' आकाश के नीचे अपने अकेले बिस्तर को
याद करता हुआ अकेला आदमी।
टहलता से सुनसान में सड़कों पर
मृत्यु की तरह। व्याप्त आकाश में अपने अंधकार को
छाते की तरह ताने हुए। अकेला आदमी
गुजरता है चीजों के बीच से।' (6)

इनकी कविताओं में पहाड़ी जीवन पर शहरों की क्रूरता को बखूबी देखा जा सकता है। पहाड़ और नगर का द्वंद एक साथ हृदय और बुद्धि के द्वंद के रूप में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं -

'मेरे रक्त की अंतिम उछाल के बाद।
शुरू हो जाती है शहर की दीवारें
नींद के चारों किलो और कब्रों को रौंदते दौड़ते रहते हैं
घुड़सवार।' (7)

इस कविता में वे नगरीय सभ्यता के प्रति अपना विरोध जाहिर करते हैं हालांकि धीरे-धीरे शहरों के प्रति या आलोचनात्मक रवैया उनका कम होता दिखाई पड़ता है।

'घर का रास्ता' उनका दूसरा कविता संग्रह है। इस संग्रह में समाज और जीवन में घटी हुई सदियों का जिक्र ज्यादा है। वे हर तरह के शोषण के खिलाफ हैं चाहे वह

प्रकृति का शोषण हो स्त्री शोषण हो या एक सामान्य व्यक्ति के जीवन। 'घर का रास्ता' कविता संग्रह में वे शहर की सबसे लंबी दीवार खाली देखकर सोचते हैं कि उस पर लिखा जा सकता है अपना पूरा पता उस पर लिखी जा सकती है कोई कविता। कल सुबह के लिए कोई संदेश, उस पर दर्ज किया जा सकता है अगली लड़ाई का ऐलान। यह कविता संग्रह एक सामान्य मनुष्य की दिनचर्या और उसकी संवेदना को बहुत कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में उन्होंने स्त्रियों पर भी तमाम कविताएं लिखी हैं।

' हम जो देखते हैं' उनका तीसरा काव्य संग्रह है। यह कविता संग्रह उत्तर आधुनिकता के धरातल पर लिखा गया है, जिसमें महानगरीय परिवर्तन के साथ-साथ भाषाई परिवर्तन को भी दिखाया गया है। सोवियत संघ के विघटन के बाद भारतीय राजनीति में किस तरह वामपंथ धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। भाषा कैसे बदलने लगती है यह सब कुछ इस संग्रह में मौजूद है। वे सबसे पहले मनुष्यता को स्थान देना चाहते हैं जो कि पूरी दुनिया से धीरे-धीरे गायब हो रहा है-

'टीवी देख -देख कर आजिज आइये।
मौसम से भी बुरी हैं खबरें मौसम की।
प्राणहीन मुस्कानों से ऊबिड़।
ऊबिए बिना प्यार के चुंबनो लेकर।
ऊब मिटाने की खातिर फिर से चुंबन लीजिए।' (8)

विज्ञान हमारे जीवन में अगर प्रगति लेकर के आया है तो उसने मनुष्यता का विनाश भी किया है। आगे बढ़ने की होड़ में हम पीछे होने लगते हैं खासकर प्रौद्योगिकी के दुष्प्रभावों को कविताओं में स्थान देते हैं। उनका कुछ समय अमेरिका में भी बीता है। उन्होंने नजदीक से देखा है कि कैसे वहां नस्लीय हिंसा घृणा और सांप्रदायिकता के रूप में दिखाई देती है। "कागज की कविता" इसका

बहुत अच्छा उदाहरण है -

'आखिरकार मैंने देखा की पत्नी कितनी यातना सहती है

।

बच्चे बावले से घूमते हैं ,

सगे संबंधी मुझसे बात करना बेकार समझते हैं।

पिता ने सोचा अब मैं शायद कभी उन्हें चिढ़ी नहीं

लिखूंगा मुझे क्या था इन सब का पता मैं लिखे चला

जाता था कविता'(9)

वे निराश होने वाले व्यक्ति नहीं हैं उन्हें लगता है कि कविता कहीं ना कहीं हमें सचेत करने का काम करती है । दुनिया का दुख उन्हें दुनिया का नहीं बल्कि खुद का लगता है वे लिखते हैं -

'बीससाल से एक ही जगह है वे जमे हुए हैं।

किसी चमत्कार की प्रतीक्षा में

किसी उम्मीद में हर सुबह खिड़की खोलते हैं ।

पर दोस्तों के चेहरे बदले नहीं उसी तरह सख्त हैं ।'(10)

वे अपनी कविता में विजन साथ लेकर चलते हैं उनकी कविताएं मृत्यु और विनाश के सामने खड़े हुए व्यक्ति की मनःस्थितियों में ले जाती हैं । कभी-कभी तो कविताएं एक लंबी उदासी और दुख के साथ जुड़ी दिखती हैं लेकिन साथ ही वह उन सब से निजात पाने की जद्दोजहद भी करती है । सन 2000 में उनका एक नया संग्रह आता है "आवाज भी एक जगह है"

इसमें दो कविताएं बहुत महत्वपूर्ण हैं । छुपम -छुपाई और दृश्य ।इन दोनों में आप समकालीन कविता का विकास देख सकते हैं कि कविता कहां से कहां पहुंच गई । एक कविता है -'गायकी 'जो कि उन्होंने संगीत विषय

को आधार बनाकर के लिखी है ।यह कविता हमारे सामने आख्यान की तरह आती है ।इसी संग्रह में वे मुक्तिबोध पर एक कविता लिखते हैं -

'बिना शिष्य का गुरु केशव अनुरागी

नशे में धुत्त सुनाता था एक भविष्यहीन ढोल के बोल

किसी ने अपनायी नहीं उसकी कला

गढ़वाल के गीतों को जिसने पहुंचाया शास्त्रीय आयामों

तका'(11)

इस कविता में मंगलेश डबराल एक संगीत प्रेमी अद्भुत कलाकार के अंतर्द्वंद को उभारते हैं और बताते हैं कि किस कदर कलाकार भी ऊंचे दर्जे के होते हैं और आत्मविस्मृति कैसे उन्हें अपनी कला में और डुबो देती है। समाज ऐसे कलाकारों से प्रेम करता है। इस संग्रह की तमाम कविताएं मध्यवर्गीय महानगरीय दुनिया से निकलते हैं क्योंकि कवि इनके आसपास ज्यादा रहा है । एक ऐसी ही कविता है -'घर की काया 'जिसमें एक मध्यवर्गीय व्यक्ति की साप्ताहिक दिनचर्या का जिक्र है किराए के घर का वर्णन है।

मंगलेश डबराल ने कवि के रूप में सबसे ज्यादा ख्याति अर्जित की है लेकिन वे गद्य भी लिखते रहे हैं उनका गद्य भी कविताओं की तरह बहुत स्वाभाविक और जीवंत रहा है। इनकी कविता हमें आत्मविश्वास पैदा करती है काव्यधारा एक खास किस्म की संवेदनशीलता प्रदर्शित करती है सामान्य से सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी इनकी कविताओं से अपने जीवन को जोड़ लेता है यही शायद एक कवि का सबसे बड़ा साहित्य और समाज के प्रति अवदान होता है मंगलेश डबराल एक कवि के रूप में समकालीन हिंदी कविता में बेहद लोकप्रिय हैं।

संदर्भ सूची -

- 1- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, पृष्ठ संख्या 64
- 2- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, पृष्ठ संख्या 64
- 3- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन पृष्ठ संख्या 69
- 4- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, मुक्ति पृष्ठ संख्या 70
- 5- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, गिरना, पृष्ठ संख्या 14
- 6- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, अकेला आदमी, पृष्ठ संख्या -39
- 7- मंगलेश डबराल, पहाड़ पर लालटेन, शहर- 2 पृष्ठ संख्या 42
- 8- मंगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, अमेरिका में कविता, पृष्ठ संख्या 76
- 9- मंगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, 'लिखे चला जाता था' पृष्ठ संख्या 47
- 10- मंगलेश डबराल, हम जो देखते हैं, 'बीस साल' पृष्ठ संख्या 40
- 11- मंगलेश डबराल, "आवाज भी एक जगह है" केशव अनुरागी पृष्ठ संख्या 29



‘निर्मला जैन की आत्मकथा में चित्रित तत्कालीन समय और समाज’

अंजू सिंह

बर्द्धमान विश्वविद्यालय

56/सी अब्दुल जब्बर रोड

कांचड़ापाड़ा उत्तर 24 परगना

पिन : 743145

ई-मेल- anjukpa3@gmail.com

जमाने में हम हिंदी की महिला आलोचक निर्मला जैन की आत्मकथा है। इसका प्रकाशन 2015 में हुआ। इस आत्मकथा के माध्यम से साहित्यकार ने पाठकों के समक्ष साहित्य के बौद्धिक वर्ग की एक ऐसी अकथ कहानी प्रस्तुत की है, जो आज़ादी के बाद हिंदी साहित्य की समीक्षा बन गयी है। यह आत्मकथा इतनी विविधता, सृजनात्मकता, विस्तार और गहराई लिए हुए है कि इसकी रोशनी में साहित्य, समाज की अवधारणा, भ्रम, प्रश्न, दशा, दिशा और उसकी चुनौतियों को सहजता से समझा जा सकता है। ‘जमाने में हम’ अपने शीर्षक को बहुत हद तक सार्थक करती है क्योंकि यह केवल निर्मला जी के जीवन की ही कहानी नहीं बल्कि दिल्ली की कहानी है। विश्वविद्यालय की कहानी है। साहित्यकारों की कहानी, छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता, राजनीतिक उठापटक की समक्ष पैदा करने में हमारी मदद करती है। आत्मकथा कुछ अन सुलझे प्रश्नों का भी समाधान करती है, जैसे- समीक्षात्मक लेखन क्यों बंद हो गया? काव्य शास्त्र की दिशा में लेखन क्यों बंद हो गया? क्यों सिर्फ निजी पुस्तकालय संस्करण निकले लगे? बाद की पीढ़ी साहित्य के प्रति संवेदनहीन क्यों हो गई? क्यों समकालीन रचनाकारों के बीच संवाद भंग हो गया।)

‘जमाने में हम’ हिंदी की जानी-मानी आलोचक निर्मला जैन की आत्मकथा है। इसका प्रकाशन 2015 में हुआ। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने पाठकों के समक्ष साहित्य के बौद्धिक वर्ग की एक ऐसी अकथ कहानी प्रस्तुत की है, जो आज़ादी के बाद हिंदी साहित्य की समीक्षा बन गयी है।

‘जमाने में हम’ हिंदी की जानी-मानी आलोचक निर्मला जैन की आत्मकथा है। इसका प्रकाशन 2015 में हुआ। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने पाठकों के समक्ष साहित्य के बौद्धिक वर्ग की एक ऐसी अकथ कहानी प्रस्तुत की है, जो आज़ादी के बाद हिंदी साहित्य की समीक्षा बन गयी है। यह आत्मकथा इतनी विविधता, सृजनात्मकता, विस्तार और गहराई लिए हुए है कि इसकी रोशनी में साहित्य समाज की अवधारणा, श्रम, प्रश्न, दशा, दिशा और उसकी चुनौतियों को सहजता से समझा जा सकता है। प्रस्तुत आत्मकथा साहित्यकारों, अकेडमिक साहित्यकारों और शिक्षा जगत के ज्वलंत मुद्दों को उजागर ही नहीं करती बल्कि साहित्यिक जगत की राजनीति, लेखन और प्रकाशन के अंतर्गिहित् संबंधों को बारीकी से चित्रित भी करती हैं।

आत्मकथा का आरंभ ‘बचपन की वापसी’ शीर्षक से होता है। लेखिका दिल्ली के उस मकान में पहुँचती हैं, जहाँ उनका बचपन गुजरा था। लेकिन अब वह मकान उनका नहीं था। वहाँ पहुँचकर उनका समस्त बचपन उनके आँखों के सामने साकार हो उठता है। उदाहरणार्थ- ‘समय में वापसी अजीबो-गरीब सूत्रों के

सहारे हो रही थी। हवेली के वर्तमान निवासी अब भी उसी पारिवारिक बनत में कँधे थे, जिसमें हमने होश संभाला था यानी तीन-चार भाइयों का संयुक्त परिवार, साझा रसोई नीचे ड्योढ़ी के सामने वाले बड़े से कमरे में फर्शी दरी पर बैठी एक प्रौढ़ महिला हाथ की मशीन पर खटाखट कुछ सिलाई कर रही थीं। वैसे ही जैसे पचहत्तर बरस पहले हमारी माँ किया करती थी।¹ पिता लाला मीरीमल का माता चंपा देवी से तीसरा अवैध विवाह, विवाह के कई वर्ष उपरान्त चंपा देवी का पिता के संयुक्त परिवार को तत्परता के साथ संभालना तथा पिता की मृत्यु बाद बच्चों की पढ़ाई-लिखाई एवं परिवार को निष्ठा से संभालने का वर्णन आत्मकथा में किया गया है। लेखिका की आरंभिक पढ़ाई इन्द्रप्रस्थ स्कूल से हुई। आगे चल कर मैट्रिक उन्होंने पंजाब के एक प्राइवेट स्कूल से इकोनॉमिक्स, हिस्ट्री और सिविल्स में किया। 1947 में लेखिका ने इन्द्रप्रस्थ कॉलेज में अर्थशास्त्र ऑनर्स बदल कर डॉ० सावित्री सिन्हा से प्रभावित होकर हिन्दी में ऑनर्स ले लिया। उदाहरणार्थ- “डॉ० सावित्री सिन्हा के हँसमुख और मिलनसार स्वभाव से प्रेरित होकर मैंने अपनी राह बदल ली।”² लेखिका का जीवन भी उन्हीं साधारण परिवार में होनेवाली पारिवारिक जद्दोजहद से संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। जिस प्रकार एक आम महिला संघर्ष करती है। अपने परिवार के आर्थिक संकट का वर्णन करती हुई लेखिका लिखती हैं- “गृहस्थी के रोजमर्रा के खर्चों में भी उनका हाथ खिंचा रहने लगा था। यह तो हम महसूस करने लगे थे, पर इसके कारण और इसके निदान के संभावित रास्तों की समझ हमें नहीं थी।”³

लेखिका का विवाह देहरादून के एक सम्मानित परिवार के एकलौते पुत्र श्री विद्यासागर से होता है। विवाह के तत्काल बाद ग्राम जीवन से जुड़े कई कटु-मधुर प्रसंग का वर्णन लेखिका ने आत्मकथा में किया है।

सहारपुर गाँव का वर्णन जीवन्त हो उठा है। इस संबंध में लेखिका लिखती हैं- “ग्रामीण परिवेश से जुड़े ऐसे अनेक अनुभव मेरी यादों में पैवस्त हैं। इतना ही नहीं, मेरे आचरण पर भी कहीं-न-कहीं उतने अंश की छाप है जिसे मैंने अनजाने में ही आत्मसात कर लिया था।”⁴ लेखिका का जीवन किसी-न-किसी पारिवारिक, सामाजिक और साहित्यिक संघर्षों से अछूता नहीं रह सका। जब हम लेखिका के उस दौर पर नजर डालते हैं तब जाकर महसूस होता है कि लेखिका ने आज से कहीं-कहीं ज्यादा जटिल समाज और अधिक चुनौतियों का सामना करते हुए अपने पैरों पर खड़ी हो पायीं। उदाहरणार्थ-“ उस दौर में लगभग डेढ़ घंटे का समय यात्रा के खाते में और तीन-चार घंटे का समय कक्षाओं के नाम लिखकर जो बाकी समय बचता था, उसमें मैं गृहस्थी की गाड़ी ढो रही थी। जब जैसी सुविधा होती, एकाघ घंटा पुस्तकालय में बैठकर नोट्स बनाने के लिए भी जुटा ही लेती थी। ससुरालवालों की नजर में मेरे पढ़ने-लिखने की कभी कोई कदर ही नहीं रही। दरअसल उनकी नजर में वह जरूरी थी ही नहीं। जैन साहब के लिए यह इसलिए कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि उन्होंने हमेशा मेरी इच्छा का सम्मान किया। इस व्यवस्तता में भी पढ़ाई पूरी करने में मेरी खुशी थी, बस इतना भर उनके सहयोग के लिए काफी था।”⁵

1950 के दशक में शादी और दो बच्चे होने के बाद लेखिका औसत मध्यम वर्गीय जीवन जीने को मजबूर थी। इन हालातों में उनकी कठिनाईयों से किसी का कोई लेना देना नहीं था और लेखिका अंदर ही अंदर टूट रही थी। लेकिन अचानक एक दिन जिस प्रकार हनुमान को उसकी शक्ति का अहसास करा कर समुद्र पार भेज दिया जाता है, उसी प्रकार लेखिका की चाची ने हौसला अफजाई की और उनमें साहस भर दिया। लेखिका के शब्दों में- “बात मेरे मन में धँस गई, बहुंत

गहराई तक। शायद एक कारण कहनेवाले की उम्र का तर्जुबा, हैसियत और मेरे प्रति उनका गहरा सरोकार था। वे सिर्फ़ कह नहीं रही थी, मेरी हौसला अफ़जाई कर रही थीं, मुझमें साहस भर रही थी, जिसमें कुछ चुनौती भी थी ही। मैं इस घटना को अपने जीवन का ऐतिहासिक क्षण मानती हूँ। मैंने उनसे तो इतना ही कहा कि मैं कोशिश करूँगी, पर मन-ही-मन साहस बटोरा, कुछ फ़ैसले किए। उन फ़ैसलों को कार्यान्वित करने के संकल्प के साथ जब दिल्ली लौटी तो मैं ठीक वही नहीं थी, जो वहाँ नाने से पहले थी।⁶

जीवन की जद्दोजहद ने लेखिका को निडर साहसी और स्पष्टवादी व्यक्तित्व का धनी बना दिया। इसी वजह से उन्होंने उस दौर के मशहूर कला विभाग अध्यक्ष डॉ० नगेन्द्र के बारे में तरह-तरह के किस्से को भी बड़ी सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ - “जब हमने दिल्ली विश्वविद्यालय में एंट्री ली तो वहाँ हिन्दी के संदर्भ में जो कुछ थे, बस डॉ० नगेन्द्र थे और था उनका आभा मंडल-अविधा और लक्षणा दोनों अर्थों में..... एक अर्थ में वे किंवदन्ती पुरुष थे, उनके बारे में प्रसिद्ध था कि आगरा विश्वविद्यालय में सीधे डी.लीट. की उपाधि दी थी पी. एच.डी लांघकर, दूसरी प्रसिद्धि यह थी कि वे तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद की अनुकम्पा के पात्र थे... यह संबंध बाद में डॉ० साहब की पदोन्नति में बहुत कारगर साबित हुआ।⁷ शुरुआत में डॉ० नगेन्द्र को निर्मला जैन अच्छी छात्रा नहीं लगी। जिसकी चर्चा डॉ० सावित्री के माध्यम से की गई है कि जब डॉ० सावित्री ने लेखिका का उल्लेख उनके सामने किया तो डॉ० नगेन्द्र की प्रतिक्रिया थी- “हमें तो कुछ जंची नहीं। शी इड मोर स्मार्ट। क्योंकि डॉ० नगेन्द्र की नजरों में सबसे होनहार लड़की उनके सहयोगी मित्र अंग्रेजी के कुंवर लाल वर्मा की छोटी बहन थी।⁸ विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए लेखिका ने यह भी अनुभव

किया कि डॉ० नगेन्द्र उनके साथ पक्षपात करते हैं। उदाहरणार्थ- “मेरा वह पर्चा बहुत अच्छा हुआ था। मैं आश्वत थी सबसे ज्यादा अंक मुझे ही मिलेंगे, जब अंकतालिका हाथ आई तो संतोष को मुझसे दो नंबर ज्यादा मिले थे। मैं समझ गयी डॉ. साहब ने मित्र धर्म का निर्वाह किया है।⁹ अपने विद्यार्थी जीवन में लेखिका ने छायावाद के दो प्रसिद्ध कवियों के दर्शन का भी वर्णन किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए डॉ. नगेन्द्र की सहयोगिता से विद्यार्थियों को महादेवी वर्मा और सुमित्रानंदन पंत के सुलभ दर्शन होते हैं। लेखिका पंत जी के संबंध में लिखती हैं - “वह व्यस्क चोले में प्रच्छन्न सरल बाल गोपाल है। अपने तीनों सहयात्रियों में सबसे अलग कुछ विशिष्ट और शायद एक हत तक आत्ममुग्ध भी।¹⁰ महादेवी जी के संबंध में लिखती हैं- ‘बड़ा भारी -भरकम व्यक्तित्व था उनका - अभिधा और लक्षणा, दोनों में।¹¹ लेखिका का अध्यापन की दुनिया में पहला सफर दिल्ली के लेडी श्रीराम कॉलेज से आरंभ होता है। लेडी श्रीराम कॉलेज में नियुक्ति से लेकर हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के पद पर चौदह वर्षों (1956-70) तक आसीन रहने का वर्णन लेखिका ने बड़ी रोचकता के साथ किया है। उदाहरणार्थ- “कुल मिलाकर लेडी श्रीराम कॉलेज में जीवन बहुत हँसी-खुशी बीत रहा था। विभाग का विस्तार हो गया था। हर साल एक नया चेहरा आकर जुड़ जाता था। औरों के अलावा, कई सदस्यों का संबंध हिन्दी साहित्य के ख्यातनामा रचनाकारों से था। उनमें क्रमशः उपन्यासकार कृष्णचन्द्र शर्मा ‘भिक्षु’ की पत्नी शकुन्तला शर्मा, कवि भारतभूषण अग्रवाल की पत्नी डॉ० बिन्दु अग्रवाल, डॉ० नगेन्द्र की छोटी बेटी प्रतिमा, कवि गिरिजा कुमार माथुर की बेटी बीना और मनोहर श्याम जोशी की पत्नी भगवती नैसे तमाम नाम शामिल थे। इनके अलावा कवयित्री इन्दु जैन भी आते-आते रह ही गई थीं। इन सबके विभाग में होने से अकादमिक

दुनिया के बाहर कै साहित्यिक परिदृश्य से भी कमोबेश संबंध बना रहता था। उस समय अध्यक्ष पद रोटेट नहीं होता था, इसलिए मैं चौदह वर्ष (1950-70) तक लेडी श्री राम कॉलेज के हिन्दी विभाग के आध्यक्ष-पद पर बनी रही। कॉलेज में यों भी हिन्दी साहित्य-सभा बेहद सक्रिय रही। यादगार कार्यक्रमों का सिलसिला पहले ही वर्ष दरियागंज से शुरू हो गया था।¹²

आत्मकथा में लेखिका ने वरिष्ठ साहित्यकारों के साथ अपने मधुर एवं खट्टे-मीठे अनुभवों का वर्णन किया हैं। मैथिलीशरण गुप्त, हरिवंशराय बच्चन, बालकृष्ण शर्मा(नवीन), सियारामशरण गुप्त, भरतभूषण अग्रवाल, अज्ञेय, सर्वशेखर दयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, नामवर सिंह जैसे विख्यात साहित्यकारों के साथ अपने संबंधों का वर्णन आत्मकथा में बड़ी निश्च्छलता के साथ लेखिका ने किया है। खैर खट्टे-मीठे अनुभव के बाद उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ प्रारंभ हो जाती हैं। निर्मला जैन एक ऐसा नाम था जिन्हें अपने समय के नये-पुराने साहित्यकारों के साथ काम करने का अवसर मिला। जिस कारण उनकी साहित्यिक चेतना भी विकसित होने लगी थी। इसीलिए ज़माने में हम' में लेखिका इस बात का भी साहस और सहजता से वर्णन करती हैं कि - “वे दर्शक को आकर्षित नहीं, आतंकित ज्यादा करते थे - अपनी सुपर बौद्धिक छाप से। यह समझने में लम्बा समय लगा कि वह उनका सहज नहीं अर्जित-आरोपित व्यक्तित्व था, जिसे उन्होंने बड़े यत्न से साधा था।¹³ आत्मकथा में साहित्यिक जगत में होनेवाले सम्मेलनों की गतिविधियों की बारीकी से जॉच-पड़ताल की गई है। प्रबुद्ध वर्ग कहे जाने वाले इस समाज में भी चापलूसी, पिछलग्गूपन महत्वपूर्ण रथान रखता है। लेखिका का मानना है कि एक तरफ अज्ञेय के पिछलग्गुओं के रूप में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय नजर आते

है तो वही दूसरी तरफ अज्ञेय को पुनः मंच सुलभ कराने का अभियान सर्वेश्वर जी ने चला रखा था। उदाहरणार्थ “छोटे भाई ने उन दिनों ‘बड़े भाई’ को मंचों पर सुलभ कराने का अभियान चला रखा था, क्योंकि काफ़ी दिन नखरा दिखाने के बाद अज्ञेय जी की समझ में यह बात आ गई थी कि इस चक्कर में वे धीरे-धीरे अलभ्य नहीं, अलोकप्रिय होते जा रहे हैं। लोगों ने उन्हें आमंत्रित करना ही छोड़ दिया है। इस अप्रत्याधित रिथति में उन्हें पुनः मंच-प्रतिष्ठित करने की जिम्मेदारी सर्वेश्वर जी ने ले ली थी।¹⁴

आत्मकथा में लेखिका इस बात का खुलासा भी करती है कि हिन्दी साहित्य में चयन समिति कैसे काम करती है। अपनी लॉबी को बड़ा करने के लिए किस प्रकार अध्यापकों की नियुक्ति की जाती है। क्यों पदोन्नति रोक दी जाती है। किस प्रकार साहित्यकार को साहित्य बिरादरी से बाहर किया जा सकता है। समझौता परस्ती और तानाशाही साहित्य जगत में एक साथ कैसे काम करती है। दिल्ली विश्वविद्यालय में नयी नियुक्तियों एवं पदोन्नति को लेकर चल रहे षड़यंत्र का भांडा-फोड़ करते हुए लेखिका लिखती हैं- “ऐसा एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रसंग विभाग के भीतर घटित हुआ। डॉ० उदयभानु सिंह मध्यकालीन कविता, विशेषकर तुलसीदास के जाने-माने विशेषज्ञ थे। विभाग में उनकी नियुक्ति आरंभ में ही हो गई थी- ‘लेक्चरर’यानी एसिस्टेंट प्रोफेसर के पद पर। अध्यापक भी बहुत अच्छे थे। सालों-साल डॉ० नगेन्द्र ने उनकी पदोन्नति विभाग में नहीं होने दी। स्थानीय कॉलेजों से एक के बाद एक लोग लाए जाते रहे जो किसी अर्थ में उनसे अधिक योग्य नहीं थे। सिर्फ डॉ० नगेन्द्र की निजी पसंद-नापसंद के कारण, ‘सीनियरिटी’ के लचर तर के सहारे। अन्ततः डॉ. सिंह का धैर्य जवाब दे गया। उन्होंने विद्रोह का बीड़ा उठा लिया, पर विश्वविद्यालय और हिंदी जगत में डॉ. नगेन्द्र का इस

कदर दबदबा था कि न कुलपति और नहीं विषय के विशेषज्ञ इस मामले में डॉ० उदयभानु सिंह की सहायता कर पा रहे थे। गोकि सहानुभूति बहुतों की उनके साथ थी। सबसे दुखद बात पूरे प्रसंग भी यह थी कि डॉ० नगेन्द्र ने विश्वविद्यालय के हिन्दी समाज में भी उनकी स्थिति 'बिरादरी बाहर' की-सी कर दी थी।¹⁵ उस समय के इस विभागीय षड़यंत्र के शिकार केवल उदयभानु सिंह ही नहीं हुए बल्कि लेखिका को भी लेडी श्रीराम कॉलेज से दिल्ली विश्वविद्यालय में नियुक्ति के लिए अनेक षड़यंत्रों का सामना करना पड़ा। वर्तमान समय के महान आलोचक एवं विख्यात साहित्यकार नामवर सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय में नियुक्ति के षड़यंत्र को झेलने वाले जीवन्त उदाहरण हैं। उस समय के शिक्षा मंत्री डॉ० नूरल हसन दिल्ली विश्वविद्यालय में डॉ० सावित्री सिन्हा के खाली पद पर नामवर जी की नियुक्ति चाहते थे लेकिन विभागाध्यक्ष डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, वाईस चांसलर डॉ० सरूप सिंह तथा डॉ० नगेन्द्र भी, सभी नामवर-विरोधी मोर्चे में शामिल थे। उदाहरणार्थ- “अनुमान लगाया जा सकता था कि अगले दिन की बैठक के लिए स्ट्रैटेजी तैयार की जा रही होगी। डॉ० स्नातक की टेक थी, कि अगर नामवर सिंह विभाग में आ गए तो सबसे पहले उनका एक्सटेंशन रोकने की दिशा में कदम उठाएँगे। यह गुहार उन्होंने कई लोगों से समर्थन और सहानुभूति बटोरने के लिए लगाई थी। डॉ० सरूप सिंह के साथ यों भी उनका जाति-संबंध था। नामवर सिंह की आमद रोकने के अभियान में वे उनके साथ थे।”¹⁶

वर्तमान समय में बहुत सी साहित्यकारों द्वारा साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाया जा रहा है। साहित्य जगत में इस प्रतिक्रिया के पक्ष और विरोध में लोग खड़े हो गए हैं लेकिन साहित्य अकादमी की विश्वसनीयता पर पहले से ही प्रश्न चिन्ह लगे हुए हैं। डॉ० नगेन्द्र को

साहित्य अकादमी पुरस्कार दिया गया जबकि अधिकतर साहित्यकार मुक्तिबोध को मरणोपरांत साहित्य अकादमी पुरस्कार देने के पक्ष में थे। उदाहरणार्थ- “अधिकांश की हार्दिक इच्छा थी कि साहित्य अकादमी का पुरस्कार उस वर्ष मुक्तिबोध को मिले। ज़हिर है, नामवर सिंह भी यही चाहते थे और हार्दिक इच्छा भारतभूषण अग्रवाल की भी यही थी, भले ही वे डॉ० नगेन्द्र के आतंक के कारण ऐसा कह नहीं पा रहे थे।..... कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि मोर्चे कुछ इस कदर तन गए अन्ततः भारत जी से कुछ करते नहीं बना। बेहद विवश लगभग रुआँसे होते हुए उन्होंने अपनी ईमानदारी को स्थगित कर पुरस्कार का फैसला डॉ० नगेन्द्र के पक्ष में करा दिया। पर इस पूरे घटना-चक्र में बड़े महारथी कहे-समझे जानेवाले विद्वानों के चेहरों से ईमानदारी का मुखौटा उतरते देखा मैंने।”¹⁷

आत्मकथा में लेखक-प्रकाशक संबंधों को भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। लेखक - प्रकाशक का आपसी संबंध पुस्तक प्रकाशन में कितना महत्त्वपूर्ण रोल निभाती है, इसका वर्णन भी आत्मकथा किया गया है। यह भी स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है कि किसी बड़े लेखक का प्रकाशन से जुड़ना उनके शिष्यों के लिए राह आसान कर देता है। हिन्दी साहित्य के नामी राजकमल प्रकाशन का विक्रय प्रसंग भी लेखक, प्रकाशक और प्रकाशक के संबंधों को बहुत ही बारीकी से पाठकों के साथ साझा किया है। उदाहरणार्थ - “शीला जी का आग्रह था कि जब तक यह सौदा पूरा न हो जाए, मैं उनके साथ एकजीक्यूटीव

डाइरेक्टर की हैसियत से राजकमल में बैठूँ।”¹⁸

आलोच्य आत्मकथा नई कहानी आन्दोलन की साहित्यिक राजनीतिक उठापटक की समझ पैदा करने में हमारी मदद कर सकती हैं। राजेन्द्र यादव,

नामवर सिंह, मन्नु भंडारी, कमलेश्वर और देवीशंकर अवस्थी जैसे नामों के बीच वैचारिक, राजनीतिक और साहित्यिक चर्चाओं ने संपादन, प्रकाशन और पत्रिका आदि के औचित्य पर कई प्रश्नों को जन्म दिया है। आत्मकथा कुछ अनसुलझे प्रश्नों का भी समाधान करती है जैसे- समीक्षात्मक लेखन क्यों बंद हो गया? काव्य शास्त्र की दिशा में लेखन क्यों बंद हो गया? क्यों सिर्फ निजी पुस्तकालय संस्करण निकलने लगे? बाद की पीढ़ी साहित्य के प्रति संवेदनहीन क्यों हो गयी? क्यों समकालीन रचनाकारों के बीच संवाद भंग हो गया?

आत्मकथा की विश्वसनीयता स्थापित करने के लिए लेखिका ने इसके अन्त में कई साहित्यकारों के पत्रों का उल्लेख किया है। जिसने आत्मकथा को और अधिक रोचक बना दिया है। 'जमाने में हम' अपने शीर्षक को बहुत हद तक सार्थक करती है क्योंकि यह केवल निर्मला जी के जीवन की ही कहानी नहीं बल्कि दिल्ली की कहानी है। विश्वविद्यालय की कहानी है। साहित्यकारों की कहानी, छायावाद, प्रयोगवाद, नई कविता, नई कहानी की कहानी है। संपादक, संपादन और प्रकाशक तथा प्रकाशन की कहानी है। यह गुरु-शिष्य के साथ-साथ राजनीति के संबंधों की भी कहानी है।

संदर्भ सूची :

1. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ. सं०-13-14
2. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -51
3. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -54
4. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -73
5. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -77
6. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -87
7. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -92
8. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -96
9. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -96
10. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -101
11. वहीं , पृ० सं० -102
12. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -127-128
13. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -138
14. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -138
15. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -142
16. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -209
17. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -173
18. जैन, निर्मला, जमाने में हम, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण- 2015, पृ० सं० -307



अंजना वर्मा की कहानियों में वृद्ध जीवन का वृहत्तर यथार्थ

डॉ. शशि शर्मा

गौर आवासन, रविन्द्रपल्ली, माटीगाड़ा-734010

पश्चिम बंगाल

anantshashi.sharma43@gmail.com

वृ

द्धावस्था जीवनानुभवों से परिपूर्ण जीवन प्रक्रिया का अंतिम पड़ाव है। इस पड़ाव पर पहुँचकर वे जिस अनुभव को अर्जित करते हैं, वह अनुभव भविष्य की पीढ़ी को

सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक दृष्टि से समृद्ध होने में काफी मददगार है। यही वजह है कि परंपरागत समय में वृद्धों को बहुत सम्मान प्राप्त था, वे परिवार और समाज में पूजनीय थे। उनकी महत्ता परिवार और समाज में बरगद के वृक्ष की तरह थी, जिनकी छाँव तले बच्चे और युवा सभी सामाजिक, व्यवहारिक, सांस्कृतिक और नैतिक दृष्टि से संपन्न होते थे।

किंतु आज दृश्य परिवर्तित है। आधुनिकरण, भूमंडलीकरण, संयुक्त परिवार के विघटन, तकनीकी विकास, नयी जीवन शैली, कोरोना महामारी आदि ने संबंधों के इस समीकरण को पूरी तरह बदल दिया है। वृद्ध आज हाशिए पर है। पारिवारिक और

सामाजिक उपेक्षा और तिरस्कार ने उन्हें अंतहीन एकाकीपन के अँधेरे में धकेल दिया है। वर्तमान समय में वृद्धाश्रमों की बढ़ती संख्या इस तित्त यथार्थ को दर्शाने के लिए काफी है। प्रख्यात रचनाकार एवं संपादक अखिलेश इस परिवर्तन को महसूस करते हुए लिखते हैं – “भूमंडलीकरण और संचार क्रान्ति के बाद दुनिया काफी बदल गई है। भारतीय समाज के विषय में विचार करें तो कह सकते हैं कि उक्त बदलाव का सर्वाधिक

हमारे आसपास जो कुछ हम देखकर अनदेखा कर देते हैं, अंजना वर्मा वहीं से कहानियों का ताना-बाना बुनती है। उनकी कहानियों को समझने के लिए किसी खास किस्म के बौद्धिकता की दरकार नहीं है, दरकार है अपने संकीर्ण हृदय को संवेदनशील बनाने की।

असर यहाँ इनसानी रिश्तों पर ही पड़ा है। उस पर इतने आघात, इतने घाव हुए कि उसके विगत चेहरे को पहचानना नामुमकिन हो चुका है। रिश्तों के मध्य की गरमजोशी, संवेदना,

विश्वास, एका आदि के तार छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। हम कह सकते हैं कि रिश्तों का यह भरा-पूरा संसार छूट रहा है, बिछड़ रहा है।”^[1]

हिंदी साहित्य में वृद्ध जीवन को केन्द्रित कर कई कहानियाँ लिखी गई है। प्रेमचंद से लेकर वर्तमान समय

के कई कहानीकारों की कहानियों में वृद्धावस्था का कारुणिक यथार्थ गहरी संवेदना और व्यापकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। वरिष्ठ आलोचक पुष्पपाल सिंह का मत इस दृष्टि से उल्लेखनीय है – “वृद्धावस्था हमारे सामाजिक परिदृश्य में इतनी भयावह समस्या का रूप ले चुकी है कि प्रत्येक

रचनाकार की मानसिक स्थिति उससे आक्रान्त है, यही कारण है कि इस कथ्य पर विपुल कथा-साहित्य (कहानी और उपन्यास) रचा गया है।”^[2] कहने का तात्पर्य यह है कि परिवेशगत परिवर्तन के स्थान वृद्ध जीवन की मनोवेदना ने साहित्य में केन्द्रीय स्थान ग्रहण करना आरंभ किया।

कविता, कहानी, यात्रा-वृतांत, बाल-साहित्य आदि कई विधाओं को अपनी लेखनी से समृद्ध करने वाली

अंजना वर्मा समकालीन दौर की चर्चित लेखिका है। इनकी लेखनी परिवेशगत यथार्थ का अक्स है। आज हम जिस जटिल जीवन को जी रहे हैं, जिस त्रास को महसूस कर रहे हैं, उसे अभिव्यक्त करना उतना ही कठिन है जितना जीना। अंजना वर्मा इस जटिल जीवन यथार्थ को अत्यंत सहजता और बारीकी से उघाड़कर हमारे समक्ष रख देती है। उनकी कहानियों के बारे में ‘सुसंभाव्य पत्रिका के यशस्वी संपादक दयानन्द जायसवाल अपनी पुस्तक ‘बिहार के हिंदी साहित्य का इतिहास’ में लिखते हैं – “इनकी कहानियों में कई स्तरों पर जीवन के ताप की जलन को महसूस किया जा सकता है। दुःख की संवेदना खास वर्ग से चिपकी हुई नहीं है। इसका विस्तार कहानियों में देखा जा सकता है। इनमें सर्जनात्मक दृष्टि का फैलाव है।” [3]

हमारे आसपास जो कुछ हम देखकर अनदेखा कर देते हैं, अंजना वर्मा वहीं से कहानियों का ताना-बाना बुनती है। उनकी कहानियों को समझने के लिए किसी खास किस्म के बौद्धिकता की दरकार नहीं है, दरकार है अपने संकीर्ण हृदय को संवेदनशील बनाने की। वास्तव में उनकी कहानियाँ हमारे बेहद पास के मनुष्य के मनोजगत की कहानियाँ हैं, जिनकी तकलीफ उन्हें सालती है, जिनकी अनकही पीड़ा से वह मर्माहत होती है। इन बेहद पास के मनुष्यों में हमारे परिवार और समाज के वृद्ध सर्वप्रमुख है। उनकी कई कहानियाँ वृद्ध जीवन को टटोलती, उनकी पीड़ा, उनके मनोजगत के आरोह-अवरोह को समझती हुई शब्दबद्ध हुई हैं। इन कहानियों में सिमरन आंटी, यहाँ वहाँ हर कहीं, कितना और, दर्द आदि उल्लेखनीय है। इन कहानियों में वृद्ध जीवन का वृहतर पहलू दृष्टिगत होता है।

सेवानिवृत्ति कर्मजीवन से मुक्ति भले ही हो परंतु वर्तमान समय में वृद्ध सबसे ज्यादा प्रताड़ित और अवहेलित इसके उपरांत ही हो रहे हैं। कर्मजीवन का विराम

अकेलेपन की त्रासदी में परिणत हो रहा है। परिवार में रहकर भी वे निपट अकेले हैं। एक अथाह शून्यता का बोध उन्हें हर क्षण कचोटता है। गौरतलब है कि महानगर की दौड़ती-भागती जिंदगी में भौतिक जरूरतें जितनी महत्त्व रखती है उतनी मानसिक और आत्मिक जरूरतें नहीं। कहानीकार इसे शिद्दत से महसूस करती है। उनकी कहानियों के सभी पात्र अकेलेपन की त्रासदी से बेहाल दिखते हैं। रवीन्द्र बाबू, सहायजी, सिमरन आंटी, माँ आदि सभी पात्र अकेलेपन से मुक्ति के लिए जद्दोजहद करते दिखते हैं। ‘यहाँ-वहाँ हर कहीं’ कहानी के रवीन्द्र बाबू जिनका कर्मजीवन घूमते-फिरते, लोगों से मिलते-जुलते बीता, जब महानगर में रह रहे बेटे-बहू के पास रहने आते हैं तो एकाकीपन की पीड़ा से छटपटा जाते हैं। कहने को तो वे अपने बेटा-बहू के साथ रह रहे हैं पर एक अजीब निस्संगता का बोध उन्हें भीतर तक इस कदर जर्जरित करता कि- “शाम के चार बजते कि खाने से अधिक बाहर निकलने की इच्छा जोर मारती। बाहर आकर लोगों को चलते-फिरते, आते-जाते देखते तो उन्हें लगता कि उनकी नसों में भी खून दौड़ रहा है। तब अपने हिस्से के अकेलेपन में निष्क्रिय हुआ दिमाग पूरी तरह सक्रिय हो उठता, तरह-तरह के ख्याल दिल की धड़कनों के साथ गुंथ जाते और वे पूरी जिजीविषा से भर उठते।” [4]

रवीन्द्र बाबू की स्थिति वृद्ध जीवन की भयावहता की ओर संकेत करती है। जहाँ अपनों की उपस्थिति के बावजूद जीवन जीना इतना मुश्किल हो रहा है कि उसके लिए तरह-तरह के उपक्रम करने पड़ रहे हैं। गार्डन रीच शिपविल्डर्स एंड इंजीनियर्स लिमिटेड, कोलकाता की अर्धवार्षिक पत्रिका ‘राजभाषा जागृति’ में इस संस्थान की उपमहाप्रबंधक (राजभाषा) और पत्रिका की संपादक सुनीता शर्मा ‘वरिष्ठ नागरिक-हमारी धरोहर’ नामक लेख में वृद्धों की वर्तमान दयनीय

स्थिति पर विचार करते हुए लिखती है – “आज संबंधों के सन्दर्भ बदल रहे हैं। आज आधुनिकतम सुख सुविधाएं तो मौजूद है लेकिन शहरों की भागमभाग व्यस्त जिंदगी ने भावनाएँ छीन ली है, संवेदनाएँ गुम हो चुकी है, उनका स्थान अब वेदनाओं ने ले लिया है। ...इन बदली हुई परिस्थितियों का प्रभाव बच्चों के साथ-साथ बुजुर्गों पर भी पड़ रहा है। यह समस्या केवल उन बुजुर्गों तक सीमित नहीं है जो अकेले रह रहे हैं बल्कि उनकी भी है, जो संयुक्त परिवार में रह रहे हैं, वे भी इस भागमभाग और व्यस्तता में समय के अभाव और ध्यान के अभाव में तिरस्कृत होने के कारण परिवार में होने के कारण बावजूद भी एकाकी महसूस कर रहे हैं।” [5]

हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जहां सब कुछ अर्थकेन्द्रित है। आर्थिक जरूरतों और बेहतर जीवन-शैली जुटाने की जद्दोजह्द में वृद्धों को हाशिये पर रख दिया गया है। महानगर के फ्लैट के बंद दरवाजों की तरह उनकी जिंदगी भी बंद होती जा रही है। कहानीकार रवीन्द्र बाबू के माध्यम से इस पीड़ा को व्यंजित करती है – “पहली बार जब वे इस महानगर में आए थे उन्हें अजीब लगा था कि यहाँ तो सारे दिन दरवाजा बंद रहता है। कई-कई घंटे एकांत में बिताते हुए वे एक इनसान का चेहरा देखने को तरस जाते। जिस रात को वे आए उसके सवेरे आपस में कुछ बातचीत भी न हुई और बेटा-बहू दफ्तर चले गए” [6]

इस कहानी में बंद दरवाजा प्रतीकात्मक अर्थ रखता है। घर का खुलापन अर्थात् लगाव-जुड़ाव, आत्मीय ऊष्मा फ्लैट संस्कृति में अनुपलब्ध है। फ्लैट का बंद दरवाजा वास्तव में हृदय की द्रवणशीलता, आत्मीय ऊष्मा के प्रवाह के बंद होने का द्योतक है। वरिष्ठ आलोचक पुष्पपाल सिंह ने लिखा है – “मानव-मूल्यों में बहुत बड़ी पीड़ा आज संबंधों में ऊष्मा-क्षरण की है। आज संबंध,

उन संबंधों का प्रेम-भाव, ऊष्मा जिस रूप में शेष हो रही है, वह जीवन का बहुत ही पीड़ादायक और कारुणिक पक्ष है।” [7]

महानगरीय जीवन-शैली, फ्लैट कल्चर और आर्थिक जरूरतों ने सामूहिकता और सामाजिकता को पूरी तरह तहस-नहस कर दिया है। बाहर जिंदगी रफ्तार से भाग रही है और फ्लैट के भीतर की जिंदगी अत्यंत धीमी गति से। फ्लैट की चारदीवारी बुजुर्गों के लिए पिंजड़े से कम नहीं। इसी त्रासदी को रवीन्द्र बाबू महसूस करते हैं – “नौ बजते-बजते संजीव और सुरुचि दोनों ही ऑफिस के लिए निकल जाते थे। तब घर में वे ही अकेले बच जाते। पिंजरे में बंद मैना की तरह छटपटाने लगते। कभी पेपर पढ़ते, कभी कोई पत्रिका उलटते तो कभी टीवी ऑन करते। इन सबसे जब ऊबते तो सो जाते। यहाँ किसी से उनकी जान-पहचान न थी, न अपना कोई दोस्त ही था कि उसके यहाँ बैठकर कुछ वक्त गुजार लेते।” [8]

इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध साहित्यकार प्रियदर्शन का यह कथन महत्त्वपूर्ण लगता है – “बुढ़ापे को अकसर अपने पुराने, गुजारे गए दिनों से एक लड़ाई लड़नी पड़ती है – अपनी आदतों से, दूसरों की अपेक्षाओं से और सबसे ज्यादा अपनी कमजोर पड़ती सामर्थ्य और हैसियत से।” [9]

बुढ़ापे में अपने जीवन को अपने हिसाब से जी पाना बहुत मुश्किल होता है। पुरानी आदतें परिवर्तित परिवेश के अनुकूल बदल नहीं पाती है। विशेषकर मानसिक वृत्तियाँ। रवीन्द्र बाबू जैसे वृद्धों के लिए उनकी संतान मनचाहा खाने-पीने, घूमने-फिरने, टीवी जैसी सुविधाएं तो उपलब्ध करा देते हैं पर उनकी मानसिक और आत्मिक जरूरतों की पूर्ति की ओर अग्रसर नहीं होते। इनकी कहानियों में चित्रित वृद्ध जीवन का यह

विडंबनात्मक पहलू हमें झकझोरता है।

अंजना वर्मा की हाल में प्रकाशित कहानी ‘सिमरन आंटी’ की सिमरन आंटी भी अकेलेपन की यातना से ग्रसित है। ऐसा नहीं है कि वह बिल्कुल अकेली है, उनका भाई है जो कुछ ही दूरी पर रहता है और उनकी खोज खबर लेता है। घर पर एक नौकरानी मुन्नी है जो उनकी देखभाल करती है। फिर भी सिमरन आंटी अकेलेपन के अहसास से त्रस्त रहती है। उनके दो बेटे हैं जो विदेश में बस चुके हैं। भविष्य को संवारने में उनका माँ के पास लौटना असंभव है। संतान से अलग सिमरन आंटी कभी मुन्नी में तो कभी अपने किरायेदारों में ही संतान सुख खोजने लगती है और उनपर अपना ममत्व लुटाने के लिए हमेशा लालायित रहती है। वह भूल जाती है कि ये लड़कियाँ उनकी किरायेदार हैं और हमेशा उनके साथ नहीं रहेंगी। कोरोना महामारी और लॉकडाउन की स्थिति में जब लड़कियाँ अपने-अपने घरों की लौटने की बात करती है तो सिमरन आंटी का चेहरा मुरझा जाता है। लेखिका लिखती है – “यह सुनते ही सिमरन आंटी चौंक गई। इन लड़कियों के वापस जाने के विषय में तो उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था। अपने घर में उनके रहने का एहसास जैसा था उनके लिए ? वे भूल गई थीं कि ये किसी और की बच्चियाँ हैं और कभी भी उनका रैन बसेरा छोड़कर अपने शहर चली जाएंगी या कोई और किराए का घर ढूँढ लेंगी।”^[10]

सिमरन आंटी की इस बेचैनी के मूल में कोरोना बीमारी की भयावहता तो है ही संवादहीनता से उत्पन्न अकेलेपन की यातना से पुनः गुजरने की हताशा भी है। आलोचक मृत्युंजय कोरोना के सन्दर्भ में अपने एक लेख में लिखते हैं – “कोरोना एक ऐसा वायरस है जिसने हमें सिखाया : तुम्हारा चेहरा और तुम्हारे हाथ दोनों अलग-अलग इकाई हैं, इनमें दूरी होनी चाहिए। सामाजिकता मौत की संवाहिका हो सकती है, इसलिए

सामाजिकता से बचो।”^[11]

हम सभी देख ही नहीं रहे, महसूस भी कर रहे हैं कि कोरोना महामारी ने जीवन का अर्थ ही बदल दिया है। अपनों को खोने की चीत्कार से चारों ओर हताशा, निराशा और क्रंदन का माहौल है। लॉकडाउन की स्थिति में अपनी संतान से मीलों दूर अशक्त शरीर के साथ जीवन जीना वृद्धों के लिए चुनौती बन गई है। मृत्यु के उपरांत की स्थिति और भी हृदयद्रावक है। जहां अपनों के द्वारा दाह-संस्कार भी नसीब नहीं है। इस कोरोनाकाल में मनुष्य-मनुष्य के बीच की दो गज की दूरी एक अंतहीन दूरी में परिवर्तित हो चुकी है। ‘सिमरन आंटी’ कहानी में लेखिका कोरोनाकालीन परिस्थिति में वृद्धों की सामाजिक और मानसिक स्थिति का मार्मिक ढंग से अंकन करती है। कहानी का अंत अत्यंत कारुणिक है। कोरोना की भयानकता, अकेलेपन की पीड़ा और मीलों दूर अपनी संतान की चिंता में सिमरन आंटी का मानसिक संतुलन बिगड़ जाना वृद्ध जीवन की दुखद परिणति की ओर संकेत करता है – “देख मुन्नी ! सारे जानवर जंगलों से निकल आए हैं। किस तरह शहरों की ओर बढ़ रहे हैं। इन कुछ दिनों में ही दुनिया कैसे बदल गई ? ... पता नहीं क्या होने वाला है ?सब तो ..मुझे छोड़ कर... चले गए...मुन्नी ! अब तू मुझे छोड़कर ना जाना। तू ही मेरी बेटी है। तू छोड़कर ना जाना, मेरी बच्ची।”^[12]

सिमरन आंटी की व्यथा कोरोना महामारी की भयानकता की ओर ही इंगित नहीं करती बल्कि शक्तिहीन, निर्भरशील वृद्धावस्था की बेबसी, लाचारी, भय, अकेलेपन की यंत्रणा को भी उद्घाटित करती है। कहानीकार कोरोनाकालीन परिवेश में बुजुर्गों की परिस्थिति, उनकी मनःस्थिति का जिस बारीकी से उद्घाटन करती है, वह रचना-कर्म के प्रति उनकी गहन प्रतिबद्धता का प्रमाण है।

जीवनसाथी का साहचर्य वृद्धावस्था में काफी महत्वपूर्ण होता है। बुढ़ापे में जीवनसाथी के होने से एक सुविधा यह होती है कि बोलने-बतियाने के साथ कमजोर शरीर की देखभाल भी हो जाती है। इस साहचर्य का अभाव वृद्धावस्था को संदर्भहीन और कारुणिक बना देता है। इस अभाव से निष्पन्न अथाह वेदना के कई दृश्य लेखिका ने अपनी कहानियों में उकेरे हैं। एक दृश्य यह है – “अपना विधुर जीवन जीते हुए उन्हें लगता था कि जिंदगी का एकाकी सफ़र रेल या बस का सफ़र नहीं है जो इसका लुप्त उठा लिया जाए। इसे जो जीता है वही समझता है। जीवन संगिनी को गुजरे एक अरसा हो गया था। पत्नी की जरूरत जितनी पहले थी, उससे कम आज नहीं थी। बल्कि उन्हें लगता था कि अभी उसका होना अधिक जरूरी था। अब उसकी जिंदगी क्या थी? एक सूखे पत्ते की तरह उड़कर वे यहाँ से वहाँ चले जाते थे – जिधर हवा ले गई, उधर ही उड़ गए। अपना कोई वजूद ही नहीं रह गया था।” [13]

एक अन्य दृश्य देखें- “दोनों बेटों के हजारों मील दूर चले जाने के बाद भी जब तक उनके पति जीवित थे, तब तक उनको कोई चिंता नहीं थी। शौक से रहती थीं। पति रमेश के साथ ही खाते, उठते-बैठते और बातें करते उनका समय बीत जाया करता था।पर उनके जाने के बाद यही गहरा साथ उनकी जिंदगी में गहरा एकांत भी छोड़ गया।” [14]

कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों ही जीवनसाथी के बिछड़ने के पश्चात एकाकीपन के अथाह दुःख को झेलने को विवश है। पति का साथ जहाँ स्त्री के जीवन को रंगों से परिपूर्ण करता है, वहीं पत्नी का अभाव पति को वजूदहीन बना देता है।

इस संदर्भ में ‘दर्द’ कहानी भी उल्लेखनीय है। सहाय जी तीन बेटी और एक बेटा के पिता है। सभी उनकी

खोजखबर लेते रहते हैं फिर भी जीवनसाथी की कमी उन्हें कचोटती है। लेखिका के शब्दों में – “जीवन-साथी के न रहने पर उनके जीवन में भीतर और बाहर जरूर एक सन्नाटा पसर गया था। जीवन-साथी के बिना हमेशा साथ देनेवाला भी कौन होता है? अकेलापन उनके जीवन का एक हिस्सा बन गया था जो अब धरती के किसी कोने में जाकर मिटानेवाला नहीं था।” [15] वृद्धावस्था में जीवनसाथी के बिना जीवन कितना निरूपाय और निस्सहाय हो जाता है, ये कहानियाँ इसका प्रमाण है।

प्रेमचंद ने ‘बूढ़ी काकी’ कहानी में बुढ़ापा को बचपन का पुनरागमन कहा है। जो अधीरता, अस्थिरता, आकांक्षापूर्ति की वृत्ति, भय और आशंका, एक बच्चे में पायी जाती है, बुढ़ापे में भी कमोबेश वही लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। जिस प्रकार एक बच्चा प्यार, परवाह और अपनी महत्ता चाहता है, उसी प्रकार बुढ़ापे में व्यक्ति अपनों से प्यार, परवाह और महत्ता की आकांक्षा रखता है। अंजना वर्मा की कहानियों को अगर देखें तो यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। उनकी कहानियों के वृद्ध पात्र अपनत्व की तलाश में हमेशा लगे रहते हैं चाहे वह अपनत्व अपने बच्चों से मिले या गैरों से। ‘दर्द’ कहानी को लें, वहाँ छोटी बेटी दिव्या के जाने की बात सुनकर सहाय जी के पैर के अँगूठे में कैसे असह्य दर्द होने लगता है और बड़ी बेटी भारती के आगमन पर दर्द एकाएक छूमंतर हो जाता है – “लेकिन यह क्या? पापा ठीक हो गए रात भर में ही? क्या उसके आने की खबर सुनकर? हाँ, शायद ऐसा ही हुआ था। दिव्या जा रही है पर भारती आ रही है। विश्वनाथ सहाय ने चारों ओर फैले सन्नाटे को अभी पराजित कर दिया था। बच्चों के साहचर्य-सुख की बारिश में भींग कर वे खिल जाते थे बेलें की तरह। उनका पूरा व्यक्तित्व इस तरह ताजगी से भर उठता था जैसे कोई सींचा गया गमले का पौधा हो

या ठंडी हवा में झूमता पेड़। भारती देख रही थी कि अभी सबके साथ खाना खाते हुए वे कितने खुश दिखाई दे रहे थे।”^[16]

इसी तरह ‘कितना और’ कहानी में एकाकी जीवन जीती माँ अपने वनवास के खत्म होने की आस में विदेश में रह रहे अपने एकलौते बेटे अशोक की चिट्ठी के बारे में डाकिये को हर रोज टोकती है, प्रत्युत्तर में ‘नहीं’ सुनकर भी उनकी अधीरता कम नहीं होती। हर रोज पूछती रहती हैं। चिट्ठी के खो जाने की आशंका से उसे ताकीद करती है कि जब चिट्ठी आये तो सीधे उसकी हाथों में दे। उनकी मानसिक अस्थिरता, अधीरता, विह्वलता को लेखिका सुन्दर तरीके से शब्दबद्ध करती है – “बेटे की चिट्ठी का इंतजार उन्हें रोज बना रहता। कभी आँखें झपक जाती तो बीच में ही खोलकर चिट्ठी की चिंता में सामने देखती। कहीं उनकी कोई चिट्ठी तो नहीं आयी? या वह उनकी चिट्ठी पड़ोस में देकर तो नहीं चला गया? अगर डाकिये की छाया भी दिखायी देती तो वह हँसती हुई उठ खड़ी होती। वह उनके पास आता रहे या पड़ोस में जाता रहे, अमूमन हर रोज उनका सवाल रहता “मेरी कोई चिट्ठी आयी है क्या?”^[17]

सिमरन आंटी भी किरायेदारों से बातचीत और गपशप की बचकाना उम्मीद पालने लगती है पर जब नाउम्मीदी हाथ लगती है तब अपने किरायेदारों को भोजन पर आमंत्रित करने का सिलसिला शुरू कर देती है। इसी तरह ‘यहाँ वहाँ हर कहीं’ के रवीन्द्र बाबू को देखें। एक बच्चा जिस प्रकार अकेले खेलते हुए एक सरस संसार को रच देता है, रवीन्द्र बाबू भी अपने जीवन में व्याप्त नीरसता, नीरवता को तोड़ने के लिए बालकनी में रखे पौधों से बतियाने लगते हैं। लेखिका के शब्दों में – “वे उन पौधों से बात करने लगे। बोले, “तुम बोल रहे हो, मैं सुन रहा हूँ। मुझे भी मालूम है मेरे दोस्त कि वसंत आ गया है।”^[18]

इन कहानियों से गुजरते हुए हमारी संवेदना उद्वुध होने लगती है। वृद्ध जीवन के ये क्रूर यथार्थ हमें झकझोरते हैं कारण कि जिस तरह अंजना वर्मा वृद्धों के मौन रूदन को, जीवन के असह्य एकाकीपन से मुक्त होने की उनकी छटपटाहट को एक सहृदय की तरह महसूस करती है, उसकी अभिव्यक्ति भी पूरी ईमानदारी से करती है।

उपन्यास सम्राट प्रेमचंद बुढ़ापा और बचपन को समानांतर करके देखते हैं। वास्तव में बचपन बुढ़ापे का सबसे सच्चा और गहन साझेदार होता है। बच्चों के साहचर्य से बुढ़ापे की तकलीफ बहुत हद तक कम हो जाती है। उसी तरह बुढ़ापे के संपर्क में आए बच्चे पूर्ण रूप से खिल उठते हैं। अपने बच्चे के बच्चों को पोसना जितना आनंदायक होता है, उनसे अलगाव उतना ही पीड़ादायक। ‘कितना और’ कहानी के माँ के माध्यम से इसे महसूस किया जा सकता है। अशोक माँ के हाथ से पोसे गए बच्चों को छुड़ाकर उन हाथों में कागजी एलबम थमा पत्नी के साथ अमेरिका में बसने चला जाता है। यह अनिश्चित अलगाव माँ को अंतहीन यातना दे जाती है है। लेखिका के शब्दों में – “जब भी वह अपने बेटा-बहू और पोता-पोती को याद करती थीं लगता था कि कलेजा कहीं दुखता जरूर है। आँखें नम हो जाती थीं।

इस कागजी एलबम के साथ-साथ उन्होंने अपनी आँखों में भी उनकी हँसती-खिलखिलाती तस्वीरों को कितना सहेजा था। चाहा था कि कम-से-कम उनकी यादों में बच्चों की किलकारी, उनका हठ, उनका ‘दादी-दादी’ कहकर उनसे लिपट जाना सब वैसा ही जीवंत बना रहे। पर संभव नहीं हो सका था।”^[19] मिनीप्रिया आर. लिखती है – “बुढ़ापा जिंदगी का वह खास मोड़ है, जहाँ पहुँचकर इंसान जिंदगी के बिखरे हुए टुकड़ों को एक साथ जोड़कर फिर से देखने की कोशिश करता है - उसकी समग्रता में।”^[20]

बुढ़ापा का यह पहलू अत्यंत कारुणिक है। जब जीवन समग्रता की चाह रखता है, तब नितांत अकेलापन हाथ लगता है। कहानीकार इस यथार्थ के माध्यम से यह भी संकेत करती है कि वृद्धावस्था को बच्चों के सानिध्य से सुन्दर बनाया जा सकता है। उनके जीवन में व्याप्त अकेलेपन को दूर किया जा सकता है।

आर्थिक पहलू वृद्ध जीवन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। खासकर उन लोगों के लिए जिनके पास न तो पेंशन का आसरा है और न आय का कोई ठोस जरिया। वृद्धावस्था में जर्जर शरीर कई रोगों से ग्रसित रहता है। रोग के इलाज के लिए अर्थ की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। अर्थ के लिए अपनी संतानों पर निर्भर वृद्धों के लिए यह जरूरत एक पीड़ादायक विवशता बन जाती है। अंजना वर्मा इन पहलू पर भी आलोकपात करती है। इस सन्दर्भ में उनकी ‘कितना और’ कहानी को देखा जा सकता है। एक उन्नत जीवन की चाह में बेटों का विदेश में सपरिवार बस जाना आजकल आम बात हो गयी है। इस कहानी में हम देखते हैं कि अशोक विदेश में सपरिवार बस चुका है। उसकी बूढ़ी बीमार माँ यहाँ देश में अकेली रहती है। भगवान राम की तरह ‘वह भी तो एक वनवास ही झेल रही थीं। उनको इस खंडहर में अकेले रहते हुए कितने वर्ष बीत चुके थे।’^[21] प्रभु राम का वनवास तो चौदह वर्ष में खत्म हो गया था परंतु अशोक की माँ अंतहीन वनवास झेल रही थी। अशोक अपने बेटे होने का फर्ज माँ को चेक भेजकर पूरा कर लेता है, बिना यह जाने कि असहाय, बीमार माँ के लिए वह पर्याप्त है या नहीं। यह कहानी वृद्धों के आर्थिक तंगी से उत्पन्न अंतर्द्वंद को बड़ी बारीकी से उकेरती है। बेटे द्वारा भेजे गए सीमित पैसे में माँ टूटी छत की मरम्मत कराए, अपनी आँखों का इलाज कराए, छठ-पर्व मनाए या अपनी रोज की जरूरतों को पूरा करें। लेखिका लिखती है – “मोतियाबिंद पक गया था।

आपरेशन करवाना था। यह उनके लिए संभव नहीं था, क्योंकि न पैसा न कोई तीमारदार। रोज सोचती आपरेशन कैसे होगा ? ऐसे-ऐसे कई प्रश्न उनके जेहन में अस्तित्व ग्रहण करते और फिर टूटकर विलीन हो जाते। उन प्रश्नों के अस्तित्व में आने और टूटने का कोई अर्थ नहीं था।”^[22]

जिस बच्चे को जन्म देने से लेकर पैरों पर खड़ा करने में माँ न जाने कितने दुःख और तकलीफों को सानंद झेलती है, वही बच्चे विदेशों में जाकर अपने माता-पिता को विस्मृत कर देते हैं। जिम्मेदारी के नाम पर कुछ अर्थ भेजकर अपने जन्म को सार्थक समझते हैं। अंजना वर्मा की वृद्ध जीवन से संबंधित कहानियों में अधिकतर ऐसे माता-पिता हैं जिनकी संतानें विदेशों में रह रही हैं। विदेशों में रहना मतलब हजारों मील की दूरी। वृद्ध माता-पिता यह दूरी कैसे सहन करते हैं, यह अकथनीय है। जो आखें बच्चों को आगे बढ़ाते हुए हर्षातिरेक में गीली हो जाती थी, वहीं आँखें आज बच्चों का प्रत्यक्ष साथ पाने की उम्मीद में गीली रह रही है। जो हाथ बच्चों को सहारा देती रहीं, वहीं हाथ आज सहारा पाने की आस में उठे ही हुए हैं। उनकी कहानियों की समीक्षा करते हुए प्रख्यात आलोचक सुनीता गुप्ता लिखती है - “इस चमकीले समय का अंधेरा कोना भी है जहाँ आहें भरती, संवेदना को तरसती अतृप्त जिंदगी है। इन्हीं सबके बीच अंजना की कहानियाँ आकार लेती हैं। उनकी कहानियों में नयी सदी का यही समय है—दौड़ता-भागता और पस्त होता। इस अंधी दौड़ में बहुत कुछ ऐसा है जो नर्म मुलायम घास की तरह हमारे पांवों के नीचे कुचला जा रहा है।”^[23]

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अंजना वर्मा ने अपनी कहानियों में वृद्ध जीवन का वृहत्तर पक्ष चित्रित किया है। उनकी कहानियों में वृद्धों की यातनामयी दुनिया की विश्वसनीय छवि है। उनकी टूटन, घुटन,

खीज, आशा, हताशा, हास, भय, आतंक सबकुछ ये कहानियाँ बयां कर देती है। सबकुछ होकर भी इन वृद्धों के पास कुछ नहीं है। यह विषाक्त परिवेश का प्रभाव है।

लेखिका इसे बखूबी समझती है। असल में वृद्ध जीवन को केन्द्रित करके लिखी गई ये कहानियाँ महज कहानियाँ नहीं, वृद्ध-जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है।

सन्दर्भ -

- [1] श्रृंखला सं. अखिलेश : कहानियाँ रिश्तों की : बड़े-बुजुर्ग, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ 08
- [2] पुष्पपाल सिंह : भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास , राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 271
- [3] दयानन्द जायसवाल : बिहार के हिंदी साहित्य का इतिहास , लक्की इंटरनेशनल, नयी दिल्ली, 2021, पृष्ठ 666
- [4] अंजना वर्मा : कौन तार से बीनी चदरिया , अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2018, पृष्ठ 51
- [5] सं. श्रीमती सुनीता शर्मा : राजभाषा जागृति , कोलकाता, मार्च 2017, पृष्ठ 09
- [6] अंजना वर्मा : कौन तार से बीनी चदरिया , अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2018, पृष्ठ 53
- [7] पुष्पपाल सिंह : भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास , राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ 269
- [8] अंजना वर्मा : कौन तार से बीनी चदरिया , अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2018, पृष्ठ 54
- [9] सं. प्रियदर्शन : कहानियाँ रिश्तों की : बड़े-बुजुर्ग, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2014 पृष्ठ 10
- [10] सं. डॉ. आशीष कंधवे : गगनांचल , मार्च-अप्रैल 2021, पृष्ठ 16
- [11] सं शंभुनाथ, वागर्थ, ‘परिचर्चा : उत्तर कोरोना प्रभाव : समाज और संस्कृति’ (ऑनलाइन संस्करण), मई 2021
- [12] सं. डॉ. आशीष कंधवे : गगनांचल , मार्च-अप्रैल 2021, पृष्ठ 17
- [13] अंजना वर्मा : कौन तार से बीनी चदरिया , अनुज्ञा बुक्स, 2018, दिल्ली, पृष्ठ 35
- [14] सं. डॉ. आशीष कंधवे : गगनांचल , मार्च-अप्रैल 2021, पृष्ठ 14
- [15] अंजना वर्मा : गिरिजा का पिता , अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 2006, पृष्ठ 34
- [16] वही, पृष्ठ संख्या- 47
- [17] अंजना वर्मा : कौन तार से बीनी चदरिया , अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2018, पृष्ठ 53
- [18] अंजना वर्मा : गिरिजा का पिता , अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 2006, पृष्ठ 46
- [19] वही, पृष्ठ संख्या- 47
- [20] सं. डॉ. वी. के. अब्दुल जलील : समकालीन हिन्दी उपन्यास समय और संवेदना , वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006, पृष्ठ 244
- [21] अंजना वर्मा : गिरिजा का पिता , अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, 2006, पृष्ठ 47
- [22] वही, पृष्ठ 47
- [23] सं. अनुराग शर्मा : सेतु, दिसंबर 2018 , पृष्ठ 72



ठेठ बनारसी भाषा की ठसक का आख्यान:काशी का अस्सी

डॉ. अमरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

(असिस्टेंट प्रोफेसर) एमिटी लॉ स्कूल,

एमिटी यूनिवर्सिटी उत्तर प्रदेश, लखनऊ कैम्पस

मोब.-9450616530

amarendrasrivastava@outlook.com

हिं

दी उपन्यासों की परम्परा में यथार्थ और भाषा का बेहतरीन सामंजस्य देखने को मिलता है। जीवन-जगत के यथार्थ को

अभिव्यक्त करते हुए औपन्यासिक भाषा

बहुआयामी होती रही है, परीक्षागुरु में हिंदी भाषा जो स्वरूप देखने को मिलता है, वह निरंतर यथार्थोन्मुख होते हुए आज भी गतिमान है। यथार्थ को अभिव्यक्त करते हुए भाषा औपन्यासिक भाषा निरंतर नए रूप में ढलती और बनती जा रही है। भाषा के इस नयेपन में लोक

और शिष्ट के साथ-साथ ठेठ देशीपन ने भाषा को अत्यंत प्रभावी और सम्प्रेषणीय बना दिया है। हिंदी उपन्यासों की भाषा में अपने आरम्भिक समय से ही सहजता का पुट देखने को मिलता है। भाषा अपने स्वरूप में मूलतः चर है, भाषा का यह चर रूप हिंदी औपन्यासिकी में भी हम देख सकते हैं। परीक्षागुरु से लेकर अब

तक हिंदी उपन्यासों की भाषा में बहुस्तरीय परिवर्तन देखने को मिलता है। औपन्यासिक भाषा की दृष्टि हिंदी उपन्यासों ने एक लम्बी यात्रा तय कर लिया है। काशी का अस्सी हिंदी औपन्यासिक भाषा की यात्रा में एक विशिष्ट उपन्यास है। काशी के बहुआयामी रंग को बड़े चटक रूप में ठेठ भाषाई रंगत में औपन्यासिक फलक पर उभारने यह उपन्यास बेजोड़ है, एक बेपरवाह सी

भाषा जो सिर्फ इस उपन्यास के विषय-वस्तु जीवंत करने में है। उपन्यास के आरम्भ में ही कथाकार ने लिखा है कि-

‘शहर बनारस के दक्खिनी छोर पर गंगा किनारे बसा ऐतिहासिक मुहल्ला अस्सी। अस्सी चौराहे पर भीड़-भाडवाली चाय की दुकान। इस दुकान में रात-दिन बहसों में उलझते, लड़ते-झगड़ते, गाली-गलौज करते कुछ स्वनामधन्य अखाडिए बैठकबाज। न कभी उनकी

बहसों खत्म होती हैं, न सुबह-शाम। जिन्हें आना हो आएँ, जाना हो जाएँ। इसी मुहल्ले और दुकान का ‘लाइव शो’ है यह कृत्ति – उपन्यास का उपन्यास और कथाएँ की कथाएँ। खासा चर्चित, विवादित और बदनाम। लेकिन बदनाम अभिजनों में, आम जनों में नहीं! आम जन और आम पाठक ही इस उपन्यास की जमीन रहे हैं!’

इस उपन्यास में लेखक ने बहुत ही हल्के-फुल्के अंदाज में सामाजिक जीवन की गंभीर समस्याओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। बेरोजगारी और लोकतंत्र का घालमेल किस तरह हमारे युवाओं को भ्रमित किये हुए है, इसका चित्रण करते हुए कथाकार ने हमें उसके जड़ों से अवगत कराया है।

उपरोक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काशी का अस्सी नये कलेवर का उपन्यास है। भाषा, विषय-वस्तु और शिल्प सभी दृष्टियों यह उपन्यास उन्मुक्त है। इसमें आम जन के संस्कृति और जीवन की झांकी देखने को मिलती है, एक ऐसा जीवन जो जीवन्तता और बेपरवाही से अटा पड़ा है। इसकी विषय-वस्तु वह जीवन है जो काशी की गलियों और

चौराहों पर देखने को मिल जायेगा। गलियों और चौराहों के जीवन को उन्मुक्त भाव से प्रस्तुत करते हुए काशी नाथ जी ने एक उन्मुक्त औपन्यासिक भाषा का प्रयोग कर ठेठ बनारसी गलियों की ठसक को मूर्त कर कर दिया है। उपन्यास के शुरू ही में कथाकार ने अभिजनों को आगाह करते हुए लिखा है कि-

‘मित्रों यह संस्करण वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं; और उनके लिए भी नहीं जो यह नहीं जानते कि अस्सी और भाषा के बीच ननद-भौजाई और साली-बहनोई का रिश्ता है! जो भाषा में गन्दगी, गाली, अश्लीलता और जाने क्या-क्या देखते हैं और जिन्हें हमारे मुहल्ले के भाषाविद परम कहते हैं, वे भी कृपया इसे पढ़कर अपना दिल न दुखाएँ-’¹

अपनी भाषा को लेकर यह उपन्यास खासा चर्चित रहा है। लोगों के मन में भाषा को लेकर अनेक तरह की धारणायें बनी-बनाई हैं, इस उपन्यास की भाषा में बनी-बनाई धारणा के विपरीत एक नये तरह का प्रयोग देखने को मिलता है, लेकिन यह प्रयोग कहीं भी पाठक या आस्वादक खटकता नहीं है। इस उपन्यास के भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें बोली, बानी, मुहावरे और गाली का सुन्दर संयोजन देखने को मिलता है। शब्दों के द्वारा व्यंग्य और सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष की दृष्टि से लेखक ने अभिनव प्रयोग किये हैं। राजनीतिक समझ भले ही ना हो लेकिन राजनीति को हमारा समाज बहुत अच्छे से समझता है। कशीनाथ जी ने लोकतंत्र के चरित्र बहुत ही तलख रूप में समझा और प्रस्तुत किया है, जिसे निम्नलिखित पंक्तियों में हम देख एवं समझ सकते हैं - ‘भ्रष्टाचार लोकतंत्र के लिए आक्सीजन है, है कोई राष्ट्र जहाँ लोकतंत्र हो और भ्रष्टाचार न हो? जरा नजर दौड़ाएँ पूरी दुनिया पर, ये छोटी-बड़ी राजनितिक पार्टियाँ क्या हैं? अलग-अलग छोटे-बड़े संस्थान, भ्रष्टाचार के प्रशिक्षण केन्द्र, सिद्धांत

मुखौटे हैं जिनके पीछे ट्रेनिंग दि जाती है। आप क्या समझते हैं, जो आदमी चुनाव लड़ने में पन्द्रह-बीस लाख खर्च करेगा वह विधायक या सांसद बनने पर ऐसे ही ऐसे ही छोड़ देगा आपको? देश को? चतिया है क्या?’²

लोकतंत्र पर यह टिप्पणी लोकतंत्र का वास्तविक चरित्र को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने में सर्वथा समर्थ है। लोकतंत्र और भ्रष्टाचार का खेल, और बेरोजगारी ने किस तरह हमारे युवाओं को भ्रमित किया है, इस आगे स्पष्ट करते हुए कथाकार ने लिखा है कि - ‘राजनीति बेरोजगारों के लिए रोजगार कार्यालय है, इम्प्लायमेंट ब्यूरो। सब आई.ए.एस., पी. सी.एस. हो नहीं सकता। ठेकेदारी के लिए धनबल-जनबल चाहिए, छोटी-मोटी नौकरी से गुजरा नहीं। खेती में कुछ रह नहीं गया है। नौजवान बिचारा पढ़-लिखकर, डिग्री लेकर कहाँ जाए? और चाहता है लम्बा हाथ मारना। सुनार की तरह खुट-खुट करने वालों का हश्न देख चुका है, तो बच गई राजनीति। वह सत्ता की भी हो सकती है, विपक्ष की भी और उग्रवाद की भी। समझिए कि दादागिरी यहाँ भी हैं, उठा-पटक है, चापलूसी है, हड़बोर्गई है, तरबली है, संघर्ष है लेकिन यह कहाँ नहीं है? पाना और खोना किस धन्धे में नहीं है?’³

इस उपन्यास में लेखक ने बहुत ही हल्के-फुल्के अंदाज में सामाजिक जीवन की गंभीर समस्याओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। बेरोजगारी और लोकतंत्र का घालमेल किस तरह हमारे युवाओं को भ्रमित किये हुए है, इसका चित्रण करते हुए कथाकार ने हमें उसके जड़ों से अवगत कराया है। काशीनाथ प्रस्तुत करते हुए भाषा का काशीपन और दृष्टि समग्र भारतीय समाज और राजनीति पर यह काशीनाथ सिंह की अन्यतम विशेषता है। काशी का मूलतः वह आख्यान है, जिसमें ठेठ ठसक के साथ काशी मौजूद है। भाषिक सृजनात्मकता का सर्वोत्तम नमूना राजनितिक नारों और वादों में देखने को

मिलता है और राजनीतिक समीकरण में आज जो जातीय फार्मूला देखने को मिल रहा है उस पर लेखक की तल्लख लेखनी ने प्रहार किया है, प्रहार क्या किया उस यथार्थ को जस का तस हमारे समक्ष रख दिया है –

मैंने बताया “जवाहर सेठ, प्रदेश का सबसे बड़ा दारू का ठेकेदार।”

“ओह, तो ई बात है। इसीलिए अपने यहाँ नारा लग रहा है- ‘पी लो पाउच, भर लो पेट, फिर न मिलेंगे जवाहर सेठ’। अरे यार, ऊ तो गाँव के गाँव खरीद रहा है। गाँव पूरे गाँव को जुटाता है, ठाकुर, अहीर, बाभन, चमार – सबको। और पूछता है कि गाँव को क्या चाहिए? सड़क, पम्प, पोखर, कुआँ, मन्दिर। क्या समस्या है तुम लोगों की? तुम लोग सरकार को भी देख लिये और अपने एम.पी. को भी। क्या चाहिए, बोलो, पानी की किल्लत है? दस हैण्ड पम्प से काम चल जायेगा? ए फलाने!.....”

आप पूरी बात क्यों नहीं बता रहे हैं भैया। उसी क्षेत्र में यह भी नारा लग रहा है, “पाउच नहीं दूध चाहिए!” “बनिया नहीं, अहिर चाहिए।”⁴

भारतीय समाज में जो जाति व्यवस्था व्याप्त थी, उसे हवा देने का कार्य हमारी राजनीति व्यवस्था ने किया, जाति की नई परिभाषा गढ़ी गई और उसने देखते ही देखते पूरे समाज को अपनी चपेट में ले लिया। वर्तमान समय में जाति आधारित अपने चरम पर है, विधायक या सांसद ही नहीं अब तो मंत्री से लेकर सब पदों पर जाति व्यवस्था हावी है। जो आज के समय में व्यवस्था व्याप्त है उसकी चिंता कथाकार अब लगभग पन्द्रह पहले ही कर लिया था, लेखक ने इस उपन्यास जाति की नई परिभाषा के सन्दर्भ पर विचार करते हुए लिखा है कि- “यह है जाति का नया चेहरा। मुलायम जिसे टिकट दें

, वह अहिर, कांसीराम जिसे टिकट दें, वह चमार, नितीश कुमार जिसे टिकट दें, वही कुर्मी, ठाकुर, बाभन, बनिया लाला चाहे जो हो। कांसीराम का मिला नहीं कि चमार हुआ। बनारस से अवधेश राय लड़ रहे हैं बसपा से और हरिजन बस्तियों में जाकर देख लीजिये। अरे इसे छोड़िये, अपने यहाँ चन्दौली में ही देखिए। कांग्रेस से श्यामलाल यादव हैं और मुलायम की मुहर के साथ सपा से जायसवाल। अब यादव श्यामलाल नहीं रह गए, यादव हैं जवाहर जायसवाल”.....⁵

यादव हैं जवाहर जायसवाल अपने आप में राजनीतिक व्यवस्था पर घनीभूत व्यंग्य समेटे हुए है। 2006 में काशी का अस्सी उपन्यास पहली बार प्रकशित हुआ था, उस समय से लेकर आज तक जातिवादी व्यवस्था निरंतर रूप से अपने अस्तित्व बनाये जा रही है। रचनाकार जाति की जो परिभाषा इस उपन्यास के माध्यम से गढ़ी वह परिभाषा आज अपने प्रचंड रूप में भारतीय राजनीति को ग्रहित किये हुए है। भाषा भंगिमा और भाषिक बुनावट यह आयाम राजनीतिक जीवन स्थितियों को बहुत ही तल्लखी के साथ कथा के कैनवास उभारा है।

भाषा हमारे सामाजिक संबंधों की वाहक है, सामाजिक संबंधों के साथ-साथ भाषा के माध्यम से हमारे आचार-विचार और संस्कृति का भी प्रतिबिम्बन होता चलता है। काशी का अस्सी में काशीनाथ सिंह ने बनारस की उस संस्कृति और समाज को जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है, जो वहाँ के जन-मन में व्याप्त है और जन-जीवन का अभिन्न हिस्सा भी है। इस उपन्यास की भाषा में यथार्थ के साथ ही राजनीतिक जीवन में व्याप्त विसंगतियों पर व्यंग्य भी है। उपन्यास यदि यथार्थ और यथार्थवादी चेतना का विस्तार है तो भाषा उसकी प्रकृति और संभावनाओं को व्यक्त करनेवाली एक मात्र शक्ति है। उपन्यास और उसकी भाषिक क्षमता पर विचार

करते हुए गोपाल राय ने अपनी पुस्तक हिन्दी उपन्यास का इतिहास में लिखा है कि – “भारत जैसे भौगोलिक दृष्टि से विशाल तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक वैविध्य वाले देश में आधी सदी के दौरान पैदा हुई स्थितियों-परिस्थितियों, संघर्षों-उदेलनों, आकांक्षाओं-स्वप्नों, निराशाओं-हताशाओं का प्रलेखन उपन्यास द्वारा ही संभव था। इस व्यापक और गतिशील यथार्थ को व्यक्त करने के लिए वैसी ही व्यापक और गतिशील स्वभाव वाली भाषा भी अपेक्षित थी। इस अपेक्षा की पूर्ति हिन्दी जैसी ही भाषा से ही संभव थी, जिसका मानक रूप तो एक है, पर जो अपनी शक्ति अपने परिवार की विभिन्न भाषाओं से प्राप्त करती है और जिसमें समय के साथ बदलने की अद्भूत क्षमता भी है।”⁶

विषय-वस्तु और परिस्थितियों के अनुरूप भाषा में परिवर्तन की हिन्दी कथा साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता है। इस दृष्टि से ‘काशी का अस्सी’ की भाषिकी एक नए तरह की चेतना को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है, भाषा अपनी समग्रता में बोली, वानी गाली, मुहावरों और लोकानुभवों का समुच्चय है। काशीनामा प्रस्तुत करते हुए काशीनाथ सिंह की भाषा में भाषा के लगभग सभी तत्व समाहित हो गये हैं, जिसका प्रमुख कारण यह है कि आपने काशी की गलियों को के यथार्थ को जस का तस हमारे समक्ष रख दिया है –

“चार जना मिलि डोली उठावें
घरवा से देत निकारी
उमर अबहीं मोरी बारी
कहत कबीर सुनो भई साधो,
छमियो चूक हमारी,
अबकी गवना बहुरि नहिं अवना
मिलिलेहू भेंट अंकवारी।
(टिप्पणी: आने का मुँह रहेगा तब न छिनरौ)
आई गवनवा की सारी

उमर अबहीं मोर बारी।”

गाना खत्म होते ही तालियों के बीच एक आवाज आई – “देखो गुरु? यह कविता, नहीं मिसाइल है। जमीन से लेकर ब्रह्माण्ड तक मर करनेवाली है। है कोई दूसरा कवि भोंसड़ी के जो पाताल-आकाश एक कर दे?.....अब एक और हो जाये गुरु अशोका”⁷

उपरोक्त पंक्तियों में बनारस की लोकभाषा का चटख रंग देखने को मिलता है, एक ऐसा भाषा संसार जो हमें मिली-मिलाई है, और जिसे आम-फहम जीवन में हम जी रहे हैं। भाषा अभिजात से परे भी भाषा की दुनिया है, जिसे हमारे कथा-साहित्य ने संजोने का महत्तम कार्य किया है। लोक गीतों से लेकर लोक जीवन की विविध भंगिमाओं के अंकन की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास साहित्य की रचना यात्रा अत्यंत वैविध्यपूर्ण है, लाला श्रीनिवासदास से लेकर प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, रेणु और अन्य उपन्यासकारों ने हिन्दी औपन्यासिक भाषा को निरंतर समृद्ध करते हुए लोकोन्मुखी बनाया, उसी चेतना का विस्तार काशीनाथ सिंह ने काशी का अस्सी में किया है। भारतीय राजनीति से लेकर लोक जन की संवेदना को स्पंदित करनेवाली विषय-वस्तु को प्रस्तुत करते हुए काशीनाथ सिंह की भाषा में व्यंग्य का पुट और भाषिक सहजता के साथ-साथ भाषा के अभिजात को तोड़कर कथा भाषा को आम जन से जोड़ा है। भाषा और समाज के संश्लिष्ट संबंध को समझना और उसे अपनी रचनात्मकता से जोड़ना साहित्यकार की कला है, काशीनाथ जी ने लोक गीतों में हो रहे परिवर्तनों को रेखांकित करते हुए लिखा है कि – “आज की फ़िल्मी धुनों ने काफी कुछ बर्बाद किया है परम्परागत बिरहा को। जिस तरह बिरहा के विषय में विस्तार हुआ है, आज की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक समस्यायें उसका विषय हुई हैं, उसी तरह हार मौके के लोकगीतों की शैलियों और लोकधुनों के बीच फिल्मों की लेटेस्ट

धुनें-जिसमें पॉप और विडियो म्यूजिक भी हैं- बीच-बीच में पिरोई जाने लगी हैं।”⁸

भाषा अपने व्यक्तित्व में बहुआयामी है इसलिए भाषा पर विचार करते हुए भाषा के बहुआयामी चरित्र को निरन्तर दृष्टिगत रखना चाहिए, तभी हम भाषिक संदर्भों को उसकी समग्रता में समझ सकेंगे। हिन्दी उपन्यासों में हमारे हिन्दी समाज में प्रचलित सभी भाषा शैलियों का प्रयोग देखने को मिलता है। इससे हिन्दी उपन्यास और हिन्दी भाषा दोनों समृद्ध हो रहे हैं, भाषा के साथ-साथ गीत-संगीत सभी स्तरों नित्य-नए प्रयोग

देखने को मिल रहे हैं। इन प्रयोगों से हिन्दी कथा साहित्य को बल मिल रहा है। काशी का अस्सी में हिन्दी भाषा एक नए समाजबोध को प्रस्तुत करते हुए भाषा को उसकी पूरी जीवन्तता और शक्ति के साथ उपन्यास के फलक पर उभारने में काशीनाथ सिंह को सफलता मिली है। इसमें जीवन की जीवन्तता भी है, ठेठ देशज ठसक भी है, बदलते राजनीतिक परिवेश पर व्यंग्य भी है और लोक-भाषा और लोक में प्रचलित गीतों के गहरी संवेदना के साथ-साथ लोक का उन्मुक्त व्यवहार भी देखने को मिलता है।

सन्दर्भ –

1. काशी का अस्सी:काशीनाथ सिंह,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021देख तमाशा लकड़ी का ,पृष्ठ -11
2. काशी का अस्सी :काशीनाथ सिंह ,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021संतों घर में झगरा भारी ,पृष्ठ -34-35
3. काशी का अस्सी :काशीनाथ सिंह ,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021संतों घर में झगरा भारी ,पृष्ठ- 35
4. काशी का अस्सी :काशीनाथ सिंह ,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021संतों घर में झगरा भारी ,पृष्ठ -40-41
5. काशी का अस्सी :काशीनाथ सिंह ,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021संतों घर में झगरा भारी ,पृष्ठ -41
6. हिंदी उपन्यास का इतिहास :गोपाल राय ,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2002 पृष्ठ -466,
7. काशी का अस्सी:काशीनाथ सिंह,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली ,2021संतों घर में झगरा भारी ,पृष्ठ -67
8. काशी का अस्सी:काशीनाथ सिंह,राजकमल प्रकाशन ,नई दिल्ली,2021कौन ठगवा नगरिया लूटल हो ,पृष्ठ-134



नासिरा शर्मा की कहानियों में विषयगत वैविध्य (विशेष संदर्भ: 'खुदा की वापसी' और 'इंसानी नस्ल' संग्रहों की कहानियां)

प्रो. रुचिरा ढींगरा

हिंदी विभाग, शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

दूरभाष 9911146968

ms.ruchira.gupta@gmail.com

कहानी, उपन्यास, अनुवाद, समीक्षा आदि विभिन्न क्षेत्रों में बहुचर्चित लेखिका नासिरा शर्मा का जन्म इलाहाबाद के सादगी पसंद जमींदार घराने के मुस्लिम शिया परिवार में 1948 में हुआ था। नासिरा शर्मा की हिंदी, उर्दू, फारसी और पश्तो भाषाओं पर गहरी पकड़ है। इन्होंने जामिया मिलिया विश्वविद्यालय में फारसी, उर्दू में अध्यापन किया। परम्परागत विश्वासों के प्रति उनकी दृष्टि उदार है। --"प्राचीन विश्वासों के प्रति मेरा नजरिया बहुत साफ है कि बेशक वे हमारे वर्तमान प्रश्नों और समस्याओं का समाधान नहीं बन सकते हैं। वे हमको उस समय संतोष देने की शक्ति रखती हैं जब हम अपने ऊपर से विश्वास खो देते हैं। ऐसे डगमगाते समय आराधना और आख्या ही इंसान को बल देकर उसमें ऊर्जा का संचार करती है।" (1) जर्जर, रूढ़ि ग्रस्त परंपराओं को नासिरा जी ने कभी स्वीकार नहीं किया जैसे स्त्रियों द्वारा सौभाग्य चिन्ह के रूप में पहने जाने वाली चूड़ी, बिंदी, सिंदूर को वे कैदखाने की चंद निशानियां मानती हैं, जिनको लटकाए जाने से जीवन अधिक सुखी नहीं बनता। धार्मिक कर्मकांडों को नकारते हुए उन्होंने मात्र 19 वर्ष की अल्प आयु में भूगोल के जाने-माने अध्यापक डॉक्टर राम चंद्र

शर्मा से स्पेशल मैरिज एक्ट के अनुसार अंतरधार्मिक विवाह किया। उनका मत है--" धर्म केवल योजनाबद्ध तरीके से जीवन जीने का एक रास्ता है। आज धर्म को समझना हमारे लिए बेहद जरूरी हो जाता है क्योंकि उसका गलत प्रयोग इंसानों की जिंदगी को बेहद दुश्वार बना रहा है।" (2)

नासिरा शर्मा की 'खुदा की वापसी' कहानी संग्रह का शीर्षक खुदा की वापसी प्रतिकात्मक है। खुदा शब्द आदर्श अर्थ का वाचक है। खुदा का रूठना आदर्शों का

विभिन्न देशों में यात्राएं करने से नासिरा जी ने वहां की संस्कृति सभ्यता का गहराई से अध्ययन मनन किया और अनुभव किया कि समान्यतः सभी स्थानों पर स्त्री की स्थिति दोगम है। मुस्लिम समाज से संबंधित कहानियों के पात्रों में अदम्य जिजीविषा, संघर्ष से टकराने और अनवरत आगे बढ़ने की लालसा दृष्टिगत होती है। इस दृष्टि से 'खुदा की वापसी' और 'इंसानी नस्ल' संग्रहों की कहानियां महत्वपूर्ण हैं।

अमान्य होना है और खुदा की वापसी उन मूल्यों की वापसी या उनका पुनः मान्य होना है। लेखिका ने पति-पत्नी या दांपत्य जीवन को अपना विषय बनाया है। सभी कहानियों में मुस्लिम स्त्रियों की दोगम स्थिति के कारणों की विवेचना की गई है। शिक्षित अथवा अशिक्षित स्त्रियों को पुरुष के शोषण का शिकार होना पड़ता है। भविष्य के सुनहरे सपनों को संजोए ये स्त्रियां पूरी उमंग के साथ

जीवन के रस को उसकी अंतिम बूंद तक छक्क कर पीना चाहती हैं। मुक्ताकाश में परिंदों की तरह स्वच्छंद विचरण करना चाहती हैं किंतु कहीं तो पुरानी पीढ़ी के दकियानूसी विचार उनके मार्ग में रोड़ा बन जाते हैं तो अन्यत्र धार्मिक सामाजिक प्रतिबंध उनके पैरों की बेड़ी

बनते हैं। उनकी समस्याएं सुलझने के बजाए द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ती जाती हैं और उनके सुनहरे सपने चूर चूर हो जाते हैं। वे स्थितियों से घबराती नहीं अपने अवचेतन मस्तिष्क में दुख के अनसुलझे प्रश्नों का समाधान पाने के लिए पुनः उठ खड़ी होती हैं। जीवन पर्यंत लड़की होने का अभिशाप उन्हें भुगतना पड़ता है। शरीर के नाम पर लगाए प्रतिबंधों के शिकंजे में जकड़ी वे कशमकश में जीती है। कुछ स्त्रियां इस जीवन को ही अपनी नियति मान लेती हैं तथा अन्य स्त्रियों को भी उसी राह पर चलने का परामर्श देने लगती हैं। कथ्य के अनुरूप परिवेश की सृष्टि और पात्रों के चयन और विकास पर लेखिका की पैनी व सतर्क दृष्टि बनी रहती है जिससे वे उनकी शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को सुचारु रूप में प्रस्तुत कर सकी हैं। उनके आह्वान पर उनकी नारियां धार्मिक कट्टरता और उनके विरोध में डटकर खड़ी हो जाती हैं। उन्होंने सामाजिक आर्थिक विद्रूपताओं के कारण टूटे नारी मन का विश्लेषण भी किया है जैसे विधवा होने पर स्त्री के आर्थिक अधिकार छीन कर उन्हें मायके क्यों भेज दिया जाता है? क्यों उन्हें समाज द्वारा बहिष्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता है? वे या तो जड़ हो जाती है या वस्तु से व्यक्ति बनने का प्रयत्न करती रहती हैं। वे आक्रोश में भरकर शरीर के कानूनों को भी समझने का प्रयास करती हैं। अरब में लड़कियों को जिंदा दफना दिया जाता था। पैगंबरे इस्लाम को बेटी का पिता होने पर वहां के समाज ने बेऔलाद तक कहा था। कुरान की एक आयत में खुदा ने कहा है कि उन्होंने अपनी मानव सृष्टि में स्त्री-पुरुष बनाए किंतु किसी को छोटा या बड़ा नहीं बनाया। उन के पश्चात पैगंबरे इस्लाम में समस्त विरोध सहते हुए भी स्त्रियों के पक्ष में नियम बनाए जिनको तोड़-मरोड़कर संकीर्ण मानसिकता वाले धर्माचार्यों ने ऐसे नियम और फतवे दिए जिसमें स्त्री को बराबर का दर्जा देना या स्वतंत्रता देने का कोई प्रावधान

था ही नहीं।

लेखिका ने इस संग्रह की कहानियों में अपने तर्क सम्मत विचार व्यक्त किए हैं। उनकी आवाज कही नहीं सुनाई नहीं देती किंतु बंद दरवाजों से झांकती स्त्रियों उससे बाहर आकर अपनी आवाज बुलंद करती हैं। सभी कहानियां एक बेहतर उद्देश्य के साथ समाप्त होती हैं। 'दिलआरा'.. की नायिका सुनंदा वैधव्य के अभिशाप को भुगतने के साथ ही समाज द्वारा उपेक्षित हो, तिरस्कृत जीवन जीने के लिए बाध्य होती है। उसे किसी भी शुभ अवसर पर बुलाया नहीं जाता स्वेच्छा से विवाह करने, असमय वैधव्य से ग्रस्त होने पर पुनर्विवाह करने, पैतृक संपत्ति में बराबर की हकदार होने के अपने अधिकारों से अनभिज्ञ स्त्रियां सुनंदा जैसा नारकीय जीवन जीती हैं। निम्न और मध्य वर्गीय मुस्लिम स्त्रियों की स्थिति और भी दयनीय और शोचनीय होती है। अधिकांश स्त्रियां अशिक्षित हैं। उनका विवाह अल्प आयु में बिना उनकी मर्जी के तथा आयु में 30-40 वर्ष बड़े व्यक्ति से कर दिया जाता है। मेहर की रकम की माफी, तीन तलाक और चार विवाह करने की स्वतंत्रता प्राप्त पुरुषों के साथ वे नारकीय जीवन व्यतीत करती हैं। लेखिका को ऐसी पंगु बना देने वाली धार्मिक कट्टरता मुस्लिम आकाओं और धर्माचार्यों के दकियानूसी सिद्धांत मान्य नहीं है। वे चाहती हैं कि स्त्रियां अपना ईमान धर्म स्वयं निश्चित करें और आत्मनिर्भर बनें। इस संबंध में अपनी जिम्मेदारी का उन्हें पूरा अहसास है --"यदि मुझे इस वर्ग के लिए कुछ करना है तो मुझे संघर्ष का तरीका बदलना होगा। इन्हीं की जबान, आस्था और सोच, रहन सहन के अनुसार अपनी कलम उठानी होगी।" (3) यद्यपि कहानी रोचक है तथा अंत में स्त्री और पारंपरिक सोच में सीधी टकराहट के बाद स्त्री को मनोवांछित जीवन जीने का हक मिल जाता है तथापि उसे एक उत्कृष्ट कोटि की

रचना नहीं कहा जा सकता।

'दहलीज'. कहानी में दादी पुराने दकियानूसी विचारों में जकड़ी महिला है। वह अपने नवासे - नवासियों को उनकी परवरिश से लेकर शिक्षा तक में अंतर करती हैं। किस्सागो शैली में रचित रचना में लेखिका ने स्त्री जीवन की प्राकृतिक घटनाओं और मानसिक वेदना को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने बताया कि स्वयं पैगंबर ने स्त्रियों को तालीम दिए जाने का निर्देश दिया है। 'चार बहने शीश महल की'. कहानी में वृद्धा सास अपने पुत्र शरीफ पर अपनी चार कन्याओं को जन्म देने वाली पत्नी को तलाक देकर दूसरा निकाह करने के लिए दबाव डालती हैं। कहानी इलाहाबाद कोतवाली के पीछे बने सुहाग स्टोर से प्रारंभ होकर शरीफ चूड़ी वाले के घर में विकसित होती है। पौत्र की आकांक्षा करीमन को इतना गिरा देती है कि रोगी बहू के प्रति उसकी सारी ममता ही सूख जाती है। उसके तानों उलाहनों से बंधी जाती बहू भी पति से दूसरा विवाह कर लेने के लिए कहने लगती है। प्रश्न उठता है कि यह कैसे निश्चित किया जाए कि दूसरी पत्नी से पुत्र ही उत्पन्न होगा? लकवा ग्रस्त पिता के स्थान पर चारों बहनें अत्यंत कौशल से दुकान चलाती हैं। शरीफ भी उन्हें अपना सर्वस्व समझता है किंतु बड़े भाई के अपराधिक पुत्र उन लड़कियों को मार डालते हैं। शरीफ को पत्नी के पक्ष में खड़ा करके लेखिका ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। वह मां के दबाव डालने पर कहता है --

"*****बिना किसी माकूल वज़ह के दूसरी शादी की इजाजत नहीं है, फिर बिना बीवी की इजाजत लिए शौहर को दूसरे निकाह का हक भी नहीं है।" (4)

कहानी स्पष्ट करती है कि स्त्री की सबसे बड़ी दुश्मन स्त्री ही होती है। सहज, सरल, पात्रानुकूल भाषा और चित्रात्मक शैली में पात्रों की मानसिकता को उभारकर रख देने वाली है रचना मार्मिक और सुंदर है। 'नई हुकूमत

'कहानी की कथा नायिका हाज़रा पति अलताफ़ के द्वारा बिना उसकी सहमति के दूसरा निकाह करने पर तीन बार तलाक कहकर तलाक दे देती है। वह सिद्ध कर देती है कि शरीयत ने पुरुषों को ही यह अधिकार नहीं दिया है बल्कि स्त्री भी इसका उपयोग अपने अधिकारों के लिए लड़ने में कर सकती है।

'बचाव'. कहानी में लेखिका ने उन नियमों व मानवीय अवधारणाओं का विवेचन किया है जिसे पुरुष अपने स्वार्थ के अनुसार तोड़-मरोड़ कर पेश करता है। वह गवाह के रूप में अपने जैसे भोगवादी व्यक्तियों को भी जुटा लेता है। लेखिका उन स्त्रियों के बचाव के लिए खड़ी दिखती हैं जिन्हें समाज बेटी -पत्नी का दर्जा तो नहीं ही देता सामान्य इंसान भी ना समझ कर एक बोझ मानता है। एक प्रसंग में फरज़ाना अपने पति जुबेर से कहती है -- "यदि तुम्हें रस्में तोड़नी थी तो बगावत करनी थी। एक नई जिंदगी की बुनियाद डालते जिस के नियम नये होते। धर्म के बनाए कानून को नकारना था तो नास्तिक बन क्रांति करते मगर वो खतरे तुम मोल नहीं ले सकते थे। नियम और कानून से बंधी जिंदगी को कबूल करके उसमें से उन नियमों को छांटना जो तुम्हारे लाभ में जाते हैं और उनको रद्द कर देना जो दूसरों के फायदे में जाते हैं, क्या यह गुनाह नहीं है?" (5)

'पुराना कानून'. कहानी का कथानायक अपनी प्रेमिका रुबीना के कारण अपनी पत्नी अफ़साना को पत्र में तीन बार तलाक लिखकर भेज देता है। सीरिया और मिस्र की लड़ाई के दौरान मदीना गई बहुत से कैदी औरतों से विवाह के इच्छुक पुरुषों ने अपनी पत्नियों को तलाक दिया था। कथा नायक भी इन्हीं घटनाओं से प्रेरित प्रभावित होकर अपने जीवन में बदलाव लाना चाहता है। पुरुषों की भोगवादी प्रवृत्ति स्पष्ट है। कथा सुखांत है। सामाजिक सरोकारों एवं व्यवहारिक दबावों के कारण ये धार्मिक प्रतिबंध टूटते हैं और अफ़साना को उसकी

जिंदगी वापस मिल जाती है। लेखिका ने इंसानी रिश्तो की भावात्मकता को धार्मिक कारणों से ऊपर बताया है। 'दूसरा कबूतर' कहानी का कथानायक बरकत अपना नाम बदल कर दो स्त्रियों सादिया और रूबइया से निकाह करता है। उसे अपने कृत्य पर ग्लानि भी नहीं है क्योंकि उसके अनुसार--" यह हमारा समाज है, लिबास है और जरूरत है" (नासिरा शर्मा, दूसरा कबूतर कहानी, खुदा की वापसी कहानी संग्रह) तथा "औरत एक मर्द से मुतमुईन हो सकती है, मगर मर्द नहीं।" (6) कहानी धार्मिक कारणों पर पुरुष सत्तावाद के अधिकार की दास्तान बयान करती है। लेखिका ने कथात मे बरकत को उसकी दोनों बीवियों से तलाक दिलाया है। 'मेरा घर कहां' कहानी की कथा नायिका लाली धोबन की बेटी है और नारी उत्पीड़न की शिकार है। लेखिका के अनुभवों, मुस्लिम कानूनों के ज्ञान और सामाजिकता के यथार्थवादी सोच ने उनकी कहानियों को जीवंत बनाया है। सोना अपने ही चरित्र हंता द्वारा चरित्रहीन करार कर दी जाती है। वह उससे विवाह कर उसे सम्मानीय जीवन देने के लिए तैयार नहीं होता। 18 वर्षीय सोना स्वयं ही संघर्ष कर स्वावलंबी बनती है।

'खुदा की वापसी' कहानी लेखिका की एक सशक्त रचना है। जुबैद सुहागरात को ही फ़रजाना को बहला-फुसलाकर मेहर की 50, 000 राशि माफ करा देता है। अली इमाम और मौलाना वहीउद्दीन द्वारा मेहर की आवश्यकता और महत्व समझाए जाने पर फ़रजाना अड़ जाती है कि जुबैद अपनी गलती माने और उससे माफी मांगे। पुरुषोचित्त अहंकार के कारण जुबैर इसे नहीं मानता जिससे उसका घर बनने के पहले ही उजड़ जाता है परिणामतः वह अपना कारोबार छोड़कर अरब चला जाता है। दोनों ही एक-दूसरे के लिए दुखी होते हैं। लेखिका ने स्त्री की अज्ञानता को दूर करने के लिए उक्त तथ्यों की विवेचना की है तथा इसके पक्ष में अपने तर्क

दिए हैं। 'दिलाआरा' कहानी में साज़दा बेगम सोनियोलॉजी के प्रोफेसर वर्मा से कहती है --" जैसी की रवायत है कि हज़रत खदीजा ने खुद अपनी पसंद का इजहार करते हुए पैगंबर से शादी की बात की थी। इससे बढ़कर और कौन सा सबूत होगा? इसलिए औरत को पूरा हक है कि वह अपने साथ की जा रही ज्यातियों के खिलाफ आवाज उठाये। वह निकाह के वक्त बकायदा शादी से इनकार कर सकती है अगर शौहर उसको पसंद नहीं है या फिर जोर जबरदस्ती या लालच से हो रही है।" (7) आज कठमुल्ला छोटी लड़कियों के अपरिपक्व मस्तिष्क की दुहाई देते हुए उन तक ऐसी बातों को नहीं जाने देते। बुर्का और हिजाब पहनने की अनिवार्यता भी स्त्रियों के लिए दुखदाई होती है।

इंसानी नस्ल संग्रह .

' इंसानी नस्ल संग्रह ' हिंदुस्तान को समर्पित कहानी संग्रह है। नासिरा जी ने देश में व्याप्त अनेकता में एकता की सांझी विरासत को इसमें उद्घाटित किया है। उन्होंने धर्म, जाति, संप्रदाय के कटघरे को तोड़कर एक नया निर्मल संसार रचने की कोशिश की है। अलग-अलग धर्म के व्यक्ति दांपत्य प्रेम में बंधकर प्रेम का अद्भुत संसार रचते हैं। समाज प्रारंभ में उनके रिश्तो को स्वीकृति नहीं देता। कठमुल्ला शक्तियां भी निरंतर उसे पीछे ढकेलती है। विवेच्य संग्रह की कहानियों के विषय में लेखिका ने स्पष्ट किया है --"इस संग्रह में दो तरह की कहानियां हैं। पहली धर्म जाति भाषा को लेकर इंसान की इंसान से टकराहट से संबद्ध जो सतही कारण है जरूर मगर गहरे बंधते हैं। दूसरी वे कहानियां जो संवेदना के स्तर पर एक इंसान को छलकर चरम सुख प्राप्त करता है और दूसरा इंसान को गहरे आहत करता है। ये अंतर्धारा को पकड़ती पेचीदगियों की कहानियां हैं जो इंसान की आंतरिक व्यवस्था को दर्शाती हैं। खासकर इस बात को कि दिमाग दिल पर कितना हावी होता जा

रहा है और संवेदनाएं किस तरह शुष्क हो भौतिक सुख में अपने को तलाश करती भटक रही हैं।" (8) इनके अतिरिक्त अंधविश्वास से घिरे लोगों की कहानियां भी हैं जिनके पात्र घटनाएं और परिवेश इतने परिचित हैं कि पाठक को उनसे एकाकार होने में कठिनाई नहीं होती। सहज, सरल, भाषा शैली का प्रयोग करते हुए नासिरा जी इन रचनाओं के भीतर जीकर व्यक्ति की आंतरिक और बाह्य यात्राओं, इच्छाओं, अभिलाषाओं, भूख, प्यास, यंत्रणा, शोषण, सद्भाव का परत दर परत खुलासा करती हैं। उनका सजग पत्रकार, चित्रकार और भावुक हृदय इनमें रचा-बसा मिलता है।

'असली बात' कहानी में लेखिका ने स्पष्ट किया है कि रोटी में इतनी ताकत है कि वह जब चाहे बांट देती है और जब चाहे एक कर देती है। कहानी दंगा शुरू होने पर कर्पूरू लगने और दंगा कराने वालों की पहचान करने तथा फिर दंगा न करने के सूत्रों को जोड़ती है। तंबोलन का प्रकरण दो धर्मों के समान उद्देश्य के महत्व को व्यक्त करता है। लेखिका के अनुसार इंसान होना और इंसानियत से प्रेम होना ही महत्वपूर्ण है। 'अपराधी' कहानी सेवानिवृत्ति के पश्चात जीवन में अकेलेपन और संस्कारों के खोखलेपन तथा झूठी प्रतिष्ठा के मोह को व्यक्त करती है। पुलिस सेवा से निवृत्त राम मनोहर त्यागी अपने ब्राह्मण संस्कारों में बुरी तरह जकड़े हुए हैं। दीक्षित जी के यहां का खान-पान उन्हें पवित्र नहीं लगता क्योंकि उन्होंने ब्राह्मण होकर एक ईसाई लड़की से विवाह किया है। कुरेशी जी मांसाहारी हैं और चतुर्वेदी जी का पूरा परिवार सुबह ही काम पर चला जाता है अतः वे किसी के यहां नहीं जाते। निरंतर अकेलापन झेलते हुए वे डिप्रेशन का शिकार हो जाते हैं। अपने संकुचित दृष्टिकोण को सारे दुखों की जड़ मानकर वे अपने व्यवहार को बदलते हैं। कहानी के अंत में पिता का खिला चेहरा, तेज चाल देखकर उनका

पुत्र सोचता है कि जीवन भर ईमानदारी और मुस्तैदी से अपराधियों को पकड़ने वाले उसके पिता की किसी अपराधी से भेंट हो गई है। वस्तुतः त्यागी जी ने अपने अंदर छुपे अपराधी को पकड़ लिया था। 'पांचवा बेटा' कहानी की अमृतुल हिंदू सुलाखी को उसकी मां विनती के मरने के बाद अपना दूध पिलाकर पालती है। उसके चार बेटे शहर जाकर वही बस जाते हैं। उन्हें ढूंढने में व्यस्त अमृतुल अपने पांचवें बेटे को भूल जाती है। अमृतुल इमामबाड़े, कमरे और दालान की छत को वर्षा से पहले सुधरवाने के लिए रहमान को बुलाती है जो कुंवर साहब के यहां व्यस्त होने के कारण नहीं आ पाता। वर्षा आने से पहले ही सुलाखी तिरपाल तानकर ताजिए और अलम को बचा लेता है किंतु स्वयं भीगने के कारण ज्वरग्रस्त हो जाता है। अमृतुल अपनी संकीर्णता का त्याग कर सुलाखी के यहां जाकर उसके माथे और सीने पर पवित्र राख लगाकर उसके शीघ्र स्वस्थ होने की कामना करती है। उसकी पोती इस इंसानियत को आगे बढ़ाते हुए कहती है -- "दादी अब इस दौर में पेट की वजह से रहमान अगर कुंवरपाल के घर काम कर रहा है तो सुलाखी हर हाल में आपके घर का काम करेगा। इस हकीकत से आप कैसे आंख बंद कर सकती है?" (9) वस्तुतः यह एक मानवीय रिश्ते की कहानी है जहां अन्य सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। 'बड़े पर्दे का खेल' कहानी में लिखिका स्पष्ट करती है कि मनचले युवकों के विरुद्ध नारी का विद्रोह हो तो उचित है किन्तु एक गृहस्थ के साथ जानते-बूझते प्रेम करना, समाज में दिनों दिन फैलता जा रहा बड़े पर्दे का खेल है। आशिक मिजाज राज मल्होत्रा विवाहित होकर भी मासूम लड़कियों को फंसाता है। वह उन से विवाह नहीं करता, वह उनके सामने अपनी विभिन्न प्रेमिकाओं की भी चर्चा करता है। रमा उस के प्रेम जाल में फंस जाती है और विवाह उपरांत भी उसे भूल नहीं पाती। उसकी सखी उषा, राज को सबक सिखाने का संकल्प करती है। वह रमा को

अपनी योजना बताती है जिससे रमा का अपने परिवार के प्रति विश्वास लौटता है और उसका जीवन नष्ट होने से बच जाता है। 'जोड़ा' कहानी का नायक चित्रकार अपने परिवार से बिछड़ जाता है। वह अपने जीवन को फिर से व्यवस्थित करने के लिए एक उपयुक्त साथी की तलाश करता है। संपर्कागत विदेशी महिला में अपेक्षित पवित्रता और कोमलता का अभाव देखा उसे नहीं अपनाता और अपने उपयुक्त जोड़े की खोज में निकल पड़ता है।

नासिरा शर्मा नारी जीवन की विभिन्न स्थितियों को विभिन्न कोणों और संदर्भ में व्यक्त करती हैं। उनकी नारी सृष्टि में वृद्धों, युवतियों, सास, बहू, बेटियों की पूरी दुनिया है जिनके माध्यम से उन्होंने बदरंग जीवन को जीने लायक बनाया है। पाखंड और रूढ़ियों का विरोध करने वाली स्त्रियों को समाज द्वारा उत्पीड़ित कर यातनामय जीवन जीने के लिए विवश कर दिया जाता है। पुरुष की वर्चस्ववादी मानसिकता भी उन्हीं को कुचलती है। पूंजीवादी व्यवस्थाओं द्वारा आवारा, बेरोजगारों की सहायता से लोगों की शांति भंग और निर्धनों का शोषण किया जाता है। नर्मदा कुमार एक दुर्घटना में अपना एक पैर गंवा देते हैं। स्टेशन के पास होने से उसकी जमीन का दाम बढ़ जाता है अतः सुंदरलाल, बेरोजगार मंगलू की सहायता से उसे हड़पने की चेष्टा करता है। मंगलू नर्मदा की पत्नी कम्मो पर चरित्रहीनता का आरोप लगा उसे 'सरा' नदी में उतरने की परीक्षा देने के लिए कहता है, जिसमें कम्मो खरी उतरती है। मंगलू पुनः उस पर आरोप लगा अग्नि परीक्षा देने के लिए कहता है। सब्र का बांध टूटने पर कम्मो उलटकर मंगलू पर आरोप लगाती है और उसे सार्वजनिक रूप से क्षमा मांगने पर विवश कर देती है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि मंगलू जैसे नरपिशाच हर समाज में मिलते हैं। स्त्रियों को उन का डटकर सामना

करना चाहिए। 'मरुस्थल' कहानी राकेश, ममता और इंदु के प्रेम त्रिकोण पर आधारित है। राकेश और ममता को प्रेम की राह दिखाने वाली इंदु जब स्वयं राकेश से प्रेम करने लगती है तब ममता आहत होती है। इंदु और ममता के संबंध बिगड़ जाते हैं। राकेश के कहीं चले जाने पर वे दोनों निकट आ जाती हैं। प्रेम के मरुस्थल में राकेश के हाथ कुछ नहीं लगता। 'उजड़ा फकीर' कहानी में लेखिका ने नगरीय विकास से उपजी यातनाओं को अपना वर्ण विषय बनाया है। उनके शब्दों में--" अपने घर के राजा रानी को इस बदहवास उन्नति करते शहर ने बेकार समझ जिंदगी के कूड़ेदान में ला पटका। माना कि दुनिया गोल है। मगर इस चपटी दिखने वाली पृथ्वी के दोनों किनारों की आपसी दूरियां पार करना दिन प्रतिदिन कितना कठिन होता जा रहा है और शहर के विकास का इतिहास इस मानवीय पीड़ा को दर्ज करना भी फजूल समझेगा।" (10) किसी समय सम्पन्न रहे राजू और उसकी पत्नी समय पलटने के साथ इतने निर्धन हो गए कि रानी गोबर पाथने के लिए विवश हो जाती है। एक उस्ताद ने राजू का अपहरण कर उसे स्टेशन के बाहर भीख मांगने के लिए बैठा दिया और कमाई करने लगा। घर से बेघर हुए फकीर से भी कमाई कराना शोषण के विभिन्न स्वरूप को प्रस्तुत करता है। आज भी इस प्रकार का शोषण एक बड़ी व्यवस्था के रूप में लोगों को अपंग बना रहा है।

'दुनिया' कहानी में लेखिका ने बदलते समय के साथ समाप्त होती मानवीय संवेदना का आंकलन किया है। कथा नायिका शोभना कैरियर और स्टेटस को बनाए रखने के लिए पार्टियों में जाना, अपनी शेखी बघारना तथा स्वयं को हाई-फाई दिखाने के लिए सजने संवरने को प्राथमिकता देने लगती है। यहां तक कि पिता का निधन भी उसे विचलित नहीं करता। वह पति सुरेश से कहती है --"मैंने तो बाबा को नहीं मारा

ना उन्हें मारने का षड्यंत्र रचा। आखिर वे बूढ़े थे और ऊपर से बीमार। उन्हें जाना ही था। एक दिन इसी तरह सबको जाना है। इसमें नई बात क्या है? मौत सच्चाई है, पर यह भी एक कड़वा यथार्थ है कि यह संसार किसी की मौत से टूटता थमता नहीं है, पूर्ववत् चलता रहता है। (11) एक पुत्री की थोथी संवेदना और महत्वकांक्षा का घृणित रूप यहां व्यक्त हुआ है। यह महत्वकांक्षा उसने अपने अंदर सायास उपजाई थी। उसे रोकने - समझाने में असमर्थ सुरेश मूकदर्शक बना रहता है क्योंकि तभी घर में शांति संभव है। लेखिका ने स्पष्ट किया है कि आधुनिकता की चकाचौंध हमारे हृदयों को असंवेदनशील बना रही है। 'वही पुराना झूठ' कहानी नारी की सादगी, झूठ, विवाह समस्या, स्वाभिमान और सम्मान की रक्षा, सहनशक्ति की सीमा आदि बिंदुओं को रेखांकित करती है। मां की लाश के समीप रोती शाहिदा को रज्जो बी उठा लेती हैं और पाल-पोसकर बड़ा करती हैं। उसके विवाह के लिए वे बिचौलिए रमजान के कहे अनुसार उसे कलकत्ता से लेकर लखनऊ में निर्धारित समय और स्थान पर पहुंच जाती हैं किंतु रमजान नहीं पहुंचता। वह एक हमदर्द गफूर के यहां रात को रुकती है जहां घर की महिलाएं शांति से झालिया कूट रही है। उनकी मशीनी दिनचर्या समाप्त होने पर गफूर की मां दिन के इज्जत से कटने और अगला दिन भी उसी प्रकार काटने के लिए शुक्रिया अदा करती हैं और सारी औरतें आमीन कहती हैं। गफूर मियां के लड़का ढूंढने में असमर्थ रहने पर निराश रज्जो बी भी जाहिरा के साथ वापस कलकत्ता चल पड़ती है। वे किसी भी जाति के अपंग बहरे अंधे के साथ जाहिदा का विवाह करने को तैयार हैं। रमजान के भीड़ में मिल जाने पर रज्जो उससे मिलकर जाहिदा पर एक अंधे बूढ़े से निकाह करने के लिए दबाव डालती हैं किंतु जाहिदा उनके चंगुल से निकलकर भाग जाती है। रज्जो बी अकेले कलकत्ते लौटते समय स्वप्न में जाहिदा को

गफूर मियां के आंगन में स्त्रियों के साथ छालियां कतरते देखती है। कोलकाता पहुंच कर जमाने भर में उसके विवाह की झूठी कहानी सुना देती है किंतु बेटी की विदाई पर उनकी आंखें भर आती है। गफूर मियां की मां की एक ही सीख थी कि यह जिंदगी सपोलों से भरा पिटारा न बन जाए। इसके लिए लड़कियों को अपना दिमाग अटारी पर रखना चाहिए। एक अच्छा जीवन साथी ना मिलने पर अविवाहित रहना ज्यादा अच्छा है। वे कहती है --यह(रज्जो बी) वह औरत है जो अपनी बात मनवा नहीं सकती समझा नहीं सकती। इसमें सब्र नहीं है यह इंतजार नहीं कर सकती। यह अपनी खामोशी से मर्दों की जड़े हिला नहीं सकती। इस व्यथा के सागर दुनिया को पार करने के लिए उन्हें औरतों की जरूरत थी मगर कुछ बुजदिलों की नहीं जो मर्दों के बिना जी ना सके। (12) लेखिका मानती है कि आत्म सम्मान पूर्वक जीने के लिए नारी को दृढ़ता पूर्वक आत्मसम्मान का दामन थामना ही होगा।

'इंसानी नस्ल' कहानी धर्मनिरपेक्षता से उपजी नवाब -सरिता, दिलशाद -रजिया, जावेद -नसरीन और मिश्रा जी की उदार जीवन शैली और संबंधों का खुलासा करती है। कहानी में अंतरजातीय, अंतरधार्मिक विवाह को मान्यता दिलाने का प्रयास स्पष्ट है। सविता, नवाब की मां जैनब को देखने आती है पर नवाब को भा जाती है। वह उसे अपनाना चाहते हैं क्योंकि उनके अनुसार कानूनी रीति रिवाज इंसान के बनाए हुए हैं। अम्मी उनके निर्णय का विरोध नहीं करती पर सविता को धोखा न देने की हिदायत अवश्य दे देती हैं --"बदलो, जो बूता है तो बदलो, मगर पराई लड़की को दरबदर मत करना।" (13) कहानी का अंत धार्मिक उन्माद के फलस्वरूप इस चिंता से होता है कि--" ऐसे हालात में नयी इंसानी नस्ल के बच्चे पैदा करना क्या जरूरी है? हो गया तो हम उसे क्या देंगे? सांझी संस्कृति या बंटा हुआ हिंदुस्तान

?" (14))

'एक ना समाप्त होने वाली प्रेम कथा' कहानी नारी की अनंत भूख को उद्घाटित करती हैं। संपत्ति के लोभ में चंद्रा आनंद से प्रेम विवाह करती हैं किंतु उसके कारण ही उसके पति की मृत्यु हो जाती है। वह अपने प्रेमी को भी पुलिस से पकड़ा देती है। वह अत्यंत भौतिकतावादी एवं क्रूर है। आपने सुख के मार्ग में बाधक बनने वाले प्रत्येक संबंध को अत्यंत निर्ममता से अपने मार्ग से हटाती चलती है।'

'कनीज़ बच्चा' कहानी में मुस्लिम परिवार में माननीय एकाधिक विवाह के कारण भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली स्त्रियां और बच्चे एक ही पुरुष से संबंध होने के कारण एक ही स्थान पर रहते हैं जिससे उनमें तकरार होना स्वभाविक है। विवेच्य कहानी में लेखिका ने मुस्लिम परिवारों के रीति रिवाज पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। उनका उद्देश्य मानवीय संवेदनाओं को विकसित और सुरक्षित करना है। परिवार में व्याप्त रूढ़ियों को तोड़ना है, जिससे उसमें रहने वाले खुलकर सांस ले सकें। सामंती परिवार की जड़ता खुशियों के रंग को धूमिल कर देती है। वकील नूर मोहम्मद, पत्नी जुलेखा के होते हुए जैनब से विवाह कर लेते हैं, किंतु उन्हें दोनों को अलग अलग रखना पड़ता है। जुलेखा का पुत्र अहमद यूनिवर्सिटी में नौकरी करता था और जैनब का पुत्र शब्बीर कलेक्टर था। पति की मृत्यु के पश्चात बीमार बड़ी बेगम शब्बीर को जायदाद में हिस्सा नहीं देना चाहती किंतु जैनब अपनी ननिहाल से मिली संपत्ति को शब्बीर और अहमद में बराबर बांटना चाहती है। वह कहती है --"विरासत जमीन जायदाद का नाम नहीं है। सिर्फ विरासत में मां बाप के एहसास, ख्यालात और खानदान की इंसानी रियासतों को संभालना है। आज तुम्हारे अब्बा की रूह कितनी खुश होगी इसका अंदाजा

मुझे है। यह कागजात संभाल कर रखो। इसकी एक कॉपी मैं खुद अहमद को देती, मगर तुम खुद वक्त लेकर उसकी यूनिवर्सिटी जाओ और अदब से देकर आओ। वह तुम्हारा बड़ा भाई है।" (15) उसके आचरण ने बड़ी बेगम के हृदय को परिवर्तित कर दिया तथा प्रेम और सब्दाव की एक नई परंपरा प्रारंभ हुई, जिसने कहानी को महत्वपूर्ण बनाया है। धर्म की आड़ में इंसानी टकराहट को व्यक्त करती ये कहानियां नई पीढ़ी की बदलती सोच को अभिव्यक्त करती हैं। पुरानी पीढ़ी अंधविश्वासी है। प्रेम के नाम पर छले गए व्यक्ति दुखी होते, घुटते, टूटते और संघर्ष करते हैं। संयोग श्रृंगार के सहजता से उकेरे गए चित्र, उचित शब्दों के चयन और सफल प्रस्तुति के कारण ये कहानियां प्रभावी हैं। पर्यावरण और मनुष्य के अन्योनाश्रित संबंधों के चित्र आलंकारिक हैं। तथ्यों, सूक्तियों के रूप में या पात्रों द्वारा व्यक्त जीवन दर्शन भी सुंदर है। बिंब निर्माण और उदात्त कल्पना नासिरा जी की कहानियों की पहचान है। इंसानियत की लड़ाई खुले दिमाग, निरपेक्ष सोच, और सत्यम शिवम सुंदरम की मदद से लड़ी जानी चाहिए। विवेचित संग्रह कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से लेखिका की प्रौढ़ कृति है।

निष्कर्ष: समग्रतः कह सकते हैं कि अपनी मान्यताओं के अनुसार नासिरा जी की कहानियों में धार्मिक अंधविश्वासों से टकराहट सुनाई देती है। वे उस धर्म को स्वीकार करती हैं जो मानवीय संवेदनाओं को जन्म देकर उन्हें विकसित और सुरक्षित करता है। इन कहानियों में लेखिका ने कालप्रवाह के साथ बदलते मानवीय मूल्यों के लिए गहरी चिंता व्यक्त की है। इसके साथ ही बेरोजगारी, पूंजीवादी व्यवस्था, भोगवादी संस्कृति, नारी की दोयम स्थिति, निर्धनों के शोषण, प्रेम, धार्मिक संकीर्णता, पुरुषोचित अहंकार इत्यादि समस्याओं को भी उन्होंने लिपिबद्ध किया है।

संदर्भ:

1. नासिरा शर्मा ,राष्ट्र और मुसलमान, पृष्ठ 197
2. नासिरा शर्मा, खुदा की वापसी कहानी संग्रह ,पृष्ठ 9
3. नासिरा शर्मा ,खुदा की वापसी ,पृष्ठ 8
4. नासिरा शर्मा, चार बहने शीश महल की कहानी, खुदा की वापसी कहानी संग्रह
5. नासिरा शर्मा ,बचाव कहानी ,खुदा की वापसी कहानी संग्रह ,पृष्ठ 31
6. नासिरा शर्मा ,दूसरा कबूतर कहानी, खुदा की वापसी कहानी संग्रह
7. नासिरा शर्मा , दिलआरा कहानी, खुदा की वापसी कहानी संग्रह
8. नासिरा शर्मा , इंसानी नस्ल कहानी, संग्रह पृष्ठ 9
9. नासिरा शर्मा, पांचवा बेटा कहानी, इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
10. नासिरा शर्मा ,उजड़ा फकीर कहानी , इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
11. नासिरा शर्मा , दुनिया कहानी , इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
12. नासिरा शर्मा , वही पुराना झूठ कहानी, इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
13. नासिरा शर्मा, इंसानी नस्ल कहानी , इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
14. नासिरा शर्मा, इंसानी नस्ल कहानी, इंसानी नस्ल कहानी संग्रह
15. नासिरा शर्मा, कनीज़ बच्चा कहानी, इंसानी नस्ल कहानी संग्रह



मैत्रेयी पुष्पा का कथा साहित्य और स्त्री ‘मुक्ति’ के प्रश्न

प्रीति

पीएच. डी. शोधार्थी

हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

नई दिल्ली

Preetikumari7795@gmail.com

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में हिंदी कथा साहित्य में मैत्रेयी पुष्पा की उपस्थिति एक प्रभावशाली हस्तक्षेप की तरह है। उनका कथा संसार के केंद्र में बुन्देलखंडी के ग्रामीण परिवेश की सामान्य स्त्रियाँ हैं। ग्रामीण स्त्रियों का सामाजिक परिवेश, जीवनानुभवों और शोषण से उपजे संघर्ष को अपने कथा साहित्य में प्रभावशाली तरीके से वक्त किया है। यह स्त्रियाँ मुखर और ज्यादा बेबाक नायिका के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा द्वारा रचित ‘फेसला’, ‘ललमनिया’, ‘गोमा हंसती हैं’, ‘पियरी का सपना’, ‘छुटकारा’, ‘मुस्कुराती ओरते’ संग्रह की कहानियाँ और चाक, अल्मा-कबूतरी, इदन्नम्म, विजन आदि उपन्यास हैं जो स्त्री ‘मुक्ति’ के प्रश्न पर केन्द्रित हैं। उनकी रचित कहानियाँ हो या उपन्यास संपूर्ण लेखन स्त्री-मुक्ति के सेदान्तिक प्रश्न को समझने और उनकी जटिलताओं को सामने रखने की चेष्टा करता है। मैत्रेयी पुष्पा

के नारीवादी लेखन में स्त्री ‘मुक्ति’ के प्रश्नों के समाधान तलाशने की कोशिश साफ दिखाई देती है। लेकिन अन्य नारीवादी लेखिकाओं की तरह उनके लेखन में भी स्त्री ‘मुक्ति’ के अर्थ, उसके अन्तर्विरोध और विरोधाभास विद्यमान हैं जिसे नारीवादी आलोचना में भी गंभीर रूप से नहीं उठाया। जो व्यवस्था से ज्यादा

पुरुष विरोधी मानसिकता, अस्मितावादी विमर्श के अन्तर्विरोधों का भी शिकार दिखाई देती है। यह लेख उसी अन्तर्विरोध को समझने का प्रयास है।

मैत्रेयी पुष्पा का कथा संसार बहुत विस्त्रुत है। उनकी अनगिनत कहानियाँ हैं जो स्त्री जीवन के संघर्ष और पितृसत्तात्मक समाज की जटिलताओं को रेखांकित करती हैं। उनकी नायिकाएं वह कहानियों में हो या उपन्यास में ग्रामीण परिवेश की साधारण स्त्रियाँ हैं। वह एक पारम्परिक स्त्री की छवियों को बदलने की कोशिश करती हैं। अपने वक्तव्यों और फेसलो में वह पूरी कथा पर हावी दिखाई देती हैं जिससे उनका बोलचाल उभर कर सामने आता है।

प्रस्तुत लेख हिंदी के नारीवादी उपन्यासों में स्त्री-मुक्ति के प्रश्नों पर गहन पड़ताल है। हिंदी की प्रतीष्ठित नारीवादी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा के कथा संसार के सन्दर्भ में स्त्री मुक्ति के सेदान्तिक प्रश्नों उनके सुझाये समाधान और अंतरविरोधों को भी रेखांकित किया गया है।

‘चिन्हार’ कहानी संग्रह की भूमिका में मैत्रेयी पुष्पा अपने स्त्री पात्रों के बारे में लिखती हैं “.....मेरे गाँव की ही कहानियाँ हैं ये.....वहाँ की धरती पर घटी थी सारी घटनाये। केतकी, चंदना, गिरजा, मुझे राह चलते नहीं मिली थी। मेरे साथ-साथ ही उनका जीवन इस

धरती पर पनपा था।¹

हिंदी कथा साहित्य में ये साधारण स्त्रियाँ पितृसत्ता, सामन्तवाद और सामाजिक कुरूपतियों, खोखली मान्यताओं को तोड़ने का साहस करती हैं। प्रायः वह हर बंधन को अस्वीकार करती हैं, चाहें वह बंधन जीवन पर लगे हो या स्त्री देह पर। मैत्रेयी पुष्पा अपने स्त्री पात्रों के

संघर्ष पर लिखती हैं “नारी और पुरुष के बीच का शोषण हैं, कारण कि गाँवों की धरती अशिक्षा और रूढ़ियों से ग्रसित हैं। थोथी परम्पराओं का वर्ण किये हैं। इसलिए वहाँ की नारी को अन्याय के विरुद्ध अकेले ही भीषण युद्ध करना पड़ता है अपनों से वीरानों से। और समय आने पर सबसे भी।”²

‘रास’ कहानी की जेंमती हो या, ‘राय प्रवीण’ की सावित्री हो या ‘गोमा हंसती हैं’ की गोमा नारी मुक्ति की यह चाह अक्सर स्त्रीव्रत नैतिक मानदण्डों का अतिक्रमण हुए अपना नया रास्ता तलाशती हैं। गोमा अपने बेमेल विवाह की विवशता का प्रतिकार बली सिंह से विवाहेतर सम्बंध बनाकर करती हैं। यह कहते हुए वह परिवार और विवाह दोनों ही संस्थाओं के छद्म को उनके भीतर रहकर तोड़ती हैं। बछिया-पड़िया कि डंगर से भी गई गुजरी गोमा की यह व्यक्ति त्वांतरण कथा मैत्रेयी जिन अनजाने व गोपन प्रसंगों के साथ रचती हैं वह भारतीय ग्राम्य जीवन की कुरूप सच्चाईयों का अतरंग साक्षात्कार कराती हैं।³

‘फेसला’ कहानी इतनी प्रसिद्ध हुई की उस पर ‘वसुमती की चिठ्ठी’ नाम से टेलीफिल्म भी बनाई गई। वसुमती के माध्यम से स्त्रियों के राजनितिक भागीदारी, समाज में स्त्री प्रतिनिधित्व को बढ़ावा देने के रूप में पेश करती हैं। स्त्री कितने ही उच्च पद पर हो पितृसत्तात्मक मूल्यों के चलते उनका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं बनने दिया जाता।

कहानी में वसुमती प्रधान तो बन जाती हैं लेकिन विडम्बना यह है की प्रधान पद प्राप्त करने के बाद भी उसे पति के फेसले के अनुकूल आचरण करना पड़ता है। उसके सारे फेसले वह तय करता है। वसुमती प्रधान रहकर भी गाँव के लिए कोई निर्णय नहीं ले सकती। वसुमती कहती हैं “मैं ही पस्त हिम्मत थी या पति की

प्रतिछाया मेरे भीतर निवास करती थी। देहरी उलांघते ही कोई वर्जन लगता ‘हम हैं तो सही अब तक भी तो करते रहे। तुम्हे क्या जरूरत है बाहर आने की।”⁴

मैत्रेयी पुष्पा के नारीवादी लेखन की यह विशेषता है की उन्होंने स्त्री मुक्ति के प्रश्न के हल को राजनेतिक दावेदारी के रूप में बदल दिया। लेकिन उनका यह सोचना की केवल सत्ता हस्तान्तर्ण मात्र से परिवर्तन हो जायेगा यह उस अस्मितावादी द्रष्टिकोण का परिणाम है जिसमें स्त्री के लिए स्त्री ही उपयुक्त नेत्रत्व वाली धारणा निहित होती है। जबकि हम देख सकते हैं सत्ता पद पर कोई स्त्री हो या पुरुष कोई खास फर्क नहीं दिखाई देगा क्योंकि सामाजिक ढांचा तो वही रहता है।

सामाजिक ढांचे में परिवर्तन किये बगैर स्थिति वैसे ही बनी रहेगी। चाहे देश का प्रधानमंत्री एक महिला हो या पुरुष। राजनीति में महिलाओं का आना उनका प्रतिनिधित्व करना एक सकारात्मक प्रभाव जरूर पैदा करता है यह उनका सवेधानिक अधिकार है। लेकिन क्या केवल सत्ता हस्तात्त्रण भर से आम स्त्रियों के जीवन में कोई ठोस बदलाव हो जायेगा। क्या हमें पहले सत्ता के मूल स्वभाव को समझने उसे बदलने पर जोर देना आवश्यक नहीं होगा? हमें कार्यनीति में बदलाव और स्त्री की आर्थिक पहलू पर ध्यान देना आवश्यक नहीं है जो स्त्री की अधीनता के सबसे बड़े कारण हैं। पद पर स्त्री हो या पुरुष वह पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रभाव और भूमिका के अनुरूप ही व्यवहार करेगा। क्योंकि सत्ता का स्वरूप ही है वर्चस्वता हासिल करना, ज्यादा से ज्यादा समय तक अपना अधिपत्य कायम करना। उन मूल्यों को ही पोषित करना जो पितृसत्तात्मक समाज को लाभ पहुंचाए।

सत्ता हस्तात्त्रण और राजनेतिक दावेदारी की यह मांग मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों में बड़े जोरदर तरीके उठाये

गये हैं। कहानियों के आलावा ‘चाक’, ‘अल्मा कबूतरी’ उपन्यासों में भी हैं वह इसी नजरिये का परिचय देती हैं। उनका सारा जोर और संघर्ष किसी राजनेतिक पद प्राप्ति कर लेना भर हैं। राजनेतिक क्षेत्र के लाभ हानि, स्वार्थ और भर्स्ट पार्टी के चरित्र और राजनेतिक दांवपेंच को नजरंदाज कर उन्हें सभी स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग कैसे ठहराया जा सकता है? क्या सभी स्त्रियों को यह अवसर उपलब्ध भी है? बिना आर्थिक आत्म निर्भरता के सवाल को उठाये मैत्रेयी पुष्पा स्त्री ‘मुक्ति’ का एक नया यूटोपिया गढ़ती हैं।

‘चाक’ की चेतनामय नायिका सारंग भी प्रधान पद का पर्चा भर्ती हैं जिसमे उसे किसी तरह का विरोध भी नहीं झेलना पड़ता। पति रंजित और ससुर का भी उसे इसमें सहयोग मिलता है। इसी तरह ‘अल्मा-कबूतरी’ में अल्मा कबूतरा जाति की वजह से कई लोगो द्वारा शोषित और उत्पीड़न किया जाता है अंत में वह मंत्री श्रीराम शास्त्री के यहाँ भेज दी जाती है जहाँ अल्मा शोषण से बचने के लिए नेता को मार डालना चाहती है लेकिन नेता की हत्या होने के बाद वह खुद को उसकी पत्नी की तरह पेश करती है और श्रीराम शास्त्री के निधन के कारण खाली हुई विधान सभा की सीट पर अल्मा मुख्य दावेदार के रूप में दिखाया गया। अल्मा और उसकी जेसी अन्य स्त्रियों की मुक्ति का एक दिशाहीन समाधान पेश कर उपन्यास खत्म हो होता है।

मैत्रेयी पुष्पा के लेखन की विशेषता हैं वह स्त्री शुचिता, देह स्वतन्त्रता, राजनेतिक दावेदारी जैसे मुद्दों को कहानियों का विमर्श के दायरे में लेकर आती हैं जो समाज में हमेशा वर्जित माने गये हैं। लेकिन इन के विरोधाभासो को नजरंदाज कर उनकी नायिकाए अपनी ‘मुक्ति’ के स्वांग रचती हैं। ध्यान देने की बात यह है की यह सभी स्त्रियाँ विवाह संस्था की नेतिकता से जुडी हैं लेकिन उस व्यवस्था में अपनी सुनिश्चित जगह बनाते हुए

ही वह उसे ध्वस्त करने की चाह भी रखती हैं। पितृसत्तात्मक समाज की महत्वपूर्ण सहयोगी विवाह संस्था के भीतर स्त्री के अधिकार और स्वतन्त्रता स्वत सीमित हो जाती हैं। लेकिन मैत्रेयी पुष्पा विवाह संस्था की खामियों पर कुछ नहीं कहती। बल्कि वह इस संस्था के भीतर होने वाली स्त्री की वैयक्तिक पीड़ा और असंतुष्टी को ही प्रमुखता देती है। जिसका कारण वह शोषित व्यवस्था को न मानकर पुरुष को ही इसका कर्ता मान लेने की प्रवर्ती हावी दिखाई देती हैं।

विवाह संस्था का विरोध किये बिना अपनी मुक्ति के लिए उठाये गये कदम स्त्रियों को उसी शोषित व्यवस्था का पुर्जा मात्र बनाते हैं। जब स्त्रियाँ स्वयं सामाजिक आर्थिक रूप से कमजोर हो तब मुक्ति के लिए किया गया संघर्ष भी बेमानी हो जाता है। मैत्रेयी पुष्पा की नायिकाए आमतौर पर ग्रामीण और परनिर्भर हैं। उनके आर्थिक आत्म निर्भरता पर कुछ नहीं कहती। बल्कि वह तो विवाह संस्था से मिलने वाली सहूलियत और लाभ को प्राप्त करना चाहती है। यह अधिकार भी उन्हें तभी प्राप्त हो सकते हैं जब वह किसी पुरुष की पत्नी हो। या तब जब वह उनके साथ देहिक सम्बंध बनाते हुए साथ रहे।

मैत्रेयी पुष्पा के ‘झुला नट’ उपन्यास की नायिका शीलो अपने साथ होने वाले उत्पीड़न का प्रतिशोध भी कुछ इस तरह से लेती हैं की वह पति से प्रतिशोध भी ले और पत्नी के मिलने वाले अधिकार से भी वंचित न रहे। पति का किसी अन्य से सम्बंध होने के कारण वह पति से तलाक भी नहीं लेती बल्कि वह अपने देवर बालकिशन के साथ देहिक सम्बंध बनाती हैं उसके साथ पत्नी भाव से रहने का उपक्रम भी करती हैं जिससे उसके पत्नी के सारे अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

इस पर रोहिणी अग्रवाल बिलकुल सही लिखती हैं कि

‘मुक्ति की लड़ाई पुरुष सा बन कर चित्त पट के खेल में रम जाने की शातिर बिसात नहीं हैं, गरिमा के साथ अपनी अस्मिता को पुन पाने की लगे हैं जिसका लक्ष्य हैं प्रमाणिकता के हृदय में स्त्री के प्रति सम्मान एवं संवेदना का प्रसार।⁵

बिना किसी सेधान्तिक आरोपण के ग्राम्य समाज का जो नारीवादी विमर्श मैत्रेयी पुष्पा अपनी कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत करती हैं। उसके अन्तर्विरोध और विरोधाभासों की तरफ नारीवादी आलोचना ने भी बहुत कम विचार किया है।

‘झुला नट’ की शीलो की प्रशंसा में रेखा कस्तवार लिखती हैं “देह परिवार और पूंजी पर संपूर्ण स्वामित्व और नियन्त्रण ताकतवर बनाता है। तुमने इन्ही क्षेत्रों को चुना, अपनी ताकत बटोरने खेती के नये नये गुर, पैदावार में बढ़ोती, बैंक में पैसा रखकर पैसे पर से सास के नियन्त्रण से मुक्ति, रहन सहन में बदलाव, बालकिशन के व्यक्तित्व विकास के तुम्हारे प्रयत्न...सेधान्तिक बहस से परे व्यवहारिक चेतन्यता तुम्हारा रास्ता बनती गई।⁶

हिंदी के नारीवादी आलोचना ने पत्नी के विवाहेतर सम्बंध को सही और पति के विवाहेतर सम्बंध को पत्नी के उत्पीड़न के रूप में देखा है। स्त्री पुरुष को देखने की यह एकांगी समझ मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में ज्यादा दिखाई देती है। नारीवादी लेखिकाएँ मानती हैं की स्त्री के लिए विवाह बंधनकारी है लेकिन वह इस संस्था का पूर्णतः विरोध भी नहीं करती। ताकि स्त्री एक तरफ पित्रसत्ता से मिलने वाले लाभों का भी उपभोग कर सके दूसरी तरफ वह अपने आप को विद्रोही भी दिखा सके।

इसके उलट नारीवादी लेखिकाओं ने विवाह संस्था के इतर प्रेम के क्षेत्र को एक बेहतर विकल्प के रूप में देखा जो स्त्री को ज्यादा स्वतंत्र और महत्वकांक्षी रूप में पेश

करता है। मैत्रेयी पुष्पा तो मानती हैं की स्त्री के लिए प्रेम करना नेसर्गिक प्रवर्ती में आता है। वह विवाह को बाहरी आवरण की तरह इस्तेमाल करते हुए विवाहेतर संबंध को जायज ठहराने की भी कोशिश करती हैं। यह प्रवर्ती कहानियों में भी बखूबी आता है। ‘गोमा हंसती हैं’ कहानी की नायिका गोमा अपने पति के रहते हुए भी बली सिंह से विवाहेतर सम्बंध रखती हैं। ऐसा नहीं है की उसका पति उससे बेवफाई करता है वह तो उससे अत्यधिक प्रेम करता है और उसके विवाहेतर संबंध की बात से वह खुद क्रूर और असहाय व्यक्ति बन जाने को विवश होता है लेकिन गोमा बलीसिंह से प्रेम भाव रखती हैं उस सम्बंध को सही ठहराती हैं।

विवाह की नेतिकता को भुला कर किसी अन्य से विवाहेतर सम्बंध बना लेना जब तब पति की तरफ से कोई समस्या ही न हो ऐसा कोई भी आचरण करना क्या नारीवादी द्रष्टिकोण से उचित है? मैत्रेयी पुष्पा के ‘चाक’ उपन्यास में सारंग अपने पति के साथ प्रेम भाव रहते हुए भी विवाहेतर सम्बंध को प्राथमिकता देती हैं। पति रंजित जो उसके साथ संपूर्ण भाव से रहता है लेकिन वह गाँव के मास्टर श्रीधर से प्रेम करती हैं उसके साथ विवाहेतर सम्बंध रखती हैं। यहा मैत्रेयी सारंग और श्रीधर के सम्बंध को सारंग की मुक्ति के रूप में देखती हैं।

हिंदी के नारीवादी लेखन की यह सीमा है की वह स्त्री के प्रेम प्रसंग को संघर्ष और विद्रोह के मूल्य के तोर पर देखती हैं लेकिन पुरुष के प्रेम सम्बंध को स्त्रीया पत्नी के उत्पीड़न और शोषण मानती हैं। स्त्री का प्रेम करना सही और पुरुष का प्रेम सम्बंध अनेतिक ठहराया दिया जाता है। ऐसा एकांगी और अंतर्विरोधी नजरिया अधिकांशतः नारीवादी लेखन में देखने को मिलेगा। चूँकि स्त्री का विद्रोह करना ही मात्र उस कर्ती और लेखक की सफलता का पैमाना है। इसलिए ऐसा बहुत कम ही रचनाओं में होता है जो इस पित्रसत्तात्मक समाज की

जटिलताओं को गंभीरता से दिखाते हैं या उस शोषित व्यवस्था से लड़ते हुए आजीवन उसी स्थिति में जीने को विवश होती है। जो अधिकांशतः स्त्रियों की नियति है। चाहे वह आत्मनिर्भर हो या एक आम घरेलू स्त्री। मैत्रेयी पुष्पा इसे अपने उपन्यास 'बेतवा बहती रही', 'इदन्नम्म' उपन्यास में बहुत मार्मिक और प्रभावशाली तरीके से बताती हैं। 'विजन' उपन्यास उनके अन्य उपन्यासों से भिन्न एक आत्मनिर्भर स्त्री की विडंबनाओं और पराधीनता के सूक्ष्मता से पकड़ती है। डॉ. नेहा एक आत्मनिर्भर स्त्री पढ़ी लिखी होकर भी पित्रसत्तात्मक बन्धनों से जकड़ी हुई हैं। एक 'करियर वुमन' के रूप में अपनी पहचान के लिए संघर्ष करने को विवश हैं। पुरुष के समक्ष वह केवल शो पिस हैं, 'शी इज मेडल'।⁷

आलोचक वीरेंद्र यादव का कहना है कि उनकी कहानियाँ भारत की ग्रामीण नारी का मेगनाकार्टा [अधिकार पत्र] मानते हैं। उन्होंने मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों पर बिलकुल सही लिखा है कि 'मैत्रेयी पुष्पा अपनी कहानियों में प्रेम-संबंधों को नारी व्यक्तित्वांतरण के सकारात्मक मूल्य के रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'राय प्रवीण' 'गोमा हंसती हैं' कहानी हैं। लेकिन इस अंतर के साथ ही जहाँ 'राय प्रवीण' की सावित्री और गोमा की गोमा प्रेम संबंधों के माध्यम से विवाह संस्था की नारी-विरोधी परिणितियों को रेखांकित करती हैं'।⁸

प्रेम के उद्घात भाव को जी लेने उसमें अपनी मुक्ति देखना स्त्री मुक्ति के सेधान्तिक प्रश्न को और भी ज्यादा सरलीकर्त और भ्रमित करता है। प्रायः देह मुक्ति को स्त्री मुक्ति का पर्याय मान लिया जाता है। 'प्रेम का दूसरा नाम सेक्स है', तथा 'एक और स्त्री विमर्श' जैसे अपने लेख में 'मुक्ति' की इस एकांगी समझ के चलते ही वह कहती हैं "जब सारी बंदिशें हमारे शरीर पर ही लगाई गई हैं तो हम आजादी किस चीज की मांगेंगे। जो चीज बंधक हैं वही तो छुड़ाई जाएगी।"⁹

देहिक स्वतन्त्रता जरूरी है वह स्त्री हो या पुरुष लेकिन उसे कैसे प्राप्त किया जाता है यह भी समझना जरूरी है। मैत्रेयी पुष्पा के नारीवादी लेखन में देह स्वतन्त्रता प्रेम के स्वरूप को जीने और विवाहेतर सम्बंध एक साथ इतने गुथे आते हैं कि यह मात्र जुगुप्सा पैदा करने और प्रतिशोध लेने के क्रम में होता है। 'झुला नट' में शीलो का बालकिशन के साथ देहिक सम्बंध, 'चाक' में सारंग का श्रीधर सम्बंध हो, कलावती चाची का पहलवान के साथ सम्बंध बनाना या 'अल्मा-कबूतरी' में अल्मा का मंसाराम को देहिक सम्बंध बनाने देने की स्वीकृति देना हो।

मैत्रेयी पुष्पा का तर्क कि "हमारा मन जो कहता है, पाँव जहाँ ले चलते हैं इन्द्रियाँ जिस सुख की आकांक्षा करती हैं मनुष्य होने के नाते वे हमारे कुविचार-कुचेष्टाएँ नहीं जन्मसिद्ध अधिकार हैं।"¹⁰

देहिक सम्बंध और विवाहेतर संबंध आमतौर पर विवाह संस्था से उत्पन्न हुई असंतुष्टि और उत्पीड़न के फलस्वरूप उभरते हैं। विवाह संस्था का विरोध किये बिना नायिका को विद्रोही कैसे दिखाया जाये इसके जरूरी है वह विवाह की नेतिकाओं को भुला कर केवल अपनी अनुभूतियों को प्राथमिकता देना जरूरी समझने लगती हैं।

उत्पीड़न हो या सहमती से बनाये गये देहिक सम्बंध दोनों ही जगह स्त्री 'मुक्ति' के प्रसंग से जोड़ कर देखे जाने का आग्रह होता है। कई बार मैत्रेयी पुष्पा यह भी भूल जाती हैं कि सहमती से और असहमति से बनाये गये सम्बंध का योन चित्रण उतना ही मांसल और योनिक होता है कि शोषण और प्रेम का अंतर ही खत्म हो जाता है। वह केवल जुगुप्सा पैदा करता है। जैसे 'अल्मा-कबूतरी' में कदम कज्जा जाति के मंसाराम के साथ देहिक सम्बंध बनाने की चाह रखती हैं लेकिन

मंसाराम धोखे से उसके साथ बलात्कार करता हैं जिसे कदम स्वीकार कर लेती हैं और उसे सम्बंध बनाने देती हैं। मैत्रेयी पुष्पा की कथा-नारियाँ अपनी इस उद्देश्य के विरुद्ध मुखर ही नहीं होती, बल्कि वे पुरुष-सत्ता को चुनोती देते हुए इससे मुक्ति की नई युक्तियाँ भी तलाशती हैं। कभी इसकी अभियक्ति विवाहेतर संबंधो [गोमा] में होती हैं, तो कभी स्वतंत्र आर्थिक सामाजिक भूमिका में [रास], कभी प्रेमी के साथ पलायन करते [राय प्रवीण] तो कभी सीधे सीधे विद्रोही मुद्रा अपनाकर [बारहवीं रात] पुरुष सत्ता को चुनोती देने के उपक्रम में नारी की देहिक पवित्रता के ‘मूल्य’ को महत्वहीन मानते हुए अक्सर वे देह को भी अपनी मुक्ति का एक साधन मानती हैं।¹¹

एक अन्य मुद्दा मात्रत्व का इस प्रश्न पर नारीवादी लेखिकाओ ने बहुत कम लिखा हैं एक और जहाँ मैत्रेयी पुष्पा के यहाँ यह मुद्दा आया तो हैं लेकिन उसका कोई ठोस हल वह नहीं बताती उल्टे उसे प्रतिशोध की तरह इस्तेमाल जरूर करती हैं। मैत्रेयी पुष्पा प्रेम और विवाहेतर सम्बंध पर इतना बड़ा विमर्श खड़ा करती हैं लेकिन मात्रत्व के सवाल को वह छूती भी नहीं।

विवाहेतर सम्बंध से पैदा होने वाले बच्चो की परवरिश और देखभाल के लिए वह पुरुष से हिस्सेदारी मांग करती हैं ‘इदन्नम्म’ की कुसुमा पति यशपाल से अपने विवाहेतर सम्बंध से जन्मे बच्चे को जन्म देने का स्वाभिमान रखती हैं लेकिन उसके पालन पोषण के लिए पति की जायदाद से हिस्सेदारी की मांग करती हैं। ‘अल्मा-कबूतरी’ में कदम बच्चे को जन्म देती हैं और मंसाराम उसक पढाई लिखाई का सारा खर्चे की जिम्मेदारी लेता हैं।

निष्कर्ष हिंदी के नारीवादी लेखन में मैत्रेयी पुष्पा का कथा साहित्य इस बात में अलग हैं की स्त्री-मुक्ति के प्रश्न से जुड़े सभी पहलुओ को वह कथा के दायरे में लेकर आती हैं। वह सर्जनात्मक साहित्य ही नहीं बल्कि नारीवादी आलोचना में भी स्त्री मुक्ति के प्रश्न को समझने और नई बहसों को जन्म भी दिया। हिंदी के नारीवादी आलोचना की एकांगी समझ और अंतरविरोधो, पूर्वाग्रहों की सीमओं के बावजूद उनका संपूर्ण लेखन स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को समझने और हल तलाशने का प्रयास हैं।

सन्दर्भ

- 1 मैत्रेयी पुष्पा, 2004, ‘चिन्हार’, आर्य प्रकाशन मंडल, नई दिल्ली, पेज 10
- 2 वही, पेज 10
- 3 विजय बहादुर सिंह संपा, 1995, ‘मैत्रेयी पुष्पा: स्त्री होने की कथा’, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 290
- 4 सुशील सिद्धार्थ संपा, 2016, ‘मैत्रेयी रचना संचयन’, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 294
- 5 विनोद तिवारी और अजय आनन्द संपा, 2016, ‘उपन्यास कला और सिधांत’ भाग-2, हिंदी बुक सेंटर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 232
- 6 रेखा कस्तवार, 2010 ‘किरदार जिन्दा हैं’, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 34
- 7 मैत्रेयी पुष्पा, 2002, ‘विजन’, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 48
- 8 विजय बहादुर सिंह संपा, 1995, ‘मैत्रेयी पुष्पा: स्त्री होने की कथा’, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 291
- 9 मैत्रेयी पुष्पा, 2008, ‘खुली खिड़कियाँ’, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 182
- 10 विजय बहादुर सिंह संपा, 1995, ‘मैत्रेयी पुष्पा: स्त्री होने की कथा’, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज 291
- 11 वही पेज 291

“अनामिका की कविताओं में अभिव्यक्त पीड़ा एवम मुक्ति का स्वर” (टोकरी में दिगंत: थेरी गाथा के विशेष सन्दर्भ में)

राहुल कुमार

पीएच.डी. शोधार्थी

हिन्दी विभाग, झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय, रांची

प्रसिद्ध कवियित्री अनामिका की रचना टोकरी में दिगंत:थेरी गाथा हिन्दी कविता की नई रचना शैली की कृति है। इस कविता संग्रह में अनामिकने बौद्ध काल की स्त्रियों की पीड़ा से लेकर आजतक की पीड़ा को व्यक्त करने के साथ उसके उपाय को खोजने का प्रयास किया है अनामिक की क्विटोको समकालीनता के आर पार थोड़ा पीछे थोड़ा आगे के संदर्भ में स्वप्न और यथार्थ की जुगल बंदी कहा जा सकता है। इसकी कविताओ में निहित स्त्री आन्दोलन प्रतिशोध पीड़ित नहीं है स्त्री आंदोलन की समर्थक मानविया है, यंहा स्त्रियां मादा ड्रैकुलाये नहीं है। इनके विमर्श मे लोक ,परिवार तथा सार्वभौमिक भगनी वाद है ये समाज के दो पहिये स्त्री और पुरुष के मध्य समानता चाहती है। “बराबरी का यह साथ तभी हो सकेगा जब पुरुष अति पुरुष न रहबर स्त्रियां अति स्त्री। एक धुर्वीय विश्व न माइक्रो स्तर पर अच्छा है ना मैक्रो स्तर पर। संतुलन ही सुख का मूल मंत्र है सरप्लस न क्रोध का चाहिए न कामना का”¹

अनामिका की रचना टोकरी में दिगंत :थेरी गाथा वास्तव में नई सदी का महाकाव्य है, जंहा एक ओर बुद्ध कालीन कथाये है तो दूसरी ओर वेदना से भरा आज का स्त्री जीवना। इसका प्रमाण संग्रह का चार भागों में बंटना। जंहा प्रारम्भ पुरोवाक के साथ एवम थेरियों की बस्ती में बौद्ध कालीन स्त्री वेदना, फिर ये मुजप्फरपुर नगरी है सखियां और आखिरी खण्ड चलो दिल्ली चलो दिल्ली वैशाली एक्सप्रेस की कविताओ में वर्तमान की स्त्री वेदना को दर्शाया गया है बुद्ध कालीन समय मे बुद्ध द्वारा निर्मित संघ में जो स्त्री प्रवज्जा प्राप्त कर लेती थी वह थेरी

कहलती है। संघ की तिहत्तर थेरियों की लगभग 500 गाथाओं को ही थेरिया कहा जाता है।² इन थेरियों में चिंदियां थेरी, वितृष्णा थेरी, शांता, मुक्ता, उत्पल, अभिरूपा जैसी अनेक थेरिया के माध्यम से उस समय की स्त्री जीवन की वेदना को वर्तमान से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस काव्य संग्रह की कविताओ की दुर्लभ मार्मिकता उसे सहज ही समकालीन स्त्रीओ के दुखको थेरियों, यानि बुद्ध क्लींस्त्रियो के दुख से जोड़ देती है।

अनामिका की रचना टोकरी में दिगंत :थेरी गाथा वास्तव में नई सदी का महाकाव्य है, जंहा एक ओर बुद्ध कालीन कथाये है तो दूसरी ओर वेदना से भरा आज का स्त्री जीवन।

टोकरी में दिगंत:थेरी गाथा में अभिव्यक्त स्त्रियों की पीड़ा को सगजता के साथ रखा है। बौद्ध भिक्षुणी आम्रपाली के साथ पीड़ा के इतिहास का नया पन्ना खुलता है। उसके अंतस में चलने वाली खदर बदर हर औरत की जिंदगी का शाश्वत सत्य है। ढाई हजार साल पहले की थेरिय हो या भक्ति काल की ललदेह रत्नावली हो आधुनिक युग की अन्ना कॅरिनिना अनामिका ने सबको अपनी कविताओ में पुनर्जीवित किया है।-

अगल बगल नहीं देखती
चलती है सीधी मानो खुद से बाते करती
शरद काल मे जैसे पकने को छोड़ दी-
जाती है, लतर में लौकी
पाक रही है मेरी मांसपेशियों
खदर बदर है मेरे भीतर का
हहाता हुआ सता।³

अनामिका के इन काव्यानुभवो पर प्रियदर्शन ने ठीक ही कहा है कि “कहने की जरूरत नहीं है कि स्त्रित्व सहज

ढंग से इस परम्परा की पुनर्व्याख्या और पुनर्रचना भी करता है”।¹⁴ अनामिका के यंहा दुख और स्त्री जीवन समानार्थी से लगता है, अनामिका इसे स्त्री पीड़ा का तत्व मानती है। इतिहास से वर्तमान तक ये दोनों साथ ही चलता है-

बूढी पटरानी की तरह
एक दुख बैठा है मुझमे!
वह अपने दरवाजे नहीं खोलता
गम शूम ही सुन्न महल में बैठा रहता है।¹⁵
और अधिक विस्तृत रूप में सुंदर बिम्बो में कहती है –
एक था राजा, एक थी रानी
दोनो मार गए खत्म कहानी
अरे! कहानी यंही से शुरू होती है
अपने इस लोकतंत्र की
कि गई हुई चीजें कभी नहीं जाती
ओझल हो जाती है
गिरती दीवारों के पार कंही।⁵

पुरुष वाड़ी सोच स्त्री मैन की पीड़ा का प्रमुख कारण है पुरुषो द्वारा बनाये गए नियम परम्परा से स्त्री मन पीड़ा, कुंठा जैसे भाव से पीड़ित रहता है। थेरियों के माध्यम से इसी सोच को अनामिका अपनी कविताओं में कहती है। जंहा पुरुष के नाम उसके अस्तित्व से स्त्री की पहचान हो, स्वतंत्र पहचान की पीड़ाको अनामिका थेरियों के माध्यम से कहती है
किसकी नूरजहां हूँ मैं अंधियारे कमरे में यो
टीन खुरचती आटे की?
सोच ही रही थी
कि दूर कंही से आते
बुद्ध दिखाई पड़े
कंधे पर अपने उठाये हुए गठरी
पड़ी हुई थी उनके कंधों पर
पृथ्वी खुद भी एक गठरी सी।¹⁶

अनामिका की कविताओं की वास्तविक पीड़ा जेंडर स्टिरियोटाइप को लेकर है, जो लज्जा, प्रेम, सहिष्णुता,

धैर्य, सहकारिता जैसे गुणो को सिर्फ स्त्रियों के खाते में डालकर पुरुष को रोबीला, बलवान और आक्रमक बनने पर मजबूर कर देती है। इसका एक कारण यह भी होता है कि इससे स्त्रियों की एक अलग पहचान के रूप में रूढ़ हो जाती है।

आज मैं इतिहास से टकरा गई
लेकिन वह मुझको पहचान ही नहीं पाया।¹⁷

कविता तिलोत्तमा थेरी के माध्यम से अनामिका यह संकेत करती है कि स्त्रियों की निवेदित सुधार आंदोलन इसलिए कुछ विशेष नहीं हासिल करवा पाया, क्योंकि सुधार तो पितृसत्तात्मक सोच में आपेक्षित है—

इतिहास के सुधार आंदोलन
स्त्री की दशा को निवेदित थे
और सुधारना किसे था?
यह कौन कहे?।¹⁸

दुख स्त्री की स्थाई भाव हो गया हो। किन्तु पितृसत्तात्मक समाज में उसे ही अपना मुश्किल हो गया है, चम्पा थेरी कविता में इसका मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है -

टेसुए बहा देती हो फट से
धारकता ही पात्रता है
असल दुःख का स्वाद तुमने नहीं चखा
उसने कहा और चला गया।¹⁹

अनामिका की कविताएं सामाजिक अंतर्विरोध काँजगिर करती है जो आघातों से छलनी होते मनुष्य को सहानुभूति के लिए पढ़ा जा चाहिए, जो विमर्श और विचार धारा में कैद नहीं है। अनामिका की दृष्टि मूलतः उन विसंगतियों एवं विडंबनाओं पर केंद्रित है जो मानविया गरिमा को चोट पहुंचती है। यह पीड़ा अनामिका की अनेक कविताओं में निहित है-

“यही एक काम किया मैंने,

हर तरह के दर्द की दहमग
स्वर लिपियां सीखी।10

अनामिका की पीड़ा हाशिए पर धकेल दी गई स्त्रियां हैं। “वास्तविक जीवन जगतबके चरित्र हो या क्लासिको के चरित्र हो मेरी कल्पना के स्थायी नागरिग वही बनते हैं, जिन्हें कभी न्याय नहीं मिला हो जो हमेशा लोगों की गलतफहमी का शिकार हुए दुनिया ने जिन्हें प्यार नहीं दिया न मान, भीतर से वे जितने अगाध होते हैं, उतने ही अकेले।।11 इसी पीड़ा को घसियारिन थेरी के माध्यम से समाज से प्रश्न करती हुई लिखती है-

“यह नकेल कब छूटेगी
मेरी प्यारी सखी?
घसियारिन थेरी से बोली
वह बूढ़ी घोड़ी!”11

अनामिका की अनेक कविताओं में मानविया करुणा और स्त्री स्वर एक हो जाते हैं। पीड़क स्वर अनेक कथाओं, किदवन्ती और इतिहास के माध्यम से रखती है, “दुख भी खुशी ही है भंते” जैसी कविताओं में है

घर का न घाट का
जो दोनों खूंटो से
छूट गया, बढ़ जाता है उसके जीवन का दायरा
फूटेगा मटका, तब ही तो वो सागर होगा।12

मुक्ति का जो भाव इस कविता में कवियित्री ने लिया वह दोनों घाट, परम्परा और पुरुषवादी सोचदोनों से छूटने से है। दुख की प्रजातियां, नसीहत, सुपकरी, नमक, खिचड़ी, टूटी हुई छतरी जैसी कविताओं में पीड़ा के स्वर निहित हैं। स्त्री जीवन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि पुरुष उसकी भावना पढ़ने में असफल रहा है या पीड़ा समस्त स्त्रियों की पीड़ा है देह इसका प्रमुख कारण हो सकता है स्त्री खुली किताब की तरह होती है, उसे समझने उससे प्रेम भावना की आकांक्षा रहती है। इस भावना को इतिहास के साथ संबंध स्थापित करते हुए कहती है-

एक अधूरी चिट्ठी जो वे डिकोड नहीं कर सके,
क्योंकि वह सिंधु घाटी की सभ्यता के समय
मैंने लिखी थी।13

यहां दोनों शब्द अधूरी एवं सिंधु घाटी सभ्यता महत्वपूर्ण हैं। जहां एक ओर यह आम धारणा है कि सिंधु घाटी सभ्यता स्त्री प्रधान सभ्यता है, इसलिए वह लिपि जो स्त्री भावना है, उसे समझने के लिए स्त्री भाषा को समझना आवश्यक है। एवं अधूरा का तात्पर्य है कि अभी उनके लिए कर्म करना जरूरी है। जब तक पूर्णता को प्राप्त न हो जाये।

जैसे कि पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि अनामिका की कविताओं में प्रतिशोध नहीं है, अनामिका की पीड़ा यह नहीं है कि स्त्रियां पुरुषों की तरह क्यों नहीं हैं, जो प्राकृतिक विशिष्टता है वे शर्मनाक नहीं हैं। आरोपित मानदंड दोहरे हैं यह अनामिका की प्रमुख पीड़ा है। अनामिका की वे स्त्रियां प्रमुख पात्र हैं जिनके दुख दर्द को बहुत कम साझा किया गया, जिन्हें अनामिका पूरी जीवन्तता के साथ अभिव्यक्त करती है, इसकी कविताओं में स्त्री-पुरुष को समानता के स्तर पर रखना चाहती है। सच्चे अर्थों में स्त्री को मनुष्य की तरह देखना चाहती है। चुड़ैल-गली कविता में स्त्री को चुड़ैल बोल कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार करना भी पुरुषवादी सोच का कारण है-

क्योंकर हुआ करते हैं उल्टे पाव चुड़ैलों के,
क्योंकर चुड़ैल बन जाती है.....
पर दुनिया में मुझको कोई भी औरत दिख दो
जो उल्टे पाव नहीं चलती
व्यतीत में जिनके
गड़ा नहीं है कोई खूंट,
भागती नहीं औरते
लौट आती है, उल्टे पाव।14

अनामिका की कविताओं में पीड़ा ही नहीं मुक्ति का स्वर भी है थेरी गाथा इतिहास बोध में स्त्री मुक्ति का प्रथम प्रयास मिलता है। जहां उस समय की अनेक स्त्रियों ने

चाहे वो किसी श्रेणी की हो, धनवान अथवा गरीब, सभी ने मुक्ति का आंदोलन कर प्रवज्जा होकर बौद्ध भिक्षुणी हो गयी। इसी इतिहास बोध को अनामिका अपनी कविताओं में स्त्री मुक्ति का स्वर बनाती है करुणा और मैत्री भाव समूचे विश्व के लिए ही मुक्ति का आधार है। अनामिका की मुक्ति की कामना इस बॉक्स स्पष्ट है किस कविता संग्रह में जो स्त्री पात्र है, वे सभी बौद्धिक वर्ग की स्त्रियां हैं, जिन्हें वे कविता के केंद्र में रखती हैं, जो स्त्री विमर्श को एक नई दिशा देती हैं। साहसी स्त्रियां, हुंकार भर्ती, आंदोलन करती, पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ललकारती स्त्रियां मिलेगी किन्तु वे कोई व्यापक समाधान नहीं निकालती हैं। जबकि इस कविता संग्रह में तृष्णा, भाखा, चिंदियां, वितृष्णा, शांत, सरल जैसी विदुषी स्त्रियों को कविता का पात्र बनाती हैं।

बौद्धिकता के साथ साथ न्याय और प्रेम के द्वारा स्त्रियों की मुक्ति अनामिका चाहती है। यही कारण है कि थेरियों के माध्यम से स्त्री वेदना और स्थिति का अंकन करती हैं, सांस्कृतिक मुक्ति तथा पुरुष वर्चस्ववाद को भी कटघरे में खड़ा करती हैं। इससे बड़ा सांस्कृतिक षटयन्त्र कोई हो सकता कि सीता सावित्री जैसी वागी स्त्रियां को मूक आज्ञाकारिता से एकाकार करके देख जाए, न सीता कठपुतली थी न सावित्री- दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व थे।¹⁵ आरतीय इतिहास में सीता सावित्री जैसी पात्र अन्यायी असंस्कृत और भष्ट पति भी मूक प्रतिछाया बनकर रहने वाली दीन हीन स्त्रियों को सीता सावित्री कहा जाता है। जबकि बौद्ध संघ की स्त्रियां जो प्रवज्जा प्राप्त हैं। वे इन पितृसत्तात्मक सोच से अलग हैं, उन्होंने उस समाज की पुरुष प्रधानता की वेदियों से खुद को अलग कर स्वतंत्र स्त्री आंदोलन की नींव रखी। टोकरी में दिगंत काव्य संग्रह में यही मुक्ति की आकांक्षा है।

मैं तो केवल इतना कह पाई
तुम अपने कर्मों के चरवाहे लो
आज से मैंने तुमको,
अपने सब कर्मों के साथ
अकेला छोड़ा।¹⁶

पुरुष वादी सोच से मुक्ति का एक और उदाहरण है-

मेरे वाले ने कहा,
“रहना है नतमस्तक, साथ चलो,
और करने है कुतर्क जो इसी तरह
तो भाड़ में जाओ.....
उसने सुना और फोड़ दिया मेरा माथा
कि सत्य सुनने की उसमें ताकत नहीं थी”¹⁷

अनामिका मुक्ति के लिये संवाद को जरूरी मानती है वे समय के गतिशील यथार्थ से न केवल संवाद करती हैं बल्कि अपनी प्रयुक्तियों से निज से बातचीत की शक्ति अख्तियार कर लेती हैं। इसमें अनामिका व्यवस्था के संकीर्ण और अमानुषिक स्वरूप का ही प्रत्याख्यान करती हैं, वह थेरियों को न केवल बोलने का मौका देती हैं बल्कि उन्हें नाम रोऊ भी देती हैं।

जीवन मेरा बदल, बुद्ध मील,
बुद्ध को घर न्योतकर
अपने रथ से जब घर लौट रही थी,
कुछ तरुण लिच्छवी कुमारों के रथ से
टकरा गया मेरे रथ का,
धुर से धुर छक्कों से चक्का जुएं से जुआ।¹⁸

यंहा टकराना शब्द प्रमुख है, मुक्ति के साथ परम्परा का टकराव, मानसिकता का टकराव, दकियानूसी विचारों से टकराव से हिबस्त्री मुक्ति का द्वार खुलता है। “सारे मुक्ति संघर्षों के सूत्र अनामिका इसी टकराव में देखती हैं, यंहा मुक्ति का आधार व्यापक हो जाता है, यंहा मुक्ति प्रतिरोध या बदले की भावना से नहीं है, बल्कि हरियाली का बीज है, जिसकी छाया में स्त्री पुरुष परस्पर मैत्री भाव से बैठ सके। तभी तो अनामिका कहती है – दुनिया का सबसे मजबूत और नाजुक पल होते हैं दो लोगों के बढ़कर मिले हुए हाथ।¹⁹ मुक्ति के कथ्य को अपनी कविताओं में इस भाषिक संरचना के साथ लाती हैं, जिसका असर हृदय पर तीक्ष्ण होता है। यंहा स्त्री मुक्ति सिर्फ स्त्री जाति से नहीं है बल्कि पूरी मानवता से है, स्त्री तो सिर्फ सामान्य

पात्र के रूप में कविता में उतरती है। स्त्री का तात्पर्य उस मानव से है जिसे अधिकार नहीं मिला, परम्परा धर्म, रिवाज के नाम पर उसे बाहर निकल कर समानता की चटाई पर बिठा कर बातचीत करना चाहती है, संवाद स्थापित करना चाहती है-

आखिर तो “मुक्ति” स्त्री ही है,
तब ही तो हँसती बतियाती
सदा झुंड में चलती है
किसी को कभी भी अकेली नहीं मिलती। 20

संवाद हेतु अनामिका का आग्रह महाभिषभ कविता में और बिबो और प्रतीकों के माध्यम से औषधि को मुक्ति के बिम्ब के साथ भाषिक कुशलता के साथ व्यक्त किया है। यहाँ मुक्ति को सम्हालने तथा उसे दीर्घकाल तक रहने के लिए संवाद शैली देखिये-

तुम सब जो हो आस पास अभी
और तुम जो यात्रा पर गयी हो
आपस में बातचीत कर लो
एकमत होकर दो आशीष इस औषधियों को
जो हम लाई है
विनयपूर्वक खोदकर
धरती की गम चोट की खातिर। 2

नायिकाभेद नवेलिक थेरी बोली लागत सिंह कॉलेज के आचार्य से कविता में अनामिका स्त्री को भोग की वस्तु हेतु जो नायिका की पदवी देती है, उसे नकारते हुए जीवन के विभिन्न दशाओं के माध्यम से उनका विरोध करती है। यहाँ देह को भोग की वस्तु समझने का जो खेल है उससे मुक्ति का द्वार खोलती है जीवन के प्रत्येक दशा में अपने जीवन में भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के माध्यम से संवाद करती है।

आचार्य हम इनमें कोई नहीं कोई नहीं
कोई नहीं कोई नहीं
मुग्धा, प्रगल्भा, विदग्धा, या सुतीर्णरविता

प्रकिया भी नहीं न स्वकीया ही.....
प्रारब्धयोवन हुई जब हम
नौकरी के सौ झमेले थे सर पर..22

मंडी की आचार संहिता में अनामिका यह चेतावनी भी देती है कि सिर्फ बातों पर विश्वास नहीं करना है, बल्कि व्यक्तित्व और आचरण भी महत्वपूर्ण है कभी कभी हम जानते हुए भी गलती कर देते हैं यह मुक्ति का मार्ग नहीं हो सकता है-

जैसे कि सिगरेट का डिब्बा
नन्हे नाहे अक्षरों में समझता है
सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं
अहिंसा परमो धर्म गाती है बिल्ली
अस्सी चूहे खाकर
हज को चली। 23
लेखनी को मुक्ति का प्रमुख हथियार माना है
अपनी कलम से लगातार
खोद रही हूँ तब से
काल कोठरी में सुरंग

यहाँ कालकोठरी उस व्यवस्था का प्रतीक है जिसमें आधी आबादी अंधकार में रहने को मजबूर है। यहाँ कलम से लगातार शब्द महत्वपूर्ण है उसका भाव बोध बहुत गहरा है। मुक्ति का स्वर पुरुष को अति पुरुष न होने पर संभव हो सकता है जिसे अनामिका अपनी कविता में रखती है समय का बदलाव और स्त्री मन की स्वाधीनता के कारण ही सोच में अब परिवर्तन दिखता है कवियित्री यह जानती है कि एक स्त्री का शत्रु स्त्री रूप में उसके साथ ही रहता है। किंतु संवाद और व्यवहार परिवर्तन के कारण अब सोच में परिवर्तन सकारात्मक है कहती है आकाश में जगता सूर्य देखकर

बेटी हो तो चिंता ही नहीं,
बेटा अगर हो तो सुबह का सूरज
जिसमें प्रचंडता नहीं हो। 24

अनामिका की कविता संग्रह टोकरी में दिगंत में अभिव्यक्त स्त्री की पीड़ा एवम मुक्ति का स्वर कई अर्थों में विशिष्ट है। बौद्ध कालीन कथ का एक अर्थ यह भी है कि बौद्ध धर्म अहिंसा पर आधारित है तो थेरियों के माध्यम से अनामिका समजबमे अहिंसा शान्ति और प्रेम की कथा को प्रोत्साहित करने का सफल प्रयास किया है। स्त्री वादी समीक्षा का एक बड़ा अवदान यह है कि वैयक्तिक अनुभूतियों का सामाजिक संदर्भ इसने बनाया, और बताया कि जैसे स्त्रियां वैयक्तिक विफलता मानकर घुटती हैं” उस असामंजस्य और समन्जन्य का मूल उस पूर्व ग्रस्त पितृसत्तात्मक समाज में है। जिसके शिकार पुरुष भी हैं। एक को भेद और दूसरे को भेड़िया बना डालता है जो दोनों ही मानविया गरिमा के नीचे गिरते हैं”²⁵

निःसंदेह यह काव्य संग्रह स्त्री मुक्ति एवम उसकी पीड़ा का महाकाव्य है। समाज के प्रत्येक वर्ग की महिलाओं का प्रतिनिधित्व थेरियों में है, राजकुमारी श्रेणी की थेरिया, श्रेष्ठ कन्याओं की थेरिया, एवम दलित थेरिया भी मौजूद है अनामिका एक ऐसा आख्यान परस्तुत करती है जिनमें सभी श्रेणी की स्त्रीओं की समस्याओं को देख जा सके, सबकी समस्या एक सी है।

लोभ, क्रोध और कामनाओं के अतिरेक से पीड़ित ओजोन छिद्र भेदता

अतिशय पुरुष

नाइ धरती के किस काम का?

खुद अपना पुरुष गड़ेंगी नई धरती अब

स्वस्थ होंगी धमनिया उसकी और दृष्टि सम्यक॥26

संदर्भ सूची-

- 1-अनामिका, त्रियाचरित्र उत्तर कांड, पृष्ठ 3
- 2-अनामिका, मन मांझने की जरूरत पृष्ठ 44
- 3- अनामिका, टोकरी में दिगंत थेरी गाथा। पृष्ठ,15
- 4- प्रियदर्शन, पुस्तक वार्ता 20 मई 2015
- 5- अनामिका, टोकरी में दिगंत थेरी गाथा। पृष्ठ, 25
- 6- अनामिका, टोकरी में दिगंत। पृष्ठ, 26
- 7- वही। पृष्ठ127
- 8- वही। पृष्ठ 60
- 9- वही। पृष्ठ 61
- 10- वही पृष्ठ
- 11-वही पृष्ठ 47
- 12- वही पृष्ठ 50
- 13- वही 45
- 14- वही 86
- 15- अनामिका, मन मांझने की जरूरत 13
- 16- अनामिका, टोकरी में दिगंत, पृष्ठ 61
- 17 वही पृष्ठ 66
- 18- वही पृष्ठ 16
- 19- राजीव रंजन गिरि समालोचना
- 20- अनामिका, टोकरी में दिगंत पृष्ठ 179
- 21- वही पृष्ठ 179

- 22- वही पृष्ठ 176
 23- वही पृष्ठ 84
 24 - वही पृष्ठ 93
 25- अनामिका , कहती है औरते। पृष्ठ 11
 26 – अनामिका , टोकरी में दिगंत पृष्ठ 123

संदर्भ ग्रंथ

आधार ग्रंथ- अनामिका, टोकरी में दिगंत थेरी गाथा , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली दूसरा संस्करण 2021

सहायक ग्रंथ-

- 1 -स्त्री पक्ष और परिप्रेक्ष्य, रेखा सेठी
- 2- मैन मांझने की जरूरत, अनामिका
- 3- कहती है औरते स. अनामिका
- 4- स्त्री मुक्ति साझा चूल्हा अनामिका
- 5- त्रिया चरित्रम ऊतर कांड, अनामिका
- 6 – स्त्रित्व का मानचित्र, अनामिका

पत्र पत्रिकाएं

- 1- आजकल मासिक पत्रिका
- 2- जन संदेश टाइम दैनिक
- 3- हँस मासिक पत्रिका

वेबसाइट

- 1- समालोचना
- 2- कविता कोश



शीला भाटिया

विष्णु कुमार

शोधार्थी एम.फिल.

प्रदर्शनकारी कला विभाग (फिल्म एवं थिएटर)

म.गा.अं.हि.वि.वि. वर्धा

Vishnu.kumar1696@gmail.com

भारतीय रंगमंच का वह सितारा जिसने संगीत प्रधान रंगमंच को एक मुकाम दिया, जिसके रंगमंच को ऑपेरा थिएटर की संज्ञा मिली। जिसने आज़ादी के विध्वंस को अपनी आँखों से देखकर उसे मंच पर उतारा। जिनके द्वारा लिखे गये गीतों को लोगों ने इतना पसंद किया कि उन गीतों को लोक गीतों के बराबर महत्वता मिली। जिसने आज़ादी से पहले सियालकोट(पाकिस्तान) से रंगमंच में चलना सिखा, जिसने आज़ादी के बाद भारत में रंगमंच के विकास में अपना योगदान देते हुए उसको एक दिशा दी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (NSD) की स्थापना के बाद अभिनय प्रशिक्षण के पहली अध्यापिका बनी और लगातार १६ वर्षों तक अभिनय के गुण सिखाती रहीं और पांच दशकों तक निरंतर रंगमंच में नितनये प्रयोग करते हुए दिल्ली में अंतिम सांस ली। भारतीय रंगमंच में म्यूजिकल प्ले या ओपेरा थिएटर का जब भी जिक्र होगा तो दिल्ली आर्ट थिएटर या शीला भाटिया को नजरंदाज नहीं किया जा सकेगा। शीला भाटिया ने भारतीय उपमहाद्वीप में लोक नाट्य एवं लोकगायन के क्षेत्र में जो प्रयोग किये हैं और उन्होंने जो विस्तार दिया है, उसकी मिसाल कहीं और मिलना संभव नहीं है।

आज़ादी से पहले के भारत में जन्मी शीला भाटिया का जन्म सियालकोट (पाकिस्तान) में हुआ था। उनका बचपन वहीं गुजरा और बचपन की पढ़ाई – लिखाई वहीं हुई। अपनी स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए वह लाहौर चली गई। कला



की तरफ झुकाव उनका बचपन से ही रहा। स्कूल की पढ़ाई के दौरान ही जब वहाँ मलेरिया की बीमारी फैलने लगी तो उसकी जागरूकता तथा बचाव उपायों को बताने के लिए स्कूल में उन्होंने पहला नाटक खेला। साथ ही घर का माहौल भी कला के लिए प्रेरित करता रहा। शादी – ब्याह तथा धार्मिक कार्यक्रमों के महिला संगीत में अपनी माँ और बहन के साथ गीत गाया करती थी साथ ही सहेलियों के साथ बैठकर तुकबंदी किया करती थी। एक पंक्ति वह गाती फिर दूसरी पंक्ति सहेली और फिर तीसरी वह खुद गाती इसी तरह तुकबन्दी करते हुए वह पूरा गीत लिख देती थी। इस तरह खेल खेल में गीत लिखने का शौक उन्हें बचपन से होने लगा था। अपने बचपन के महिला संगीत को याद करते हुए

कहती है कि “एक और बहुत बड़ा बीज जो बचपन में पड़ा था वह था ब्याह – शादी के समय का गाना बजाना। आस- पड़ोस या परिवार में जितनी भी शादियां होती थी उनमे मेरी माँ और मेरी बहन शादी के गीत गाती थी। दोनों की आवाज बहुत अच्छी थी। ढोलकी पर थाप, पैरों की थिरकन, मुंह पर गीत के बोल ऐसा लगता था जैसे नन्हे – मुन्ने नाटक उभर आए हों। देखने वाले भी लपेटे में आ जाते थे। हंसी -ठिठोली, नांच गाना शादी की रौनक क्या समां बंधता था।”

शीला भाटिया जी के लिए जिंदगी हादसों का खेल भर थी। मैट्रिक पास होते होते उनकी माँ चल बसी। माँ के जाने के बाद उनके बाबा को उनके भविष्य की चिंता सताने लगी और फिर 16 साल की उम्र में उनकी

शादी कर दी गई। तमाम हादसों के बाद भी शीला जी ने अपना पढ़ना - लिखना नहीं छोड़ा। शादी के बाद भी अपना पढ़ना-लिखना जारी रखा।

शीला जी की जिन्दगी जिन लोगो से प्रभावित हुई उनमे मिस मृणालिनी चट्टोपाध्याय का योगदान महत्वपूर्ण है। यह सरोजनी नायडू की बहन थीं। इन्हें प्यार से शीला जी मम्मी कहकर बुलाया करती थीं। उस समय के मुल्क की सियासत को समझने और परखने का मौका मिस मृणालिनी चट्टोपाध्याय की सोहबत में ही प्राप्त हुआ। अपनी पढाई पूरी करने के बाद लाहौर के ही सर गंगाराम हाईस्कूल में उन्हें मैथ का अध्यापक नियुक्त किया।

लाहौर में पढ़ाने के दौरान वह ‘आल इंडिया वीमेन कांफ्रेस’ संस्था से जुड़ीं जो पूर्णरूप से महिलाओं की थी। वह अपनी हम उम्र लड़कियों जैसे स्नेहलता सान्याल, स्वतंत्रता प्रकाश, पूरण आचार्य के साथ मिलकर मोहल्ले मोहल्ले जाकर औरतों से मिलती और उनके दुःख दर्द को समझती थीं। उन्ही दिनों शीला जी ने गाने लिखना शुरू किये और वह गीत औरतों के मजमों में गाये जाने लगे। शीला भाटिया जी कहती है कि “सबसे पहले तो जो लोकगीत मेरे अंदर धसे हुए थे, उनकी मदद से मैंने लिखना शुरू किया। किसी भी लोकगीत की पहली लाइन वैसे की वैसी रखकर आगे अपनी बात लिख लेती। इससे ये हुआ की गीत की धुन तो लोगों की पहचानी होती और बात नई। वह गीत आसानी से ढोलक के साथ गाये जाने लगे यह सब 1942 की बात है।”

शीला भाटिया जी ने आजादी तक तथा बंटवारे तक लगातार गीत लिखे जिससे वह समाज तथा समाज को जागरूक करने के विषय के साथ होते थे। कभी – कभी उनके गीत रेडियो पर भी बजते थे और कोई भी नहीं जानता था कि यह किसने लिखे हैं। लोग इन सभी गीतों को भी लोकगीत ही समझते थे। शीला भाटिया जी ने अपना पहला गीत तब लिखा था जब वह 1942 में राशन डिपों के बाहर धक्का – मुक्का करती औरतों को समझाने गई थीं। अपनी साथियों के माध्यम से उन्होंने उन सभी के आगे गीत प्रस्तुत किया था। शोर मचाती

औरतों में सन्नाटा छा गया। शीला जी को पहली बार आभास हुआ कि गीतों में क्या ताकत है। गीत था –

“उठ खड़ कुड़िये मुटियारे नी,
तेरा देश तैनुं ललकारे नी,
न खंड न आटा डब्बियां
न तेल न लकड़ा लब्बिया,
तूं आपे भुक मिटानी ए,
तूं आपे नंग मिटानी एं
इज्जत तूं आप बचानी ए,

साडे लीडर सुनने हारें नी, उठ खड़ कुड़िये.....”

इस गीत को याद करते हुए शीला जी कहती है कि “ढोलक पर यह गीत गाते हुए आसपास बिल्कुल चुप्पी छा गई। यह मेरी जिन्दगी में एक सुनहरा दिन था। इसी दिन की बदौलत मेरी जिंदगी में म्यूजिकल थिएटर की हमाहमी आई”

आजादी तक इसी प्रकार शीला जी ने लगातार सैकड़ो गीत लिखे जिनमे आजादी के गीत भी शामिल हैं। उसी दौर में लाहौर में इष्टा की ब्रांच बनी। यह एक प्रकार की कम्युनिस्ट पार्टी का कल्चरल विंग था। जिसमे शीला भाटिया जी को उसकी एक इकाई का सेल मेंबर बनाया गया था। लाहौर में खतरे की घंटी बज चुकी थी। बंटवारे की आग चिंगारी समाज में फैलने लगी थी। शहर में दंगे होना शुरू हो चुके थे। देश का जब बंटवारा हुआ तो शीला भाटिया जी अपनी एक दोस्त पूरण आचार्य के साथ कश्मीर में थीं। दंगो से बचते – बचाते, मुसीबतें झेलते वह दिल्ली पहुँची। सांप्रदायिक दंगो से प्रभावित होकर उन्होंने ‘आजादी’ नाम से नाटक लिखा..... ‘साडो वे लुटिया देस अमोल वे बेखबरो’



(पं. जवाहरलाल नेहरु “हीर रांझा”(1956) के कलाकारों तथा शीला भाटिया के साथ)

आजादी के बाद भारत में रंगमंच पर काम करने का शीला भाटिया को पहला मौका कश्मीर में मिला। वहाँ सरकार नेशनल कल्चरल फ्रंट शुरू कर रही थी। इस इदारा (संस्था) में 40 लोगों की टीम थी जिसमें वादी के नामी शायर, गवैये, लेखक शामिल थे। शायर नज्में लिखते थे फिर उनकी धुन बनाई जाती थी फिर साजिंदे साज बजाकर उसे पूरा करते थे। सब कुछ तैयार होने के बाद फिर गाँव – गाँव उन प्रोग्रामों को लेकर घूमते थे। लोगों तक पहुँचने के लिए वहाँ की लोकनाट्य शैली ‘भांड पाथर’ का खूब प्रयोग किया जाता था। 40 लोगों की इस संस्था में शीला भाटिया अकेली महिला थी, उनके लिए ये अनुभव चुनौतियों से भरा था। यहाँ से उन्होंने नाटकों को निर्देशित करना शुरू किया। वह नाटकों में हिस्सा भी लेती और उन्हें डायरेक्ट भी करती। उन्हीं दिनों कश्मीर में रेडियो स्टेशन कायम हुआ। उस रेडियो से ब्रोडकास्ट करने वाली पहली औरत शीला भाटिया थीं। शीला जी को जो मान और सम्मान और अपनापन जितना कश्मीर में मिला वह उन्हें फिर बहुत कम प्राप्त हुआ। एक साल बाद ही 1951 में वह दिल्ली लौट आईं। दिल्ली आने के बाद उन्हें एक सेमिनार में सरदार जी मिले उन्होंने बताया कि अभी भी उनके गाँवों में लोग उनके गीतों को गुनगुनाते हैं और उन्हें याद करते हैं। शीला जी ऐसी घटनाएँ बहुत प्रभावित करती थी और उन्हें इनसे प्रेरणा मिलती थी।

शीला जी के साथ थिएटर के संदर्भ में ये हुआ की लाहौर और कश्मीर का थिएटर छुट चुका था। 1951 में कश्मीर से दिल्ली आने के बाद उन्होंने एक थिएटर ग्रुप बनाने का फैसला किया। लाहौर से रिफ्यूजी बनकर दोस्तों को खोजा जिनमें स्नेह सान्याल, उषा भगत, स्वतंत्रता प्रकाश आदि के साथ मिलकर थिएटर शुरू किया। शीला जी के दिल्ली आर्ट थिएटर की शुरुआत करना इतना आसान नहीं था, आजादी के बाद इप्टा बिखरने लगा था, शीला जी इप्टा लाहौर की सदस्य थीं। इप्टा से जुड़े होने की वजह से उस समय के

कम्युनिस्ट पार्टी के नेशनल जनरल सेक्रेटरी नंबूदरीपाद साहब उनसे मिलने आये और उनसे कहा कि ‘आप अब दिल्ली आ गई हो इप्टा को खड़ा करो।’ शीला जी का इप्टा के संदर्भ में मत था कि ‘घोड़ा मर चूका है। मई उसपर चाबुक चलाने को तैयार नहीं हूँ’ और फिर इस तरह ‘दिल्ली आर्ट थिएटर’ बना।

1951 में दिल्ली आर्ट थिएटर की पहली पेशकश YMCA के मैसी हॉल में ‘कॉल ऑफ़ दि वैली’ (वादी की गूँज) किया गया था। यह एक म्यूजिकली प्ले था, इसमें एक भी स्पोकन वर्ड नहीं था। यह कश्मीर से आने के बाद शीला जी ने लिखा था। इस नाटक को प्ले करते समय शीला ओपेरा शैली से एक दम अनभिज्ञ थीं। लेकिन नाटक में सब कुछ गाकर ही कहा गया था। यह प्ले होने के बाद जैसे दिल्ली में सनसनी फैल गई। अगले दिन लगभग सभी अखबारों में ‘शाबाश शीला’ की हेडिंग के साथ इस नाटक को जगह दी गई। इस तरह फिर दिल्ली में ‘दिल्ली आर्ट थिएटर’ की शुरुआत हुई। ‘कॉल ऑफ़ दि वैली’ के बाद 1951 में ही बलवंत गार्गी का ‘राई ते पहाड़’ किया और 1952 में ‘केसरों’ किया। इसके बाद शीला जी के लिए नए रास्ते खुलते गये और खूब नये नाटकों का लेखन हुआ, उनकी धुनें बनाना फिर उनको डायरेक्ट करना फिर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करना। इन सबसे नये तजुर्बे होते गये, कभी खूब पसंद किया गया तो कभी – कभी रिजेक्ट भी हुए लेकिन शीला जी का मनोबल नहीं टूटा। सोशली और पोलिटिकली उस समय देश में जो भी हालात हुए उनसे प्रभावित होकर तथा कभी – कभी जो इनके दिमाग में रहता उससे सृजन कार्य चलता रहता। संगीत रहित नाटक से जुड़ने के बजाय वह संगीत प्रधान या ओपेरा से खुद को ज्यादा जुड़ा हुआ मानती थी क्योंकि बचपन से ही संगीत और ताल से जुड़ाव रहा। वह जो भी कहती छंद में कहती और उसकी एक ताल होती थी। वह अक्सर गीतों को पंजाबी में लिखती थी, इसका यह मतलब नहीं था कि धुन भी पंजाबी ही होंगी। उसमें कश्मीर की धुन रहती, आसाम की धुन रहती। धुनें तो इस आधार पर बनती थी कि सिचुएशन क्या है। वह कहीं की भी हो सकती थी, उस पर भाषा की तथा

सरहदों की पाबंदी नहीं थी।



शीला भाटिया शहर में पैदा हुई और शहर में ही पली – बड़ी इसके बावजूद भी ‘रूखे खेत’ (1953) जैसा नाटक लिखा जो किसानों की कहानी थी। ‘रूखे खेत’ नाटक के संदर्भ में शीला भाटिया कहती हैं कि “इस सब्जेक्ट का ख्याल कैसे आया ? शायद वह जो थोड़ी सी वाबस्तगी थी, जैसे किसान सम्मेलन से, या फिर उस कांफ्रेंस से जिसके बाद मुझे औरत मिली थी और जहा था कि ‘आप ही हैं जिसने बंगाल रोया था?’ और पैरन जी से वास्ता पड़ा जो हमारे साथ एक्टिव थी..... इनके साथ ही गाँवों से जुड़ाव हुआ। कश्मीर में इनके साथ ही कश्मीर में ग्रामीण परिवेश भांपा, समझा और जानकरी मिली। मैं कह सकती हूँ कि मेरे अंदर जो थोड़ा बहुत आर्ट पैदा हुआ वह इसी इंटर – एक्शन से पैदा हुआ और उसका नतीजा था ‘रूखे खेत’ ”



शीला जी आजादी के बाद दिल्ली रंगमंच के विकास में अपने थिएटर से महत्वपूर्ण भूमिक निभा रही थी। लेकिन उनके रंगमंच को ‘ओपेरा थिएटर’ की संज्ञा 1956 में

‘हीर-राँझा’ की पेशकश के बाद स्टेट्समैन के ड्रामा क्रिटिक ‘चार्ल्स फ्राबरी’ ने हेडलाइन दी ‘फोक ओपेरा’। ओपेरा शब्द पहली बार सामने आया। उसके बाद पूरे थिएटर ग्रुप को लगा कि शायद हम कुछ अलग कर रहे हैं, तभी ड्रामा के इतने बड़े जानकार हमारे रंगमंच को यह संज्ञा दे रहे हैं।

कमला देवी चट्टोपाध्याय जैसी शख्सियत भी शीला जी के ‘ओपेरा थिएटर’ से प्रभावित थीं और शायद इसलिए ही 1959 में ‘नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा एंड एशियन थिएटर इंस्टीट्यूट’ की शुरुआत करने के बाद कमला देवी जी ने शीला भाटिया जी को वहाँ पढ़ाने का ऑफ़र दिया और फिर अध्यापिका के रूप में उन्होंने लगभग २० वर्षों तक एनएसडी में पढ़ाया और अभिनय प्रशिक्षण दिया और नाटक डायरेक्ट किये।

NSD से अलग दिल्ली आर्ट थिएटर के साथ शीला जी व्यस्त रहती थी। दिल्ली आर्ट थिएटर के साथ वह लगातार म्यूजिकल प्ले करती रहीं। म्यूजिकली प्ले करते हुए शीला जी को एक खतरा हमेशा रहता कि हमारे पास म्यूजिक भी है और अपनी बात कहने का अंदाज भी पर कहीं बात म्यूजिक पर हावी न हो जाए। नाटक में भाषण झाड़ना या कोई गहरी बात इशारों में कह देना यह आपकी ग्रोथ पर निर्भर करता है। लेकिन नाटक हो जाने के बाद दर्शकों का रिस्पॉंस बता देता था कि नाटक सफल हुआ या असफल। मुंशी प्रेमचंद्र के गोदान का विष्णु प्रभाकर द्वारा ‘होरी’ के नाम से रूपांतरण मंचित किया गया। उसमें शीला जी ने अभिनय करते हुए धनिया की भूमिका निभाई। यह नाटक दर्शकों ने खूब पसंद किया और साथ ही शीला जी को इस नाटक में अभिनय के लिए सम्मानित भी किया गया।

शीला जी थिएटर को एक मूवमेंट की तरह ही देखती थी और उसी तरह उसका उपयोग भी करती थी। उनका मानना था कि मनोरंजन के साथ – साथ थिएटर को कुछ कहना जरूर चाहिए। थिएटर करते हुए शीला जी के व्यक्तित्व की दो पहचान बन चुकी थी। पहली उनकी आवाज और दूसरा डिसिप्लिन। आप जो भी करें

उसमे अनुशासन जरूर होना चाहिए। किसी भी काम को शुरू करने में, उस पर काम करते वक्त या उस काम को समय पर खत्म करने में। शुरू से अंत तक किसी भी काम से जुड़े रहने पर एक अनुशासन हमेशा रहना चाहिए। उनके थिएटर ग्रुप से जुड़ने वाले

शीला भाटिया द्वारा लिखित तथा निर्देशित नाट्य – आलेख

1. 1951 - कॉल ऑफ़ दि वैली
2. 1952 – केसरो (बलवंत गार्गी)
3. 1953 – रुक्खे खेत
4. 1956 – हीर – राँझा
5. 1963 – पृथ्वीराज चौहान
6. 1966 – चन्न बदला दा
7. 1969 – गालिब कौन हैं (SM Mehndi)
8. 1971 – जान -ए-गजल (SM Mehndi)
9. 1972 – किस्सा यह औरत का हव्वा से हिप्पी तक
10. 1977 – नादिर शाह
11. 1977 - यासमीन (लोर्का कृत 'यरमा')
12. 1978 – जुगनी
13. 1978 – जीवन की है
14. 1979 – दर्द आयेगा दबे पाँव
15. 1980 – यह इश्क नहीं आसां
16. 1981 – मानसरोवर
17. 1981 – शहंशाह अकबर
18. 1983 – सुलगदे दरिया
19. 1983 – द्रौपदी (कमाल अहमद सिद्दीकी, भारत भूषण)
- 15.

20. 1985 – कागज ते कैनवास
21. 1985 – तेरे मेरे लेख
22. 1985 – कतार
23. 1987 – आमिर खुसरो (नियाज हैदर)
24. 1990 – उमर खैयाम
25. 1992 – शबनम
26. 1993 – मुकद्दर
27. 1995 – धरती
28. 1997 – नसीब
29. 1999 – मैं और वह

सम्मान –

1. पद्मश्री
2. संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार-1982
3. साहित्य कला परिषद सम्मान
4. पंजाब आर्ट कौंसिल सम्मान
5. दिल्ली सरकार सम्मान 1986
6. गालिब इंस्टीट्यूट अवार्ड 1983
7. पंजाबी कल्चरल सोसायटी सम्मान
8. दिल्ली की पंजाबी अकादमी का सम्मान
9. उर्दू अकादमी का सम्मान
10. दिल्ली नाट्य संघ द्वारा 'हीर-राँझा' के लिए सम्मान
11. 'कॉल ऑफ़ दि वैली' के लिए संगीत नाटक अकादमी सम्मान
12. 'गोदान' के लिए अभिनय पुरस्कार
13. पंजाब सरकार द्वारा गणतंत्र दिवस पर समान पत्र
14. मध्यप्रदेश सरकार द्वारा 1996 – 97 में कालिदास सम्मान

संदर्भ

1. इप्ता की यादें, सम्पादक राजेंद्र शर्मा : सहमत प्रकाशन, दिल्ली, 2012
2. दिल्ली का हिंदी नाटक और रंगमंच, सं.रमेश गौतम, अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2000
3. नाटक के सौ बरस, सं अजित पुष्कल / हरीशचंद्र अग्रवाल : शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली.संस्करण 2013
4. भारतीय रंगकोश, खंड : दो, सं प्रतिभा अग्रवाल : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली, संस्करण 2003

5. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास, डॉ. अज्ञात : पुस्तक संस्थान प्रकाशन, कानपुर, संस्करण 1978
6. रंग दस्तावेज सौ साल, खंड : दो, महेश आनंद : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2007
7. शीला भाटिया – लेखक : संपादक जे.एन. कौशल : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय प्रकाशन, दिल्ली



‘खामोश अदालत जारी है’ नाटक की रंग परिकल्पना

कविता

शोधार्थी (अनुवाद अध्ययन विभाग)
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो. 7503561010
ई. मेल- kavichauhan322@gmail.com

विजय तेंदुलकर के नाटकों ने मराठी और हिन्दी समेत भारत के विभिन्न भाषा-भाषी समाजों के बीच अपनी विशेष जगह बनाई है। उन्होंने भारतीय रंगमंच को अपने नाटकों के माध्यम से समकालीन समाज की उन उलझी हुई सच्चाईयों से अवगत कराया जो आधुनिक जीवन की उपज है और जिनको काले और सफेद के नैतिक खानों में बाँटकर नहीं समझा जा सकता, बल्कि उनको समझने के लिए हमें आधुनिक व्यक्ति की उन तमाम सीमाओं और उत्कंठाओं को समझना होगा जिनसे वह बरबस बंधा होता है।

विजय तेंदुलकर के नाटक खामोश ! अदालत जारी है का जब सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में दिल्ली में पहली बार मूल मराठी में प्रदर्शन हुआ, तो रंग-जगत में एक तरह की अनोखी अत्तेजना महसूस की गई थी। ऐसे लगता था कि आखिरकार आधुनिक भारतीय नाटक अपने लंबे व्यर्थता के दौर से निकालकर वास्तविक सृजनात्मक उपलब्धि के रास्ते पर चल पड़ा है।

विजय तेंदुलकर ने पुरुष प्रधान समाज में सत्ता या व्यवस्था के प्रतीक पुरुषों के मुकाबले शोषित दलित स्त्रियों की त्रासदी का विश्लेषण पूरे मनोयोग से किया है।

खामोश अदालत जारी है (शांतता ! कोर्ट चालू आहे) उनका प्रसिद्ध नाटक है। असंख्य मंचनों, विमर्शों और फिल्मांकनों के कारण यह चर्चित रहा है। इस नाटक की मुख्य पात्र है मिस बेणारे नामक एक सुंदर, बुद्धिमान, प्रखर और स्वाभिमानिनी युवती, जिसके मन में प्यार पाने की और अपने ढंग से अपनी जीने की ललक है वह छोटे बच्चों के एक प्राइवेट स्कूल में शिक्षिका है, पर साथ ही नाटक द्वारा लोगों में सामाजिक-राजनीतिक जागृति के लिए प्रयत्नशील एक शौकिया नाटक-मंडली की सदस्य भी है। ऐसे ही एक प्रदर्शन के लिए एक दिन बुम्बई के किसी उपनगर में मंडली के लोग प्रदर्शन से

‘खामोश अदालत जारी है’ एक उल्लेखनीय नाटक है जिसने आधुनिक भारतीय रंगकर्म की चेतना को नया आयाम दिया। इस नाटक में भारतीय मध्यवर्गीय नैतिकता के छल को बेनकाब किया गया है। मूल मराठी में लिखे इस नाटक का मंचन लगभग सभी भाषाओं में हुआ है। हिन्दी रंगमंच पर भी यह काफी लोकप्रिय रहा है।

पहले वक्रत बिताने और अनुपस्थित पात्र की जगह एक स्थानीय पात्र को अभ्यास करने के लिए एक काल्पनिक अभियोग की सुनवाई के आशु-नाटक की रिहर्सल शुरू करते हैं, जिसमें अभियुक्त की भूमिका मिस बेणारे को दी जाती है। यह नाटक ‘लीला बेणारे’ की ट्रेजेडी है। नाटक के पात्र मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे और सभ्य

व्यक्ति है छद्म और शालीनता उनकी मजबूती है, इसलिए अपनी शिकार बेणारे के प्रति उनकी मानसिक वाचिक हिंसा में क्रूरता का एक अपेक्षाकृत सूक्ष्म और सम्भ्रान्त रूप दिखाई पड़ता है। एक ओर यह नाटक मध्यवर्ग की दमित वासनाओं, वर्जनाओं और कुंठाओं

से उत्पन्न होने वाली हिंसा के दायरे में जाने-अनजाने आ फंसी एक स्त्री (बेणारे) की पीड़ा छटपटाहट और यातना को उत्तेजक रूप में पेश करता है तो दूसरी ओर हमारे समाज में विविध स्तरों पर मौजूद पाखंड ढोंग और दोमुहेपन को भी बड़ी तीव्रता से उजागर करता है।

रंग परिकल्पना की दृष्टि से भी यह नाटक सराहनीय है। मराठी लोकनाट्य तमाशा और यथार्थवादी रंगमंच का बेजोड़ मिश्रण यहाँ दिखाई देता है। यँ तो यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है किन्तु एक ही दृश्य बंध है। एक अदालत के दृश्य में मानव नियति की विडम्बनाओं के उद्घाटन को जिस प्रकार नाटककार ने साधा है वह अद्भुत है। सरोजनी वर्मा लिखती है- “इस नाटक का उनकी ख्याति में योग देने का कारण भी सम्भवतः यही है कि पहली बार उन्होंने इस नाटक के माध्यम से परंपरागत नाटक को प्रयोगधर्मी रंगमंच के साथ जोड़कर दर्शकों को सीधे पकड़ लिया।”¹

अदालती कार्यवाही से जुड़ा यह नाटक रंग परिकल्पना की दृष्टि से अत्यंत प्रभावी है। दो स्त्री पात्र (बेणारे और मिसेज काशीकर) और छह पुरुष पात्र (सुखात्मे, काशीकर, पौक्षे, सामंत, कार्णिक, रोकड़े) के अभिनय के माध्यम से यह नाटक अपने सम्पूर्ण कथ्य में अविवाहित मातृत्व के सवाल को उठाना है। नाटक की रंग परिकल्पना ऐसी है कि बंद प्रेक्षागृह वाले मंच (आयताकार) पर इसका मंचन संभव है। प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि संयोजन के माध्यम से नाटक के कथ्य और त्रासदी को बखूबी उभारा जा सकता है जैसा कि इसके अनेक मंचनों में अत्यंत सफलतापूर्वक किया भी गया है।

“खोखली सामाजिक व्यवस्था आडंबर युक्त रूढ़ियों भग्न-जर्जर परम्परित मूल्यों तथा बदलते परिवेश के संबंध में मानव-संबंधों की विडम्बना को नाटककार ने पूरी मार्मिकता और जीवंतता से पेश किया है। गहरे तनाव को बार-बार हंसी-मजाक से तोड़ता हुआ यह

नाटक दर्शकों से ठहाका लगवाया है, परंतु प्रत्येक ठहाका अंतिम सीमा को छूते-छूते एक तीखी कसक में तब्दील होकर विपरीत प्रभाव पैदा करता है।”² ठहाकों के साथ-साथ प्रेक्षकों के अन्तर्मन में प्रवेश करती खामोशी और कुछ अनुत्तरित प्रश्न इस नाटक की रंग दृष्टि का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

नाटक के प्रथम अंक में जैसा रंगनिर्देश दिया गया है वह यथार्थवादी रंगमंच का अच्छा उदाहरण है जो प्रतीकात्मक स्तर पर नाटक के कथ्य से भी जुड़ते हैं। गौरतलब है कि प्रथम अंक का जो दृश्य है वह किसी दालान में खुलता है जो ग्रामीण इलाके का पंचायत भवन हो सकता है। दालान में दो दरवाजे हैं। एक बाहर से आने के लिए- वह भीतर का कमरा हमारा अन्तर्मन है जो परंपरावादी होने के कारण बंद है। वही दीवार पर एक छड़ी लगी हुई है जो बंद है – यह इस बात का सूचक है कि परिस्थितियाँ और परिवेश तो बदल गया है लेकिन हमारी मानसिकता प्रगतिशील होने की बजाय जड़ता का शिकार है। सम्पूर्ण नाटक हास-परिहास के साथ चलता है जिसमें तनाव की सिलवटे सहृदय के मन पर अंकित होती चलती है। ऐसे में “तिरस्कार को छूता हुआ उपहास एक व्यापक विडम्बना से संभला रहता है जोकि नायिका बेणारे के ऊपर क्रूरता से अभियोग लगाकर उसे नंगा कर दिया जाता है तब हम देखते हैं कि अभियोग लगाने वाले अप्रत्यक्ष रूप से सही नंगे हुए हैं। बेणारे निजी स्वतंत्रता की भावना से पूर्ण और भोलेपन की प्रतिमूर्ति है, वह जीवन के सहज काव्य की ही तरह सुन्दर है।”³

रंग परिकल्पना की दृष्टि से नाटक के घटना व्यापार पर दृष्टिपात करते हैं तो हम पाते हैं नाटक पर्याप्त नाटकीयता लिए हुए है। खेल-खेल में शुरू हुआ मुकदमा कब बेणारे को सच में दोषी ठहरा देता है और उसे सजा मुकर्रर कर देता है देखने लायक है। ऐसे में मिसेज काशीकर का स्त्री होने पर भी स्त्री की बेबसी दर्द

को न समझ पाना सचमुच व्याख्यायित करता है।

नाटक के चरित नाटकीय क्रियाव्यापार के साथ धीरे-धीरे खुलते नज़र आते हैं- जिसमें बेणारे एक जिंदादिल रचनात्मक व्यक्तित्व को लेकर सामने आती है, उसमें मासूमियत है, जवांपन है और स्वाभिमान भी है। वहीं मिसेज काशीकर का चरित प्रतिनिधि की भांति है जो पुरुष प्रधान भारतीय समाज में थोपी गयी मानसिकता की शिकार है। वहीं अन्य पात्रों में सभी पुरुष पात्र सिवाय सामंत के सभी पुरुष सत्तात्मक समाज के प्रतिनिधि पात्र है, जो तथाकथित नैतिकता की जबरदस्ती स्त्री समाज पर थोपने में माहिर है। वे स्वयं को नियामक तबके के रूप में समझते हैं। वहीं सामंत ग्रामीण समाज का कम पढ़ा-लिखा चरित है, जिसमें संवेदना शून्यता की स्थिति नहीं झलकती है।

“कई प्रकार से यह पहला नाटक है, जिसमें समकालीन जीवन के एक पक्ष को बड़े विश्वसनीय ढंग से बहुत ही सधे हुए नाट्य शिल्प के साथ पेश किया गया है। उसमें हमारे निम्न मध्यवर्गीय समाज की वर्जनाओं, कुंठाओं और क्रूरता से घिरी एक स्त्री की यातना की मन को झकझोर देने वाली तस्वीर है। साथ ही इसके नाट्यकीय ढांचे की बुनावट हास्य करुणा का यथार्थ और काल्पनिक का बड़ा कलात्मक और प्रभावी मिश्रण है, जो उसे मंच पर एक अविस्मरणीय अनुभव बना देता है।”⁴

संवाद की दृष्टि से भी यह नाटक उत्कृष्ट कोटि का है। इसके संवाद छोटे-छोटे और कहीं-कहीं लंबे भी हैं। कहीं-कहीं स्वगत कथनों का प्रयोग किया गया है, जहाँ भावावेश को दिखाना हो। ध्यातव्य है कि रंग-परिकल्पना की दृष्टि से देखे तो ये संवाद चरित को तो खोलते ही हैं, साथ ही संवाद के स्तर पर चुप्पी, खामोशी का भी बड़ा माकूल प्रयोग हुआ है, जो रंगमंच पर प्रदर्शन के समाज दर्शकों को सहज ही आकर्षित करती है। यही ध्यान देने वाली बात यह भी है कि नाटक में

गीत और कविता का भी समावेश हुआ है जो सार्थक है। बेणारे के जीवनानुभव को अत्यंत सफलता के साथ प्रस्तुत करती यह कविता द्रष्टव्य है –

“यह मेरे पाँव
किसी खतरनाक राह पर
चलते जाते हैं।

हर बार रोशनी
अंधेरे को नकारकर
चमकती है
मगर फिर घुल जाती है
उसी अंधेरे में।”⁵

गौरतलब है कि नाटक में प्रथम अंक में ऐसे स्थल आते हैं जो दिखा देते हैं कि ऊपर-ऊपर हँसमुख दिखाई देने वाली बेणारे अटल गहराई में कहीं एक गहरी व्यथा छिपाये हुए है, अंदर कहीं बेचैन है और सावधान और सतर्क भी है। इस दृष्टि से बेणारे एवं सामंत का प्रथम दृश्य जिसमें बेणारे अनजाने ही बातों ही बातों में अपने ऊपर लगाये गये इल्जाम का और पेशी का जिक्र कर जाती है। वहीं श्रीमति काशीकर एवं रोकड़े के संवादों में प्रो. दामले का जिक्र तो वहीं बिना किसी पूर्व सूचना के अचानक मुजरिम के कठघरे में बेणारे के खड़े हो जाने पर आंतरिक बेचैनी आदि से स्पष्ट हो जाता है।

“खेल ही खेल में शुरू किए गये मुकदमे के दौरान वास्तव में ही अपने फँस जाने का भयानक एहसास करते ही बेणारे ढंग रह जाती है, हड़बड़ा उठती है-अपने इर्द-गिर्द सारी तनावपूर्ण परिस्थिति का एहसास उसे होता है। भ्रूण-हत्या का अभियोग लगाया जाता है तब तनाव और अधिक बढ़ जाता है। वहीं तो नाटक का केंद्र बिन्दु बनेगी और नाट्यसूत्र उसी के इर्द-गिर्द तेजी से घूमता रहेगा। इसलिए फुट-लाइट्स के पास दर्शकों के नजदीक ही उसका स्थान अधिक प्रभावपूर्ण एवं महत्वपूर्ण हो जाता है।

नाटक के पर्सपेक्टिव में बेणारे दर्शकों की निगाहों में ‘क्लोज अप’ की तरह बराबर बनी रहती है।⁶

दूसरे अंक का अंत और नाटक एक विचित्र मोड़ पर आ जाता है। खेल अब खेल नहीं रहता, आखेट बन जाता है। शिकार के सामने खड़े शिकारी कुछ इस तरह का असर पैदा कर जाता है। यह चित्र बुद्धिमान जानकार दर्शकों के लिए और एक बारीकी हर पात्र न्यायासन के नजदीक है – मानों हर पात्र ने अब न्यायाधीश का अधिकार ग्रहण कर लिया है और इस अवस्था में रहते हुए एक प्रकार का क्रूर आनंद लूट रहा है। ‘मराठी नाटक और रंगमंच के लिए तेंदुलकर का सबसे बड़ा योगदान उनकी नाट्यभाषा है, जिसे वह पहली बार किताबी बनावटी भाषा से निकालकर चरित्र की अपनी स्वाभाविक बोलचाल की जीने की भाषा के निकट ले आए।⁷ निश्चित तौर पर नाट्यभाषा की यह स्वाभाविक, जीवंतता इस नाटक में भी दृष्टिगोचर होता है।

रंगपरिकल्पना के अंतर्गत तीसरा अंक अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि संयोजन का यहां माकूल प्रयोग किया जा सकता है। काशीकर का अंतिम वाक्य है – “अभियुक्त को दस सेकंड का वक्त दिया जाता है।”⁸ और तुरंत बेणारे के स्वगत का वाक्य – “हाँ ! बहुत कुछ कहना है मुझे। (अँगड़ाई लेकर) कितने बरस बीत गए, कुछ कहा ही नहीं।”⁹ यहाँ बेणारे का यह कहना और अँगड़ाई लेकर मुड़ना वस्तुतः दर्शकों के सम्मुख हो संवाद करने जैसा है। यह स्वगत काफी लंबा है ऐसे में प्रकाश का फोकस बेणारे पर केन्द्रित कर अन्य पात्रों को अंचल अवस्था में अंधे में खड़ा करवाकर कथ्य को बेहतरीन तरीके से दर्शकों तक पहुंचाया जा सकता है। भावावेश के अनुकूल ध्वनि की संयोजना भी यहाँ महत्वपूर्ण होगा।

“समकालीन भारतीय नाट्य साहित्य और रंगमंच में विजय तेंदुलकर ने जो वैविध्य प्रयोगधर्मिता दी, जो अभिनेता को अनेक आयाम ऊर्जा और नए स्वर

दिए और साथ ही जो साहस गुस्सा प्रखर अभिव्यक्ति दी, वह उनकी लेखकीय ईमानदारी और सर्जनात्मकता द्वंद को स्थापित करता है।”¹⁰ आज के नारी आंदोलन, नारी चेतना, स्त्री स्वातंत्र्य : स्त्री संघर्ष के युग में महिला सशक्तीकरण पर अगर उनके नाटकों के ‘बेणारे’, ‘कमला’ जैसे अनेक स्त्री पात्र याद आते हैं तो आश्चर्य नहीं।

रंगमंच पर अंत में बने रहते हैं सामंत और बेणारे। सामंत बेचैन है, उसे कुछ समझा नहीं। यह जानते हुए भी कि अब उसे किसी तरह साहस जुटाना है, वह असहाय है, असमर्थ है। वह भी तो एक साधारण व्यक्ति है यद्यपि मानवीय संवेदना से युक्त – “अंतिम दृश्य में कटघरे के भीतर से बेणारे का हाथ बढ़ाकर सामंत द्वारा चुपचाप रख दिए गए तोते के खिलौने तक को न छू पाना पुरुष शासित समाज की क्रूरता और स्त्री की बेबसी का अच्छा रेखांकन करता है।”¹¹ अंत में नेपथ्य से उसी के स्वर में गीत के बोल सुनाई देते हैं –

“बुलबुल से सुगना कटे

क्यों गीले तेरे नैन

कहाँ रहूँ ओ सुनना दादा

कहाँ बिताऊँ रैन

कहाँ गया मेरा रैन बसेरा”¹²

निश्चित तौर पर रंगभिव्यक्ति का यह अच्छा उदाहरण है क्योंकि यह गीत बेणारे के जीवन की त्रासदी को और गहन बना देता है। उसका सम्पूर्ण जीवनानुभव इस गीत में स्पष्ट हो जाता है। यह गीत स्त्री समाज की वह सशक्त अभिव्यक्ति भी मानी जा सकती है, जिसे वह सदियों से दोगम दर्जे के इंसान के तौर पर झेल रही है। खामोश ! अदालत जारी है के वैशिष्ट्य को उद्धाटित करते हुए विजय शर्मा लिखते हैं- “नाटक के सरस हास्य ने- जहाँ तत्कालिक रूप से गुदगुदाया वहीं उसके तीखे व्यंग्य ने स्थायी रूप से सोच-विचार के लिए प्रेरित किया। आस पास की जिंदगी से उठाए गए चरित और

संवाद इतने मारक हो सकते हैं यह इसे देखकर ही जाना जा सकता है।”¹³

इस नाटक के माध्यम से जिस कथ्य (स्त्री स्वातंत्र्य अविवाहित मातृत्व) को उठाया गया है वह वर्तमान दौर का भी ज्वलंत मुद्दा है। ऐसे में यह नाटक अपनी प्रासंगिकता लिए हुए है और बार-बार मंचित भी किया जा रहा है। नाटककार ने एक ही दृश्यबंध में तीनों अंकों को समेटा है, जिसके कारण मंचीयता की दृष्टि से भी यह उपयुक्त है। पात्रों को संख्या आठ भी मंचन की दृष्टि से उपयुक्त है। नाटककार ने नाटक की रंगपरिकल्पना मराठी लोकनाट्य तमाशा और यथार्थवादी शैली के गांभीर्य को तोड़ता है, वहीं नाटक को बोझिल होने से भी बचा लेता है।

नाटक का कथानक अंक-दर-अंक खुलते जाता है, रोचकता बनी रहती है कि खेल-खेल में शुरू हुआ यह खेल न जाने किस करवट बैठेगा। अंत में बेणारे का दर्शक के सम्मुख स्वगत एक स्त्री का भावावेश न रहकर सम्पूर्ण स्त्री जाति की अभिव्यक्ति बनकर सामने आती है, जो सदियों से मूकता की शिकार रही है और इस पुरुषसत्तात्मक समाज में स्वयं के शोषण को नियति मान

नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त रही है। इस दृष्टि से जयदेव तनेजा जी का यह कथन द्रष्टव्य है-“विजय तेंदुलकर ने अपने नाटकों और अपनी फिल्मों में स्त्री के प्रति की गयी हिंसा तथा सेक्स-भाषा को इसी व्यापक उद्देश्य के लिए एक रूपक या मुहावरे की तरह इस्तेमाल किया है।”¹⁴

अंत में यह कहा जा सकता है कि विजय तेंदुलकर ने भारतीय नाट्यांदोलन और समूचे हिन्दी रंगमंच को प्रचलित सांचे से बाहर निकाला। उनके नाटकीय पात्र सामने से देखते हैं और सीधी बात करते हैं। ‘खामोश ! अदालत जारी है’ नाटक जहाँ अपने कथ्य को लेकर प्रासंगिक बना हुआ है। वहीं इसकी रंगपरिकल्पना यथार्थवादी रंगमंच के लिए उत्तम है। उसमें तमाशा शैली का मिश्रण भी अद्भुत है। कार्य-व्यापार जिस तीव्रता से घटित होते चलते हैं, चरित खुद-बेखुद खुलते चलते हैं। संवादों में न अवांतर चर्चाएँ हैं और न अनावश्यक विस्तार। अंत में यह स्वीकारा जा सकता है कि ‘खामोश ! अदालत जारी है’ विजय तेंदुलकर का अंततः संभावनाओं से युक्त सर्वश्रेष्ठ सुबद्ध नाटक है।

संदर्भ सूची :

1. तेंदुलकर, विजय अनुवादक- सरोजिनी वर्मा (2012) खामोश अदालत जारी है, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 9
2. तनेजा, जयदेव, रंग-साक्षी (नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा-अनुवीक्षा रपट) तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-86,
3. श्रीवास्तव, आशा रानी, हिन्दी नाटक और रंगमंच, भारत प्रकाशन लखनऊ, पृष्ठ – 204
4. जैन, नेमिचन्द्र, तीसरा पाठ (चार दशक की नाट्य प्रस्तुतियाँ), पृष्ठ 140
5. तेंदुलकर, विजय, अनुवाद सरोजिनी वर्मा, (2012) खामोश ! अदालत जारी है, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 9
6. रंग प्रसंग, वर्ष 2014, अंक 42, पृष्ठ 131, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, (नई दिल्ली)
7. तनेजा, जयदेव, (2016), आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 178
8. तेंदुलकर, विजय, अनुवाद सरोजिनी वर्मा, (2012) खामोश ! अदालत जारी है, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 103

9. वहीं पृष्ठ – 103

10. रस्तोगी, गिरीश, नाट्यचिंतन और रंगदर्शन: अंतसंबंध, किताबघर प्रकाशन (नई दिल्ली), , पृष्ठ 145

11. तनेजा, जयदेव, रंग-साक्षी (नाट्य प्रस्तुतियों की समीक्षा-अनुवीक्षा रपट), तक्षशिला प्रकाशन (नई दिल्ली), पृष्ठ-86,

12. तेंदुलकर, विजय, अनुवाद सरोजिनी वर्मा, (2012) खामोश ! अदालत जारी है, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृष्ठ 103

13. रंग प्रसंग, वर्ष (2014), अंक 42, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, (नई दिल्ली)

14. तनेजा, जयदेव, (2006), आधुनिक भारतीय रंगलोक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ 91



Conflicts of Refugee Identities in Asif Currimbhoy's *The Refugee*

Kritanjay Tripathi

krtripathi06@gmail.com

Research Scholar, Department of English

M.E.L. at University of Allahabad

Lecturer of English, Govt. of Delhi

The *Refugee* (1971) is one of the plays of Bengal Trilogy by Asif Currimbhoy. Bengal Trilogy is the collection of three plays that deal with the core themes of Bengal. Other two plays are *Inquilab* (1970) and *Sonar Bangla* (1972). Being a "dramatist of public events" (Nazareth 31), Currimbhoy has touched some sort of public events in each of his plays and *The Refugee* is not an exception. It is basically a political play that deals with the contemporary environment of West Bengal in the shadow of 1971 events relates to the liberation war in East Pakistan, from 3rd December 1971 to the Fall of Dhaka on 16 December 1971. The peculiarity of Asif lies in the fact that he explores the events from inside rather than giving an overview of it. It is not just a political or historical account of the event but

The Refugee (1971) is one of the plays of Bengal Trilogy by Asif Currimbhoy. Bengal Trilogy is the collection of three plays that deal with the core themes of Bengal.

rather a primary account that explains all possible aspects related to refugees and their situation at that time.

Asif Currimbhoy has been deeply interested in the migration of ten million Bangladeshi refugees into India in 1971. It is a minor theme in *Inquilab* that becomes a central theme in *The Refugee*. The problem of refugee in Bengal was not for the first time as this region has also borne the burden of

refugees in 1947. Through this play Currimbhoy has given a vivid portrayal of the contrast between the refugee problems of 1947 and that of 1971 as well. On an interesting note,

those who were refugees in 1947 are presented as the voice against the refugees of 1971; Sen Gupta and Prof. Mosin are two such characters. This paper deals with the idea of refugees on the four given grounds;

first: how is it different from the problem of 1947? second: from the viewpoint of a native who opposes this illegal immigration of refugees, third: through the eyes of those natives who favor the refugees on humanitarian grounds and fourth: how a refugee feels for his/her very own self?

Difference from the problem of 1947-While depicting the refugee scene Currimbhoy has given a very pathetic and heart touching description of the refugees. He says;

"The refugees scenes grow with early dawn or evening shadows like ominous prehistoric beast's death pants. Groans and wails skeltoned men and sunken-eyed babies sucking on shriveled breasts. Maimed human beings reduced to inhuman existence, robbed of dignity and essential life." (*The Refugee* 19)

What is notable about it is the uniformity of pain and plight bore by refugees, be it during 1947 or 1971. The pain and uncertainty of the future is the same, still both situations have their peculiarities. Sen Gupta is one such

character who represents this class. He was a refugee from Eastern Pakistan during the partition of 1947 but when his wife Sarala tries to remind him of the old days to make him realize the gravity of the issue, he gives a cold reaction. He feels that both situations are fundamentally different as in 1947 Hindus living in Bengal, their very own land, were forcibly sent to West Bengal as victims of political events. As far as the refugees of 1971 are concerned, in the views of Sen Gupta, they are illegal intruders who are spoiling the beauty of Bengal. This is an interesting viewpoint to observe how a refugee is trying to oppose the other refugees for the sake of his personal fear and on the grounds of religion and culture. It provides one angle to see refugees. This minor theme somewhere shows the mirror to the fact that if we consider our identity in the light of time, somewhere we all are refugees. It is a thought provoking and macro view on the issue of refugees.

Native's Viewpoints Against the Refugees:
Those natives of the play who are against this

whole refugee issue are convinced that it is a political problem that emerged from the political failure of "cunning" politicians. being a political problem, its solution should also be of political nature. While mocking at the political history of Bengal, Sen Gupta refers to a famous saying that "bring two Bengalis together and you will have three political opinions" (*Currimbhoy* 32).

Another major concern behind opposing the refugees is the public order and development. Their growing population is a serious issue for everyone. Professor Mosin, a close friend of Sen Gupta expresses his fear and says; "The refugees are coming. The floodgates have been opened. Thousands and thousands... look out of the window... .. which will grow millions upon millions, hungry, lost... in howling, silent despair. The refugees are coming in a growing unending stream... (softly) Where are we going to keep them?" (17-18)

Sen Gupta, the chief character and the opposer of refugees, is also worried on almost the same issues of public order and break to

the development projects. He says;" Our development projects have come to a standstill. The refugee with his minimum rations, is better fed than the local unemployed. Something's going to explode soon!" (30-31).

Native's Viewpoint in the Support of the Refugees: There are many characters in the play who believe in the rights of the refugees. Interestingly, those who oppose refugees on some grounds are found caring for them for some personal or humanitarian reasons. Sen Gupta is one such person. He is strictly against the illegal emigration but, at the same time, is deeply concerned for his friend Rukaiya's son Yassin, he says; "... you're welcome. As a friend and neighbor, you are welcome. As long as there's enough room to live in and food to share, I promise you there will always be a shelter in this town for those who need our help." (14)

Sen Gupta's wife Sarala is a gentle woman who is sympathetic towards refugees for the very fundamental reason that is 'being human'. She gives a very rude response to her

husband for not being supportive towards refugees, though he was a refugee once. Her stand has gained her the title of "Ma" among the public.

Mita, the daughter of Sen Gupta and Sarala, is the strongest arguer in the favor of refugees. Her reasons are plain and simple but at the same time thought provoking and impressive. She is sympathetic towards the refugees just because she feels it justified on the grounds of universal brotherhood. She is worried and firmly concerned for them because she does not see them as refugee or Muslim but just as another human beings who are in want and grief just next to her. She has pure compassion for them. She says; " The refugees exist the same way. They are alive, and oh only too. They bring tears to my eyes; their suffering touches my heart. I can't bear to leave them alone..." (30)

A very interesting view is shared by Sen Gupta's young son Ashok. He is a young enthusiastic person who believes Pakistan to be the root cause of the whole problem. He has sympathy for refugees but has a bitter

anger for Pakistan's army. He has his own solution to the problem. He says; "The crux of the problem is to throw the Pakistani army out- with guerrilla assistance given to our Bengali brothers!" (24-25)

Refugee's Own Stand on Refugees: Yassin represents the side of refugees. As shown by Currimbhoy, actually they are still not sure about what happened and why happened. As Yassin says; " Where did it start? I don't know." But at the same time, he also admits the fact that once it started, he had no other choice but to participate; "I became involved- through no choice- and I'm searching for a way... to abstain." (*The Refugee* 16)

The character development of Yassin has a very lucid contribution in the development of the play. The play starts with his arrival at Sen Gupta's home. He is very little concerned for the fellow refugees and tries to close his eyes by putting a philosophical explanation to the whole problem. He calls attachment as the cause of the pain and self-interest and the cause of all wrongs. The continuous persuasion by Mita for "involvement" and

"action" with the feelings of universal brotherhood gives the final touch to his character and the whole play as well. In the end Yassin picks out his uniform of Mukti Sena and resolves to help his fellow Bengali brothers.

Conclusion: The problem of refugees is not that simple as it may seem. Even the present world is facing it in the form of Syrian refugees along with many migrants from the Middle East trying to escape the political turmoil. It is not easy to define the reason for being a refugee. Currimbhoy in his letter to Faubian Bowers puts it this way; " yet there seems to be very little choice. A mistake committed at a particular point of time seems to have cumulative and one inevitably gets drawn into it." (Agrawal 42)

The conclusion of the paper leads to the point that no watertight distinction can be made for who is a refugee and who is not. They are

usually treated as masses so the expectation and attributes of individuals are often missing in the discussions about them. K. R. Srinivas Iyengar in his observation *The Plays of Asif Currimbhoy* has put it nicely. He says; "Refugees are masses of people, but they are also composed of individuals, and each of them is unique". (Iyengar 11). Currimbhoy is aware of this fallacy of history in dealing with refugees. A prominent reason behind the problems of refugees is the careless handling of the issue by "history". "It is because this primary human dimension is ignored that history is so replete with stupidities and brutalities"(11). The success of the play lies in the fact that Currimbhoy has treated the issue with pure objectivity and universality. Iyengar puts it this way; " Currimbhoy has been able to touch the situations, characters and actions with the balm of universality". (12).

Works Cited

1. Agrawal, K.A., *The Best Plays of Asif Currimbhoy A Critical Study*, New Delhi, Book Enclave, 2007.

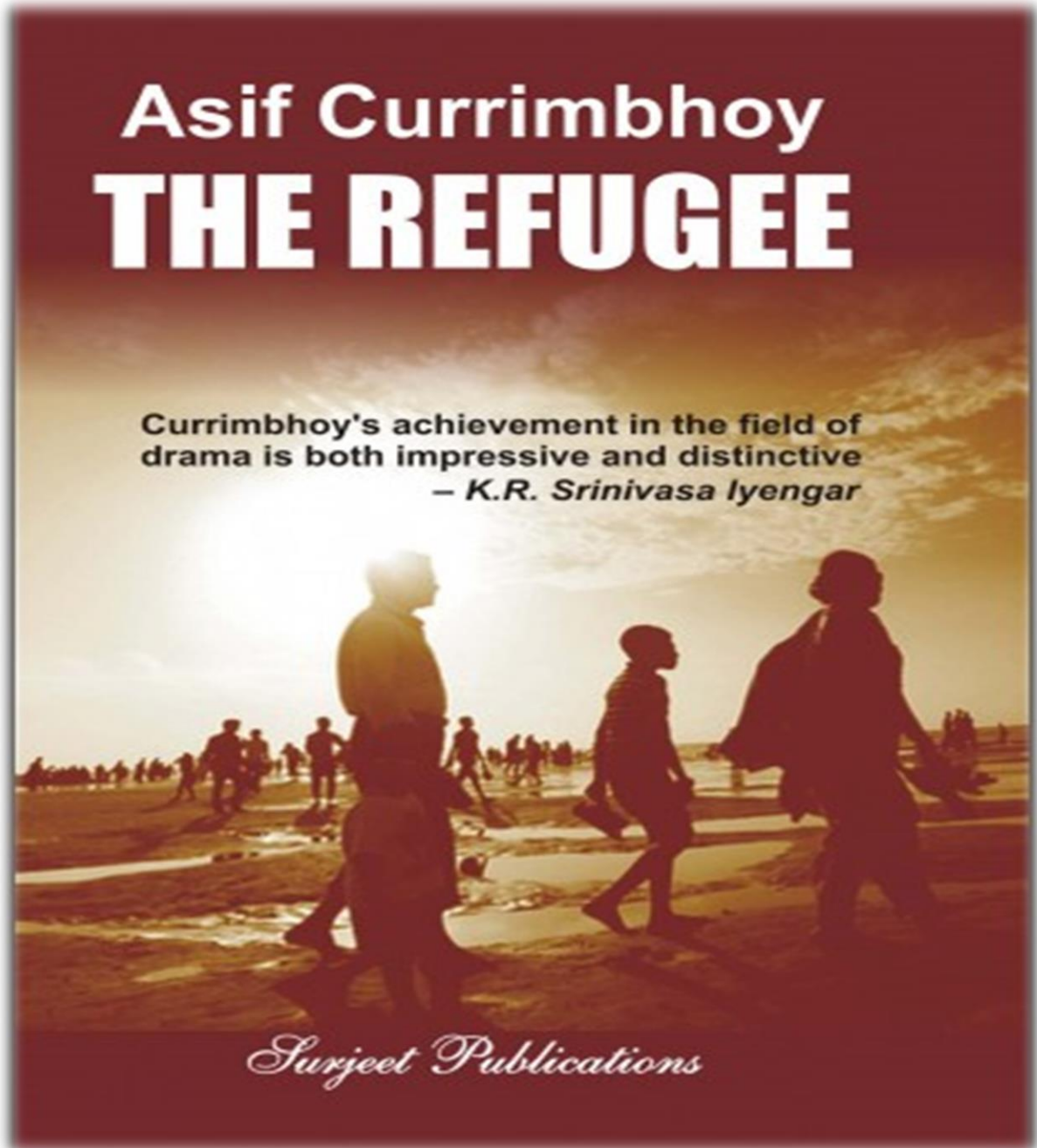
2. Bowers, Faubian: “Introduction”, Currimbhoy’s Play, New Delhi, Oxford and IBH Publishing Co.,1972.

3. Currimbhoy, Asif. *The Refugee*, Calcutta, Writers Workshop, 1971.

(Note: All the subsequent references have been taken from this edition of *The Refugee*.)

4. Iyengar, K.R. Srinivasa, *The Dramatic Art of Asif Currimbhoy in Appreciations of Asif Currimbhoy* Writers Workshop.

5. Nazareth, Peter: “*Asif Currimbhoy: Dramatist of The Public Event*”, *The Journal of Indian Writing in English*, Vol. 4, No. 2, July, 1976.



साम्प्रदायिकता का प्रश्न और राममनोहर लोहिया

अमानुल्लाह

शोधार्थी

इतिहास विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय

मोबाईल- 9648655283

इमले- Amanullah.history@gmail.com

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना
हिंदी हैं हम वतन हैं, हिंदुस्तान हमारा।¹

साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता शब्द की उत्पत्ति ‘संप्रदाय’ शब्द से हुई है। ‘ज्ञान शब्द कोष’ के अनुसार संप्रदाय शब्द की परिभाषा ‘विशेष धार्मिक मत अथवा किसी अत के अनुवायियों के एक समूह।’² संप्रदाय शब्द का अर्थ किसी भी प्रकार की धार्मिक और जातिगत कट्टरता के लिए नहीं करता। परन्तु संप्रदाय शब्द से बना शब्द साम्प्रदायिकता, एक धार्मिक और जातिगत कट्टरता की प्रेरणा जरूर देता है। ‘ज्ञान शब्द कोश’ में साम्प्रदायिकता का अर्थ ये है कि “केवल अपने संप्रदाय को ही विशेष

महत्व देना और अन्य संप्रदाय वालों से द्वेष करना।”³

Webster Dictionary में communalism (साम्प्रदायिकता) की परिभाषा यह है कि “A theory of system of government in which communes or local communities has virtual autonomy within a federal state”⁴

साम्प्रदायिकता को परिभाषित करके हुवे डॉ यशवंत विष्ट कहते हैं, “साम्प्रदायिकता कोई मूर्त रूप व स्थूल रूप नहीं है। यह एक भावना है जो बाद में मूर्त रूप व स्थूल रूप को जन्म देती है, मूल रूप से साम्प्रदायिकता में अपने संप्रदाय के विशुद्ध मौलिक सिद्धांत ही संग्रहित रहते हैं। कालांतर में शनैः शनैः अन्य दूषित भावनाओं के संशरण से उसमें संकुचित भावनाएं बढ़ती जाती हैं। फलतः; एक दिन वे पवित्र भावनाएं अत्यंत विशाल बन जाती हैं जिससे साम्प्रदायिकता शब्द बहुत कलंकित और क्लुषि बन जाता है।”⁵ यह परिभाषा यह बताता है कि समय के साथ साम्प्रदायिकता की परिभाषा किस तरह बदल जाती है।

भारत के एक प्रमुख इतिहासकार प्रो० रामशरण

¹ सारे जहाँ से अच्छा या तराना-ए-हिन्दी उर्दू भाषा में लिखी गई देशप्रेम की एक गज़ल है। जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ब्रिटिश राज के विरोध का प्रतीक बनी और जिसे आज भी देश-भक्ति के गीत के रूप में भारत में गाया जाता है। इसे अनौपचारिक रूप से भारत के राष्ट्रीय गीत का दर्जा प्राप्त है। इस गीत को प्रसिद्ध शायर मुहम्मद इक़बाल ने १९०५ में लिखा था और सबसे पहले सरकारी कालेज, लाहौर में पढ़कर सुनाया था। यह इक़बाल की रचना *बंग-ए-दारा* में शामिल है।

² ज्ञान शब्द कोष से साम्प्रदायिकता का जो उद्धरण प्रस्तुत किया गया है, उसका प्रकाशन १९८६ में हुआ और उस समय तक भारत में साम्प्रदायिकता एक मुख्य समस्या बन चुकी थी इसी कारण इस पुस्तक में साम्प्रदायिकता का धार्मिक कट्टरता से से प्रेरित होने का एहसास मिलता है।

मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, (संपादक), ज्ञान शब्दकोश , पृष्ठ , ७१८

³ मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, (संपादक), ज्ञान शब्दकोश , पृष्ठ , ७१८

⁴ Webster new World Dictionary, p. 152

⁵ यशवंत विष्ट, साम्प्रदायिकता: एक चुनौती और चेतना, पृष्ठ , ४७.

शर्मा ने अपने एक लेख “इतिहास और साम्प्रदायिकता” में लिखते हैं कि,

“संप्रदाय(किसी विशिष्ट समुदाय) और साम्प्रदायिकता की परिभाषा करना मुश्किल है, कोई समुदाय त्रिजातीयत, पेशे, क्षेत्रिय बनावट, जातिगत संबद्धताओं और धार्मिक संबद्धताओं के आधार पर बन सकता है। लेकिन, जब हम साम्प्रदायिकता की बात करते हैं तो हमारे दिमाग में धार्मिक समुदायों की ही बात आती है। भारत में साम्प्रदायिकता को खासकर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के संबंधों की प्रकृति की रौशनी में देखा जाता है।”⁶

इतिहासकार विपिन चन्द्र के अनुसार,

“साम्प्रदायिकता मूलतः एक विचारधारा है। इस विचारधारा के अभिन्न नतीजे हैं, सांप्रदायिक दंगे और सांप्रदायिक हिंसा।”⁷

साम्प्रदायिकता एक ऐसी भावना है जो धार्मिक और अधार्मिक दोनों प्रकार के मनुष्यों के चेतन व अवचेतन में विद्यमान रहती है और अनुकूल परिस्थितियों पा कर उभर पड़ती हैं तथा लोगो को धर्म के नाम पर एक दुसरे को मरने-मारने और उनकी भावनाओं को चोट पहुंचाने पर आमामदा कर देती हैं।

⁶ रामशरण शर्मा साम्प्रदायिकता: एक चुनौती और चेतना, ‘रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद’ (स०)

⁷ विपिन चन्द्र, “साम्प्रदायिकता पर हमला”, नया पथ, अक्टूबर-दिसम्बर, १९९२, पृष्ठ, १७

यह एक ऐसी भावना है जो समाज में जहर घोलती है और इस जहर का लाभ सबसे ज्यादा राजनीतिज्ञो को मिलता है। वर्तमान समय में साम्प्रदायिक भावना को भड़काने का काम अक्सर चुनाव के समय हो रहा है, प्रायः गाय के नाम पर या मंदिर-मस्जिद के नाम पर या अज्ञान के नाम पर सांप्रदायिक भावना को भड़का कर सांप्रदायिक दंगे कराया जाता है। सांप्रदायिक भावना को बढ़ने में समय लगता है परंतु दंगो को भड़काने में थोडा भी समय नहीं लगता है। वर्तमान समय में दंगो को भड़काने के लिए

एक छोटी से बात ही काफी होती है। जैसा की देखा गया है कि चोरी की एक घटना या किसी विशेष समुदाय की लड़की को छेड़ने आर भी दंगे हो जा रहे हैं। समाज संप्रदायिकता का जहर इतना घुल गया है कि कब एक भीड़, धर्म के नाम पर किसी विशेष धर्म समुदाय के किसी बूढ़े या बच्चे या गरीब इंसान को पिट

भारतीय राजनीतिज्ञ व कर्मठ कार्यकर्ता के रूप में राममनोहर लोहिया ने समाजवादी राजनीति और भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन भारतीय समाजवाद के विकास के माध्यम से अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिये समर्पित किया। साम्प्रदायिकता, हिंदी-उर्दू मामला, हिन्दू-मुस्लिम दंगे, आर्थिक बराबरी जैसे मद्दों पर लोहिया ने मरवा हो कर बोला है

पिट के मार डाले, कुछ नहीं पता। वर्तमान समय में समाज में अज्ञात भीड़ द्वारा धर्म के नाम पर मारने का प्रकरण बढ़ता जा रहा है। कवी शमशेर बहादुर कहते हैं कि,

जो धर्मों के अखाड़े हैं, उन्हें लडवा दिया जाये
जरूरत क्या कि हिन्दुस्तान पर हमला किया जाये।”⁸

साम्प्रदायिकता और दंगे के सम्बन्ध में नरेंद्र जैन ने अपनी एक कविता में कहा है कि,

⁸ शमशेर बहादुर सिंह, धार्मिक दंगो की राजनीति (संग्रह-सुकून की तलाश), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९८, पृष्ठ. ७१

‘रोजी रोटी का सवाल खड़ी करती है जनता
शासन कुछ देर सर खुजलाता है, एकाएक
सांप्रदायिक फसाद शुरू हो जाता है।
एक लम्बे अरसे के लिए स्थगित हो जाती है
जनता और उसकी मांगे
इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में शासन अपनी चरमराती
कुर्सी को
ठोक पीट कर पुनः ठीक कर ली है।’⁹

जिस प्रकार समाज में सांप्रदायिक भावना घर करती जा रही है, रामधारी सिंह दिनकर ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में लिखते हैं कि,

“साम्प्रदायिकता संक्रामक रोग है। जब एक जाति, भयानक रूप से सांप्रदायिक हो उठती है, तब दूसरी जरी भी अपने अस्तित्व का ध्यान करने लगती है और उसके भाव भी शुद्ध नहीं रह जाते।”¹⁰

यहाँ ये कहना उचित है कि साम्प्रदायिकता धर्म या जाति को ही अपना अथियार बनता है परन्तु इसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता, ये सिर्फ एक राजनीतिक हथियार होता है जिसका प्रयोग राजनीतिक और आर्थिक लाभ लेने के उद्देश्य से किया जाता है। अगर इसका सम्बन्ध धर्म या जाति से होता तो समाज का हर धार्मिक व्यक्ति सांप्रदायिक होता, परन्तु ऐसा नहीं है। प्रोफेसर नामवार सिंह कहते हैं कि “सांप्रदायिक वे होते हैं जिनमें धार्मिक आस्था नहीं होती।”¹¹

आज संपूर्ण देश एक चौराहे पर खड़ा है और

साम्प्रदायिकता के आग में जल रहा है। इस देश में अनेक जातियों एवं सम्प्रदायों का निवास है। परन्तु आज राष्ट्रीय एकता कमजोर पड़ती जा रही है। नागरिक चेतना विलुप्त होती जा रही है, वह भीड़ में खोती जा रही है। भीड़ और लोक के मध्य अंतर होता है। भीड़ हजारों लोगों का एक निरुद्देश्य समूह है जहाँ बुद्धि, विवेक एवं दिमाग का आभाव होता है। हजारों सर होते हैं किन्तु उनमें सोचने समझने की क्षमता नहीं होता है। आज देश में उपद्रव करने एवं उपद्रव कराने वालों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती चली जा रही है।

आजादी के पूर्व क्रांतिकारी देश को आजादी दिलाने हेतु और देश के लिए शहीद होने के लिए एक दुसरे से प्रतिस्पर्धा करते थे, परन्तु आज तथाकथित राजनेता, गरीबों, असहायों तथा बेबस जनता की लाशों पर पैर रख कर राजसत्ता प्राप्त करने हेतु परस्पर होड़ में लगे हैं।

आज देश में चहुँ ओर से बहुत सारी समस्याओं से घिरा हुआ है, जैसे- भुखमरी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, राहजनी, लूटमार, हिंसा, आदि। इन सब समस्याओं को समाप्त करने के लिए कोई भी राजनेता अपनी तरफ से पहल नहीं कर रहा है, बल्कि धर्म और जाति के नाम पर जनता और युवा पीढ़ी को आपस में लड़ा कर राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने में लगा हुआ है। जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया आदि नेताओं ने इसका पूर्वाग्रह की अनुमान बहुत पहले ही लगा लिया था। इसी कारण लोहिया जैसे समाजवादी नेताओं ने भारत में समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में साम्प्रदायिकता को समाप्त कर समता, सम्पन्नता तथा सहयोग की इच्छा व्यक्त की थी। राममनोहर लोहिया मानव धर्म पर विश्वास करते थे इसी कारण हिन्दू-मुस्लिम संप्रदाय के परस्पर बैर द्वेष को मिटाने के लिए हमेशा सक्रिय रहते थे। संप्रदाय निःसंदेह ही

⁹, नरेन्द्र जैन, एक कविता, नया पथ, अक्टूबर-दिसम्बर, १९९२ में संकलित, पृष्ठ, ६०

¹⁰ रामधारी सिंह दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 1956 पृष्ठ ११

¹¹, नामवर सिंह, साम्प्रदायिकता का सवाल, ‘रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद’ में संकलित, पृष्ठ-४२

साम्प्रदायिकता को जन्म देता है और अपने दूषित रूप में अन्य सम्प्रदायों की तुलना में विशेषाधिकार की इच्छा करने लगता है। जैसे जैसे ये इच्छा बढ़ती जाती है, समाज में द्वेष भावना बढ़ती जाती धर्म के वाह्य पहलु ने हमेशा ही दूषित भावना को जन्म दिया है, जिसने समाज में ईर्ष्या, द्वेष, कलह एवं वैमनस्य की स्थिति बना दी, ये ईर्ष्या और द्वेष ही साम्प्रदायिकता है।

देश में हिन्दू और मुस्लिम समुदाय अपने आचरणों तथा थोथी अहम् के लिए परस्पर एक दुसरे के लिए विरोधी बने हुवे हैं। इसके प्रदेता अंग्रेज थे। किन्तु देश की वर्तमान दूषित रजनीति भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं है। और जब तक देश से जड़ से साम्प्रदायिकता का अंत नहीं हो जाता समाजवाद का स्थापना देश में असंभव है। राममनोहर लोहिया के अनुसार देश से साम्प्रदायिकता के विष-बीज को निकल देने के लिए जहाँ इतिहास की उचित व्याख्या तथा धर्म के सही अर्थों का प्रतिपादन आवश्यक है। वही देश में विद्यमान तुच्छ राजनीति में सुधार, भाषा सम्बन्धी उदारनीति का प्रतिपादन तथा हृदय की ठोस कार्यप्रणाली को व्यवहार में लाना अतिआवश्यक है।

लोहिया¹² (१९१०-१९६७) का मानना था कि

¹² लोहिया भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी, प्रखर चिन्तक तथा समाजवादी राजनेता थे। जन्म २३ मार्च १९१० को उत्तर प्रदेश के अयोध्या जनपद में (वर्तमान-अम्बेडकर नगर जनपद) अकबरपुर नामक स्थान में हुआ; गांधी जी की पुकार पर १० वर्ष की आयु में स्कूल त्याग दिया; खिल बंग विद्यार्थी परिषद के सम्मेलन में सुभाषचंद्र बोस के न पहुंचने पर उन्होंने सम्मेलन की अध्यक्षता की। 1928 में कलकत्ता में कांग्रेस अधिवेशन में शामिल हुए। 1928 से अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन में सक्रिय हुए। साइमन कमिशन के बहिष्कार के लिए छात्रों के साथ आंदोलन किया। कलकत्ता में युवकों के सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू अध्यक्ष तथा सुभाषचंद्र बोस और लोहिया विषय निर्वाचन समिति के सदस्य चुने गए। लोहिया ने महायुद्ध के समय युद्धभर्ती का विरोध, देशी रियासतों में आंदोलन,

साम्प्रदायिकता समाप्त करने के लिए धर्मान्धता एवं धार्मिक कट्टरता का जड़ से अंत होना अतिआवश्यक है। इसी कारण लोहिया भारत-पाक महासंघ की स्थापना करने के पक्षधर थे। उनका विश्वास था कि महासंघ की स्थापना के बिना कश्मीर तथा अन्य समस्याओं के हल नहीं हो पायेगा। महासंघ के आभाव में देश में कोई न कोई समस्या अवश्य विद्यमान रहेगी। इसलिए महासंघ के स्थापना द्वारा ही प्रत्येक समस्याओं का हल किया जा सकता है। लोहिया के द्वारा कही गयी बात आज सच साबित हो गयी। भारत अज भी उन समस्याओं से घिरा हुआ है।

हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की समस्या भारतीय इतिहास की एक प्रमुख समस्या है, पिछले एक हजार साल के आपस की सम्बन्ध में अलगाव और मेल के उतर-चढ़ाव से हिंदू और मुसलमान दोनों ही पीड़ित रहे हैं। दोनों समुदायों के अन्दर भावात्मक एकता अब तक नहीं हो सकी। अंग्रेजी शासन स्थापित होने से पहल भारत में उस तरह के हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कभी नहीं देखने को मिले, जिस तरह के झगड़े अज के दौर में मिलते हैं। किसी एक राज्य का किसी दूसरी रियासत के साथ संघर्ष भी हुवा और कभी कभी यह भी देखने में आया कि एक राज्य का राजा हिन्दू था और दूसरी राज्य का मुसलमान। फिर भी ऐसा कभी नहीं हुवा की राजाओं के इन संघर्षों से हिन्दू-मुसलमान के बीच एक स्थायी तनाव बना हुवा हो या कभी भी साम्प्रदायिकता का रूप लिया हो। हिन्दू-मुसलमान साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर गंभीर चिंता व्यक्त करते हुवे लोहिया कहते हैं कि “आज हिन्दू और मुसलमान दोनों के दिमाग के अन्दर

ब्रिटिश माल जहाजों से माल उतारने व लादने वाले मजदूरों का संगठन तथा युद्धकर्ज को मंजूर तथा अदा न करने, जैसे चार सूत्रीय मुद्दों को लेकर युद्ध विरोधी प्रचार शुरू कर दिया। अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन में भी सक्रिय थे; गैर-कांग्रेसवाद के शिल्पिकार भी आने जाते हैं।

कम या ज्यादा कूड़ा भरा हुआ है। दिमाग में भी झाड़ू देनी पड़ती है।”¹³

हिन्दू और मुसलमान के बीच मन-मुटाव और झूठी धारणाओं का एक प्रमुख कारण इतिहास की गलत व्याख्या भी है। लोहिया की अनुसार- इतिहास के गलत लिखे जाने और उसे गलत समझे जाने के बहुत भयंकर ही परिणाम होते हैं। लोहिया ने तर्क दिया कि, “इतिहास है क्या? इतिहास है अतीत का बोध और अतीत का बोध भविष्य और वर्तमान का निर्माता। अगर गलत समझते हैं तो गलत ढंग से वर्तमान और भविष्य बनता है।”¹⁴ लोहिया के अनुसार कुछ इतिहासकारों ने इतिहास को इतने खराब ढंग से गढ़ा है कि हिन्दू और मुसलमान में द्वेष और घृणा का भाव भर गया है। इतिहास ने गजनी, गोरी और बाबर जैसे- हमलावरों की पंक्ति में रजिया, शेरशाह और जायसी जैसे देश रक्षकों को रख कर बड़ी भूल की है। इसी गलत इतिहास ने भारतीय मन पर हिन्दू बनाम मुसलमान की दुखद छाप डाली है।¹⁵

लोहिया के अनुसार, भारत में संप्रदायिक के बीज को पालने का श्रेय अंग्रेजों पर कम नहीं है। पृथक निर्वाचन, भेदात्मक और असमान नीति, सम्प्रदायिकपूर्ण झूठा आश्वासन आदि ऐसे अचूक अस्त्रों से अंग्रेजी शासन ने हिन्दू-मुसलमानों के संयुक्त जीवन को नष्ट और भ्रष्ट कर डाला। भारत विभाजन भी अंग्रेजों की आखिरी साजिश का ही परिणाम था।

लोहिया के अनुसार, साम्प्रदायिकता का एक मुख्य कारण बहुत कुछ देश की वर्तमान राजनीति भी है।

¹³ डॉ. राममनोहर लोहिया, भाषण, १९६३, अक्टूबर, ३, हैदराबाद.

¹⁴ लोहिया लोक सभा भाषण, २६ अप्रैल, १९६६

¹⁵ डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, १९७०.

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी मुसलमानों को हिन्दूओं के और हिन्दूओं को मुसलमानों के समीप लाने के लिए और उनके मन से अलगाववाद समाप्त करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। समाजवादियों की यह बहुत बड़ी भूल थी। इस अलगाववाद को दूर करने के लिए, भारतीय राजनेता साधारणतः सभाएँ नहीं करते और न ही सत्य-सिद्धान्तों के प्रचार कर साम्प्रदायिकता को समाप्त करना चाहते हैं, चुनावों के समय मत और समर्थन की आशा में उनको भाषण देना पड़ता है। किन्तु उन भाषणों में भी वे हिन्दू-मुसलमान की असंतुष्टि के भय को असत्य कहने से कतराते हैं। स्वयं लोहिया के शब्दों में

“हिंदुस्तान में जितनी भी पार्टियाँ हैं, वे हिन्दू-मुसलमान को बदलने की बात बिलकुल नहीं करती हैं। उनमें जो पुरातन कूड़ा पड़ा हुआ है, जो गलतफहमी है, जो भ्रम है, उन्हीं को तसल्ली दे-दिला कर वोट ले लेना चाहते हैं। ये हैं आज हमारे राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी खराबी कि हम लोग वोट के राज में, नेता लोग खास तौर से सच्ची बात कहने से घबडा जाते हैं। इसका नतीजा है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का मन खराब रह जाता है, बदल नहीं पाता।”¹⁶

जब तक इस घृणित सम्प्रदायिकता का अंत नहीं हो जाता समाज में समता, सम्पन्नता और सहयोग की स्थिति नहीं आ सकती। इसलिए समाज को साम्प्रदायिकता समाप्ति के प्रयास निरंतर और निष्ठा के साथ करनी चाहिए।

साम्प्रदायिकता को जड़ से खतम करने के

¹⁶ डॉ लोहिया, हिन्दू और मुसलमान, नव हिन्द प्रकाशन, बहुम बाजार, हैदराबाद, दिसम्बर, १९६३, पृष्ठ, ८

लिए, इस दिशा लोहिया ने मुख्यतः पांच प्रकार के सुधार करने को कहा है, – 1) हृदय परिवर्तन, 2) इतिहास की सही व्याख्या, 3) धार्मिक और सामाजिक प्रयास, 4) राजनीति में सुधार, 5) भाषा सम्बन्धी उदारनीति

साम्प्रदायिकता की समाप्ति हेतु हृदय परिवर्तन का प्रयास बहुत महत्व का होता है। सन १९४६ में बहुत वीभत्स साम्प्रदायिकता दंगे हुवे, उस समय महात्मा गाँधी, नेहरु, आचार्य कृपलानी, लोहिया आदि ने हृदये परिवर्तन के बहुत प्रयास किये | हिन्दू-मुस्लिम एकता और साम्प्रदायिकता का अंत ही लोहिया का उस समय का प्रमुख कार्यक्रम बना। कलकत्ता में लोहिया ने गणफौज नामक एक स्वयं सेवक संग्रहण भी बनाया था | काशीपुर में एक राहत केंद्र भी खोला।¹⁷ यद्यपि उन्हें उस भीषण मारकाट की स्थिति में केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई, परन्तु इस सच से मुख नहीं मोड़ा जा सकता कि सामान्य स्थिति में साम्प्रदायिकता के दमन के लिए हृदय परिवर्तन बहुत ही प्रभावशाली कारक हैं। जैसा की लोहिया ने कहा कि हिंदुस्तान के मुसलमानों को सच्चे दिल से देशभक्त बनाना है “और उन्हें भक्त बनाने के लिए मन बदलना होगा, दोनों का, हिन्दू का भी और मुसलमान का।”¹⁸

लोहिया का मानना था कि, हिन्दू और मुसलमान, दोनों के मन को बदलने और उनमें एकता का भाव लाने के लिए इतिहास का सही ढंग से लिखा, व्याख्या और समझा जाना अतिआवश्यक है | उन्होंने इतिहास का सूक्ष्म अवलोकन करके और विवेचना करके यह स्पष्ट किया है कि इतिहास हिन्दू-मुसलमान

एकता से परिपूर्ण है | उसमें कहीं कोई साम्प्रदायिकता नहीं है। इसलिए हम इतिहास पर सही दृष्टि रख कर ही हम इस सत्य को समझ सकते हैं कि पिछले ७००-८०० वर्ष के युद्धों में मुसलमान ने हिन्दू को नहीं, अपितु विदेशी मुसलमान ने देशी मुसलमान को भी मौत के घाट उतारा है। उन्होंने यह सिद्ध किया कि ये युद्ध हिन्दू और मुसलमान के बीच नहीं अपितु देशी और विदेशी के बीच हुवे। तैमुर लुंग आता है और ५००००० आदमियों का क्रत्ल करता है तो उनमें से तीन लाख मुगल मुसलमान था। यह चीज अगर मुसलमानों के घर घर में पहुँच जाये की कभी मुगल मुसलमान ने पठान मुसलमान का क्रत्ल किया और कभी अफ्रीकी मुसलमान ने मुगल मुसलमान को मारा तो पिछले ७०० वर्ष का वाक्या लोगो के समझ अच्छी तरह से आने लग जायेगा कि यह हिन्दू-मुसलमान का मामला नहीं है, यह तो देशी पर विदेशी का है।”¹⁹

लोहिया के अनुसार,

“अखंड भारत के लिए सबसे अधिक व उच्च स्तर में नारा लगाने वाले, वर्तमान जनसंघ और उसके पूर्व पक्षपाती जो हिन्दुवाद की भावना के अहिंदू तत्व के थे, उन्होंने ब्रिटिश और मुस्लिम लीग की देश के विभाजन में सहायता की, ।।।।।।उनके कामों के नतीजे को देखा जाये तो स्पष्ट हो जायेगा। एक राष्ट्र के अंतर्गत मुसलमानों को हिन्दुओं के नजदीक लाने के सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं किया | उसने एक दुसरे से पृथक रखने के लिए लगभग सब कुछ किया। ऐसी पृथकता ही विभाजन का मूल-कारण है।”²⁰

¹⁷ ओंकार शरद, लोहिया (जीवनी), राज रंजना प्रकाशन, १९६७, पृष्ठ १८७.

¹⁸ राममनोहर लोहिया, वशिष्ठ और वाल्मीकि, समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद, १९५८, पृष्ठ, ९

¹⁹ राममनोहर लोहिया, हिन्दू और मुसलमान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७९, पृष्ठ २.

²⁰ डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी,

लोहिया ने इतिहास से व्याप्त सांप्रदायिक भावना को दूर करने के लिए इतिहास के अध्ययन और लेखन की पद्धति की विशेष आवश्यकता समझी। उन्हीं के शब्दों में, “सेल्यूकस विदेशी, और कनिष्क देशी, गजनी विदेशी और शेरशाह देशी, हुण विदेशी और राणा सांगा देशी, बाबर विदेशी और बहादुरशाह देशी, इस तरह से हिंदुस्तान के इतिहास को पढना होगा।”²¹

हिन्दू-मुस्लिम दोनों को राजनीतिक और सामाजिक सत्यता से परिचितकराने के लिए लोहिया चाहते थे कि, “हर एक बच्चे को सिखाया जाये, हर एक स्कूल में घर घर में, क्या हिन्दू क्या मुसलमान बच्ची-बच्चे को कि रजिया, शेरशाह, जायसी वगैरह हम सबके पुरखे हैं, हिन्दू मुसलमान दोनों के, लेकिन उसके साथ साथ मैं चाहता हूँ कि हम में से हर एक आदमी, क्या हिन्दू क्या मुसलमान, यह कहना सीख जाये कि गजनी, गोरी और बाबर लुटेरे थे और हमलावर थे।”²²

लोहिया का मानना था कि हिन्दू और मुसलमान में सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाने एवं साम्प्रदायिकता समाप्त करने के लिए धर्मान्धता और धार्मिक कट्टरता का भी अंत करना अतिआवश्यक है। “यही आदमी के दिल और दिमाग को कड़वा बनाते हैं।”²³ प्रयास इस बात का भी करना चाहिए कि दुसरे के धर्म के प्रति आदर और सुझबुझ पैदा हो, इसके लिए

लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, १९७०., पृष्ठ, ८

²¹ राममनोहर लोहिया, वशिष्ठ और वाल्मीकि, समाजवादी प्रकाशन, हैदराबाद, १९५८, पृष्ठ, ६

²² डॉ. राममनोहर लोहिया, हिन्दू और मुसलमान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७९, पृष्ठ ३
राममनोहर लोहिया, आज़ाद हिंदुस्तान में नए रुझान, प्रकाशन, बेगम बार, हैदराबाद, १९६८, पृष्ठ, 5

²³ डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, १९७०., भूमिका

लोहिया का विचार है कि “इन्हें पैदा करने के लिए धर्मों का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन बेहरीन तरीका है।”²⁴ हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक दुसरे की धार्मिक भावनाओं का आदर करना चाहिए। जैसा कि लोहिया कहते हैं कि,

“हिन्दू चाहे जितना उदार हो जाये, लेकिन राम-कृष्ण को मुहम्मद से कुछ थोड़ा अच्छा ही समझेगा ही, और मुसलमान चाहे जितना उदार हो जाये, अपने मुहम्मद को राम और कृष्ण से कुछ अधिक आदर देगा। परन्तु १९-२० से ज्यादा का फर्क न रहे तो दोनों का मन ठीक हो सकता है।”²⁵

लोहिया के अनुसार, धार्मिक और जातिगत भेद प्रकट करने वाले उपरी चिन्ह जैसे मुसलमानों की दाढ़ी और हिन्दुओं की चोटी-जनेऊ समाप्त होना चाहिए। इस पर लोहिया लिखते हैं कि, “अक्सर मेंसे हिन्दू चोटी और मुस्लिम दाढ़ी हटाने तथा धार्मिक प्रतिक वाले कपड़ों, नाम और रहन सहन से दूर हटने की बात कही है, क्यों कि इसे मैं समीपता लाने का प्रथम प्रयास मानता रहा हूँ। प्रथम प्रयास के रूप में भी यह काम लगभग असंभव है, जब तक मानसिक बदलाव का भी प्रयत्न न किया जाये।”²⁶

लोहिया ने अन्तर्जातीय और अंतर धार्मिक विवाहों को भी राज्य और समाज की ओर से प्रोत्साहन

²⁴ वही

²⁵ राममनोहर लोहिया, हिन्दू और मुसलमान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७९, पृष्ठ, 1

²⁶ डॉ. राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, १९७०., पृष्ठ, १४

दिए जाने पर बल दिया है। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि “जब टाक देश में होने वाले सौ में एक विवाह हिन्दू और मुसलमान के बीच न होगा, तब तक यह समस्या पूरी और पर नहीं सुलझेगी।”²⁷ उनका विचार था कि देश के सभी नागरिकों के लिए एक ही सिविल कानून होना चाहिए तथा भारत में मुसलमान अपने को उतना ही सुरक्षित अनुभव करे जितना कोई हिन्दू करता है। समाज में धर्म के आधार आर कोई भी या किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं होना चाहिए।

साम्प्रदायिकता का जड़ से उन्मूलन करने के लिए लोहिया आधुनिक राजनीति में भी परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने जीवन के प्रत्येक पहलु में हिन्दू बनाम मुसलमान के स्थान पर हिन्दू और मुसलमान के सिद्धांत स्थापित करने का प्रयास किया। वे राजनीति को हिन्दू बनाम मुसलमान के परिवेश में देखना सबसे अधिक हानिकारक मानते थे। इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट विचार था कि “साफ़ सी बात है कि मुसलमान जैसी चीज़ नहीं रहनी चाहिये, राजनीति में, टूट जानी चाहिए। जैसे हिन्दू टूटते हैं, अलग अलग पार्टियों में, वैसे मुसलमानों को भी टूटना चाहिए।”²⁸ साम्प्रदायिकता के समाप्ति के लिये लोहिया चाहते थे कि मुसलमानों के भाषा के भय को भी दूर किया जाये। हिंदी के नाम से मुसलमानों को संदेह हो सकता है कि शायद उनको भाषा उर्दू को नकारा जा रहा है। इसके लिए उन्होंने स्पष्ट कहा कि “उर्दू जबान हिंदुस्तान की जबान है और उसका वही रुतबा होना चाहिए जो हिंदुस्तान की किसी जबान का।”²⁹ लोहिया

²⁷ राममनोहर लोहिया, भारत विभाजन के अपराधी, लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, १९७०. पृष्ठ ८८

²⁸ राममनोहर लोहिया, भाषण सन, १९६३, अक्टूबर, ३, हैदराबाद

²⁹ डॉ राममनोहर लोहिया, भाषा, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९६६. पृष्ठ, ६

का कहना था कि यदि फिर से देश एक हुवा तो उसकी एक भाषा होगी जो कि “पाली और संस्कृत की औलाद है, लेकिन वह अपभ्रंश वाली, जो टूट-टाट गयी। अपभ्रंश में तो फारसी के भी शब्द आ जाते हैं, अरबी के भी आ जाते हैं।”

अपने लेखों में और भाषणों में, लोहिया ने यदि एक ओर साम्प्रदायिकता समाप्ति की चर्चा की तो दूसरी ओर हिन्द-पाक एकता का प्रश्न भी उठाया। जीवनपर्यंत, लोहिया भारत विभाजन के वे सशक्त विरोधी रहे। वे भारत-विभाजन को जीवन पर्यंत नकली मानते रहे। इस पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि “इन दोनों राज्यों में इतने अधिक तादाद में हिन्दू और मुसलमान बसे हुवे हैं कि भारत-पाक रिश्ते को विदेश नीति के स्तर पर सुलझाना बिल्कुल असंभव है। यह कहना कि पाकिस्तान में जो कुछ भी घटे, पाकिस्तान का अंदरूनी मामला है और भारत को इस मामले में कोई दखलंदाजी नहीं करनी है और यही बात उतनी ही भारत के साथ लागू है, इन दो भूखंडों में स्थित जन-समूह के सम्बन्धी को नकारना होगा। भारत में स्थित अल्पसंख्यकों के प्रति अगर बुरा व्यवहार होता हो तो पाकिस्तान का वह उतना ही मामला बन जाता है जितना पाकिस्तान में स्थित अल्पसंख्यकों के प्रति बुरा व्यवहार भारत का।”³⁰ लोहिया के इस कथन की सार्थकता पूर्व पाकिस्तान (अब बांग्लादेश, १९७१ में बना) से आये शरणार्थियों के माध्यम से सिद्ध हो गयी।

लोहिया ने उपयुक्त कारणों से ही हिन्द-पाक महासंघ की कल्पना की थी। उनके अनुसार में महासंघ की स्थापना के बिना कश्मीर अथवा अन्य समस्याओं का हल संभव नहीं होगा। महासंघ की अनुपस्थिति में

³⁰ डॉ राममनोहर लोहिया, फॉरेन पालिसी, विश्वविद्यालय प्रेस, इलाहाबाद, १९५२, पृष्ठ, १०७-१०८

कोई न कोई समस्या सदैव रहेगी। इसलिए महासंघ की स्थापना द्वारा ही प्रत्येक समस्या का हल संभव है और इसकी स्थापना बेहिचक किया जाना चाहिए।³¹

लोहिया ने महासंघ की रूपरेखा भी तैयार कर ली थी। इस योजना के अनुसार “महासंघ की पांच इकाईयां होंगी। महासंघ में निवास करने वाले नागरिकों की नागरिकता एक ही होगी। उसकी विदेश निति भी एक होगी। यातायात और सैनिक निति पर भी किसी सीमा तक महासंघ का अधिकार होगा।”³² हिन्दू और मुसलमान दोनों एक जरूर या तो राष्ट्रपति बनेगा या प्रधानमंत्री, यद्यपि सदैव के लिए ऐसा संविधान में लिखा जाना आवश्यक नहीं है।³³ राम मनोहर लोहिया खुद लिखते हैं, “मेरा बस चले तो मैं कश्मीर का मामला बिना इस महासंघ के हल नहीं करूंगा। उनका कहना था कि हिंदुस्तान पाकिस्तान का महासंघ बनना चाहिए जिसमें कश्मीर चाहे किसी के साथ हो या फिर अलग इकाई बने, लेकिन महासंघ में आए।”³⁴

महासंघ के निर्माण के कुछ साधन भी लोहिया ने सुझाये थे। उनके मत में दोनो देशों की सरकारें इसमें बाधा उत्पन्न करती हैं। इसलिए दोनों देशों की जनता को अलग अलग सरकारें उलटनी चाहिए। दोनों देशों की सरकारों को यूरोप और अमेरिका की महाशक्तियों से समझौता और सहायता लेना भी बंद करना चाहिए क्योंकि ये शक्तियां ही दोनों देशों को लड़ने के लिए प्रोत्साहित करती हैं।³⁵ इसके हेतु हिन्दू-मुसलमान को

³¹ राममनोहर लोहिया, भारत, चीन और उत्तरी सीमाएं, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद, १९६३, पृष्ठ, ३२४

³² वही.

³³ राममनोहर लोहिया, आजाद हिंदुस्तान में नए रुझान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९६८, पृष्ठ ९

³⁴ <https://www.bbc.com/hindi/india-49255511>

³⁵ डॉ राममनोहर लोहिया, समाजवादी चिंतन, नव हिन्द,

आत्मत्याग के लिए तत्पर रहना चाहिए लोहिया द्वारा बताये गए उपयुक्त साधन तो उचित है किन्तु इन साधनों को भी जब तक ठोस रूप से साधा न जाये तब तक महासंघ एक कल्पना रहेगा। उन्हें स्वयं भी कभी कभी इस कल्पना की सार्थकता पर संदेह होता था, तभी तो वे कहने लगते थे की कम से कम महासंघ निर्माण पर बहस तो चले, महासंघ अस्थायी होगा या कुछ समय में एक संघ बन जायेगा अथवा समाप्त हो जायेगा।³⁶



प्रकाशन हैदराबाद, १९५६, पृष्ठ ९१

³⁶ डॉ राममनोहर लोहिया, देश-विदेश नीति: कुछ पहलु, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद, १९७०, पृष्ठ. १३

संदर्भ सूची

1. लोहिया, डॉ राममनोहर (१९७०), देश-विदेश नीति: कुछ पहलु, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद,
2. लोहिया, राममनोहर (१९६८), आजाद हिंदुस्तान में नए रुझान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद,
3. लोहिया, डॉ राममनोहर (१९५२), फॉरेन पालिसी, विश्वविद्यालय प्रेस, इलाहाबाद ,
4. डॉ लोहिया, राममनोहर (१९६६) भाषा, नव हिन्द प्रकाशन, हैदराबाद,
5. सिंह, अभिषेक रंजन (मार्च, २०२०) “डॉ। राममनोहर लोहिया और सांप्रदायिक सद्भाव: दो दुर्लभ भाषणों के अंश”, 23rd media Vigil (<https://wwwmediavigil.com/op-ed/two-rare-speeches-of-dr-rammanohar-lohia-on-communal-harmony/>) (accessed on 5 march, 2021)
6. लोहिया, राममनोहर (१९७०), भारत विभाजन के अपराधी, लोहिया समता विद्यालय, न्यास प्रकाशन विभाग, हैदराबाद,
7. लोहिया, राममनोहर (१९७९), हिन्दू और मुसलमान, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, हैदराबाद,
8. लोहिया, राममनोहर (१९५८), वशिष्ठ और वाल्मीकि, समाजवादी प्रकाशन , हैदराबाद,
9. शरद, ओंकार (१९६७), रामनोहर लोहिया (जीवनी), राज रंजना प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. सिंह, नामवर, साम्प्रदायिकता का सवाल, ‘रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद’ में संकलित।
11. दिनकर, रामधारी सिंह (१९५६), संस्कृति के चार अध्याय , साहित्य अकादमी, नई दिल्ली,
12. सिंह, शमशेर बहादुर (१९९८), धार्मिक दंगों की राजनीति (संग्रह-सुकून की तलाश), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,
13. श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल (संपादक), ज्ञान शब्दकोश,



ब्रिक्स शिखर सम्मेलन और आतंकवाद विरोधी दृष्टिकोण का अध्ययन

राम सुन्दर कुमार

पी-एच.डी. जनसंचार विभाग,

म.गां.अं.हि.वि.वि., वर्धा (महाराष्ट्र)

ईमेल: ramsundermgahv@gmail.com

ब्रिक्स विश्व की पांच उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं वाले देश ब्राजील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ्रीका का एक समूह है। वर्ष 2008-09 के वैश्विक वित्तीय संकट (जीएफसी) के दौरान बने इस संगठन का मुख्य उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय आर्थिक और वित्तीय मामलों पर सहयोग, नीति समन्वयन और राजनीतिक संवाद को बढ़ावा देना है। लेकिन अपनी स्थापना के बाद से ब्रिक्स ने अपनी गतिविधियों का, विशेष रूप से ब्रिक्स की नियमित बैठकें आयोजित करने, अंतरराष्ट्रीय संगठन में समन्वयक की भूमिका निभाने और अपने सदस्यों के बीच बहु-क्षेत्रीय सहयोग के लिए एजेंडा के निर्माण की दृष्टि से विस्तार किया है। ब्रिक् (BRIC-(S)) को ‘न्यूयॉर्क में सितम्बर 2006 में संयुक्त राष्ट्र महासभा के अवसर पर ब्राजील, रूस, भारत और चीन के विदेश मंत्रियों की प्रथम बैठक के दौरान

औपचारिक रूप प्रदान किया गया था। ‘ब्रिक’ के प्रथम शिखर सम्मेलन का आयोजन रूस के येकातेरिनबर्ग शहर में 16 जून 2009 को किया गया। तीसरे शिखर सम्मेलन (2011) के दौरान दक्षिण अफ्रीका के शामिल हो जाने से ब्रिक्स (BRICS) का निर्माण हुआ और हर

साल वैश्विक महत्व के विभिन्न मुद्दों पर चर्चा के लिए ब्रिक्स की बैठक होती रही है। इसमें भारत शुरुआत से ही संस्थापक सदस्य के तौर पर रहा है और इसे विकास पर केन्द्रित मंच माना है।

ब्रिक्स की शुरुआत मूलतः सदस्य राष्ट्र के आपसी हितों के आर्थिक मुद्दों पर चर्चा के लिए एक मंच के रूप

में हुई थी। लेकिन समयानुसार महत्वपूर्ण वैश्विक मुद्दों को ब्रिक्स में शामिल करके इसका विस्तार किया गया है।

ब्रिक्स के अंतर्गत वित्त, व्यापार, सुरक्षा, स्वास्थ्य, विज्ञान और टेक्नोलॉजी, शिक्षा, कृषि, संचार, श्रम, आदि से जुड़े मंत्रियों की समय-समय पर बैठक आयोजित की जाती है तथा इससे संबंधित वरिष्ठ अधिकारियों की बैठकों के माध्यम से पारस्परिक सहयोग स्थापित किया जाता है। लेकिन इसके बावजूद व्यापार, शिक्षा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी, स्वास्थ्य,

और रक्षा जैसे मुद्दों पर एक विस्तृत श्रृंखला बनाने के लिए ब्रिक्स का अन्य विकासशील देशों के साथ सहयोग का विस्तार हुआ है।

भारत की अध्यक्षता में आयोजित वर्ष 2021 के 13वें

शिखर सम्मेलन में आतंकवाद के विषय में यह माना गया है कि आतंकवाद एक अंतरराष्ट्रीय परिघटना है, जो यूरोप, अफ्रीका, एशिया और विश्व के अन्य हिस्सों को प्रभावित कर रही है। अफगानिस्तान के मामले में दुखद घटनाओं की कड़ी ने इस व्यापक विषय पर तीव्रता से ध्यान केंद्रित करने में मदद की है और महज बयानबाजी एवं वास्तविक कार्रवाई के बीच की खाई को पाटने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस संदर्भ में, ब्रिक्स आतंकवाद-रोधी कार्ययोजना (जिसमें कट्टरपंथीकरण, आतंकवादी वित्तपोषण और आतंकी समूहों द्वारा इंटरनेट के दुरुपयोग से मुकाबले के लिये विशिष्ट उपायों पर विचार किया गया है) के निर्माण के साथ अपनी आतंकवाद-रोधी रणनीति को व्यावहारिक आकार देने का प्रयास कर रहा है। अपेक्षा है कि यह योजना आगामी शिखर सम्मेलन की एक प्रमुख उपलब्धि होगी और वस्तुस्थिति में कुछ परिवर्तन ला सकती है।

वर्ष 2014 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2014 में फोर्टालेजा (ब्राजील) में आयोजित ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के दौरान सदस्य देशों ने घोषणा की कि "हम आतंकवाद के सभी रूपों और अभिव्यक्तियों में इसकी निंदा को दोहराते हैं, चाहे वह कहीं भी हो।" इस संबंध में जल्द से जल्द संयुक्त राष्ट्र में बातचीत पूरी करने और इसे अपनाने के लिए मिलकर काम करने का वादा किया।

सदस्य राज्यों ने, एक वैश्वीकृत समाज में, आतंकवादियों और उनके समर्थकों द्वारा, सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों (आईसीटी), विशेष रूप से इंटरनेट और अन्य मीडिया के बढ़ते उपयोग पर अपनी चिंता व्यक्त की और दोहराया कि ऐसी प्रौद्योगिकियां आतंकवाद के

प्रसार के प्रतिरोध में शक्तिशाली उपकरण हो सकती हैं। शिखर सम्मेलन की घोषणा में सभी राज्यों से आतंकवादी गतिविधियों के वित्तपोषण, प्रोत्साहन, प्रशिक्षण या अन्य समर्थन प्रदान करने से बचने के लिए कदम उठाने का आह्वान किया गया। आतंकवाद से मुक्त एक शांतिपूर्ण अफगानिस्तान के लिए उनके समर्थन को रेखांकित किया। राज्यों ने सीरिया में आतंकवाद के बढ़ने पर अपनी चिंता व्यक्त की।

वर्ष 2015 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2015 में उफा (रूस) में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के दौरान सदस्य देशों ने आतंकवाद पर अपने दृष्टिकोण को दोहराते हुए घोषणा में आगे कहा गया है कि "आतंक के कृत्यों को किसी भी रूप में उचित नहीं ठहराया जा सकता। हम आतंकवाद के सभी रूपों और अभिव्यक्तियों में इसकी कड़ी निंदा को दोहराते हैं और कहते हैं कि आतंकवाद के किसी भी कार्य के लिए कोई औचित्य नहीं हो सकता है, चाहे वह वैचारिक, धार्मिक, राजनीतिक, नस्लीय, जातीय, या किसी अन्य औचित्य पर आधारित हो।"

घोषणापत्र में सूचना के संचार और इसके साधनों के उपयोग पर चिंता व्यक्त की गई, जो कि संगठित अंतरराष्ट्रीय अपराधों और आतंकवाद के कार्य करने के लिए, आपत्तिजनक औजारों को विकसित करते हैं। सदस्य राज्यों ने अंतरराष्ट्रीय मानकों पर धन शोधन, आतंकवाद और प्रसार के वित्तपोषण के लिए धन शोधन का मुकाबला करने में वित्तीय कार्रवाई कार्य बल (एफएटीएफ) के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को संकेतित किया। वे धन शोधन के विरोध और एफएटीएफ के भीतर आतंकवाद के वित्तपोषण का मुकाबला करने के लिए ब्रिक्स परिषद की स्थापना की दिशा में आगे बढ़े।

अफगानिस्तान में आतंकवाद और उग्रवाद के खिलाफ लड़ाई में किए गए प्रयासों के लिए अपना समर्थन व्यक्त किया। राज्यों ने सीरिया में जारी हिंसा, बिगड़ती मानवीय स्थिति और क्षेत्र में आतंकवाद और चरमपंथ के बढ़ते खतरे के बारे में गहरी चिंता व्यक्त की। आईएसआईएल और अल नुसराह और अन्य समूहों जैसे आतंकी संगठनों की वृद्धि की निंदा की।

वर्ष 2016 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2016 में गोवा (भारत) में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के दौरान सदस्य देशों ने अपनी नवीनतम घोषणा में भी अपने इसी रुख को जारी रखा है, जो सभी रूपों में आतंकवाद की निंदा करता है। इसमें कहा गया है कि "हम आतंकवाद के सभी रूपों और अभिव्यक्तियों की कड़ी निंदा करते हैं और इस बात पर जोर दिया है कि आतंकवाद के किसी भी कार्य के लिए कोई औचित्य नहीं हो सकता है, चाहे वह वैचारिक, धार्मिक, राजनीतिक, नस्लीय, जातीय या किसी अन्य कारण से किया गया हो।"

ब्रिक्स सोशल मीडिया के माध्यम से आतंकी समूह की पहुँच का मुकाबला करने के लिए मिलकर काम कर रहे हैं। सदस्य देश रासायनिक और जैविक आतंकवाद के कृत्यों के दमन के लिए एक अंतरराष्ट्रीय समझौते में बहुपक्षीय वार्ता शुरू करने की आवश्यकता के बारे में बात करते हैं। सदस्य देशों ने धन शोधन, ड्रग व्यापार आदि के माध्यम से आतंक के वित्तपोषण को रोकने के लिए सभी आवश्यक कदम उठाने पर सहमति व्यक्त की।

आतंकवाद-प्रतिरोध पर ब्रिक्स के संयुक्त कार्य समूह ब्रिक्स 2016 के गोवा शिखर सम्मेलन में कार्य समूह की स्थापना की गई है। राष्ट्रों ने आतंकवाद और नशीली

दवाओं की तस्करी से मुक्त राष्ट्रीय सुलह और आतंकवाद का मुकाबला करने वाली अफगान के नेतृत्व और अफगान के स्वामित्व वाली सरकार के प्रयासों को अपना समर्थन दिया और यह स्वीकार किया कि अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद, विशेष रूप से इराक और इस्लामिक राज्य इस्लामिक स्टेट (आईएसआईएल, जिसे दायेश के रूप में भी जाना जाता है) और संबद्ध आतंकवादी समूह तथा व्यक्ति अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए एक वैश्विक और अभूतपूर्व खतरा है।

वर्ष 2017 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2017 में शियामेन (चीन) में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के दौरान दुनिया में हो रहे गहन परिवर्तनों और अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा सामना की जा रही वैश्विक सुरक्षा चुनौतियों और खतरों के संज्ञान में कहा गया है कि हम अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा से संबंधित मुद्दों को अंतरराष्ट्रीय मंचों पर संचार और सहयोग बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। हम विश्व शांति और सुरक्षा की रक्षा करने और अंतरराष्ट्रीय कानून के बुनियादी मानदंडों को बनाए रखने और संप्रभु समानता और अन्य देशों के आंतरिक मामलों में गैर-हस्तक्षेप सहित संयुक्त राष्ट्र चार्टर के उद्देश्यों और सिद्धांतों को बनाए रखने के लिए अपनी प्रतिबद्धता दोहराते हैं।

हम आतंकवादी हमलों की कड़ी निंदा करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप निर्दोष अफगान नागरिकों की मौत हुई है। हिंसा को तत्काल समाप्त करने की आवश्यकता है। हम अफगानिस्तान के लोगों के लिए शांति और राष्ट्रीय सुलह हासिल करने के प्रयासों में, अफगानिस्तान पर परामर्श के मास्को प्रारूप और "हार्ट ऑफ एशिया-इस्तांबुल प्रक्रिया" सहित चल रहे अंतरराष्ट्रीय प्रयासों के लिए अपने समर्थन की पुष्टि करते हैं। साथ ही साथ

शांति और स्थिरता को बढ़ावा देने के लिए मल्टीमॉडल कनेक्टिविटी प्रोजेक्ट, आतंकवाद और नशीली दवाओं के खतरे के खिलाफ लड़ाई और अफगानिस्तान द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के प्रयासों के लिए समर्थन करते हैं। हम आतंकवादी संगठनों से लड़ने में अफगान राष्ट्रीय रक्षा और सुरक्षा बलों के प्रयासों का समर्थन करते हैं।

वर्ष 2018 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2018 में जोहान्सबर्ग (दक्षिण अफ्रीका) में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के संयुक्त वक्तव्य में कहा गया है कि ‘हम राजनीतिक और राजनयिक माध्यमों से विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए सामूहिक प्रयासों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की पुष्टि करते हैं और अंतरराष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए प्राथमिक जिम्मेदारी के रूप में संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की भूमिका को पहचानते हैं।

हम अफगान में राष्ट्रीय शांति और सुलह प्रक्रिया के लिए अपने समर्थन की पुष्टि करते हैं। हम अफगानिस्तान में बिगड़ती स्थिति पर अपनी चिंता व्यक्त करते हैं, विशेष रूप से अफगानिस्तान में आतंकवादी-संबंधी हमलों की संख्या और तीव्रता में वृद्धि को लेकर। हम शांति की प्राप्ति की दिशा में काम करने के उद्देश्य से अफगान सरकार और नागरिकों की सहायता करने के लिए अंतरराष्ट्रीय समुदाय का आह्वान करते हैं। हम अक्टूबर में होने वाले संसदीय चुनावों का भी स्वागत करते हैं।

डरबन में आयोजित सुरक्षा के लिए ब्रिक्स उच्च प्रतिनिधियों की 8वीं बैठक का स्वागत करते हैं, और वैश्विक सुरक्षा वातावरण, आतंकवाद का मुकाबला, आईसीटी के उपयोग में सुरक्षा, प्रमुख अंतरराष्ट्रीय और

ब्रिक्स वार्ता को समृद्ध बनाने के लिए उनकी सराहना करते हैं। क्षेत्रीय हॉटस्पॉट, अंतरराष्ट्रीय संगठित अपराध, शांति स्थापना, साथ ही साथ राष्ट्रीय सुरक्षा और विकास के मुद्दों के बीच संबंध की सराहना करते हैं।

वर्ष 2019 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2019 में ब्रासीलिया (ब्राजील) में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के संयुक्त वक्तव्य में कहा गया कि हम विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिए सामूहिक प्रयासों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की पुष्टि करते हैं। राजनीतिक और राजनयिक माध्यमों से संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की भूमिका को अंतरराष्ट्रीय शांति बनाए रखने के लिए प्राथमिक जिम्मेदारी मानते हैं।

हम आतंकवाद से लड़ने के लिए अंतरराष्ट्रीय दायित्वों की फिर से पुष्टि करते हैं। आतंकवादी संगठनों के खिलाफ लड़ाई में एकता के महत्व को मानते हैं और सीरिया में आतंकवादियों के विस्तार से मानवीय स्थिति और इसके जोखिमों के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं।

हम अफगानिस्तान के लोगों के प्रयासों में उनके निरंतर समर्थन को दोहराते हैं, जिससे एक स्थिर, समावेशी, शांतिपूर्ण और समृद्ध देश का निर्माण हो सके। हम दृढ़ता से मानते हैं कि अफगानिस्तान में उत्पन्न स्थिति का कोई सैन्य समाधान नहीं है। अफगान में आतंकवादियों से संबंधित हमलों की निरंतरता के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं।

वर्ष 2020 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2020 में सेंट पीटर्सबर्ग (रूस) में कोविड-19 के

कारण वर्चुअल माध्यम से शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ। शिखर सम्मेलन के संयुक्त वक्तव्य में कहा गया कि ‘हम बैक्टीरियोलॉजिकल (जैविक) और टॉक्सिन हथियारों के विकास, उत्पादन और भंडारण के निषेध और अंतरराष्ट्रीय डब्ल्यूएमडी निरस्त्रीकरण और नियंत्रण व्यवस्था के एक स्तंभ के रूप में उनके विनाश (बीटीडब्ल्यूसी) पर कन्वेंशन के मौलिक महत्व पर जोर देते हैं। हम बीटीडब्ल्यूसी का पालन करने और उसे मजबूत करने की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं, जिसमें अन्य बातों के साथ-साथ एक कुशल सत्यापन तंत्र प्रदान करने वाले कन्वेंशन के लिए कानूनी रूप से बाध्यकारी प्रोटोकॉल को अपनाना शामिल है। हम इस तरह के प्रोटोकॉल पर बातचीत की शीघ्र बहाली का समर्थन करते हैं। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद से संबंधित मुद्दों सहित बीटीडब्ल्यूसी के कार्यों को अन्य तंत्रों द्वारा दोहराया नहीं जाना चाहिए। कार्यान्वयन के मुद्दों के समाधान के उद्देश्य से प्रयास बीटीडब्ल्यूसी के अनुरूप होने चाहिए।

हम अफगानिस्तान इस्लामी गणराज्य में दीर्घकालिक शांति की स्थापना का आह्वान करते हैं और एक स्थिर, समावेशी, शांतिपूर्ण, स्वतंत्र और समृद्ध संप्रभु राज्य के निर्माण की दिशा में अफगानिस्तान के लोगों के प्रयासों को समर्थन करते हैं। हम अंतर-अफगान वार्ता शुरू करने का स्वागत करते हैं और अफगान के नेतृत्व वाली सरकार का समर्थन करना जारी रखेंगे। हम अफगानिस्तान में आतंकवादी हमलों की कड़े शब्दों में निंदा करते हैं और अस्थिर सुरक्षा वातावरण पर चिंता व्यक्त करते हैं।

वर्ष 2021 के ब्रिक्स शिखर सम्मेलन का आतंकवाद के प्रति दृष्टिकोण

वर्ष 2021 में नई दिल्ली (भारत) में कोविड-19 के

कारण वर्चुअल माध्यम से शिखर सम्मेलन का आयोजन हुआ।

शिखर सम्मेलन के संयुक्त वक्तव्य में कहा गया कि ब्रिक्स ने शांति के सामयिक मुद्दों और प्रासंगिक तंत्र में सुरक्षा पर अपनी सक्रिय बातचीत जारी रखी है और हम ब्रिक्स के उच्च स्तरीय बैठक के परिणामों का स्वागत करते हैं। आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए और आईसीटी के उपयोग में वैश्विक सुरक्षा, क्षेत्रीय सुरक्षा और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरों, संभावनाओं पर सार्थक चर्चा के लिए उनकी सराहना करते हैं।

कानून प्रवर्तन एजेंसियों के बीच सहयोग और ब्रिक्स के बीच सहयोग की संभावनाओं के लिए स्वास्थ्य सुरक्षा और स्वास्थ्य देखभाल करने के निर्णय का भी स्वागत करते हैं। ब्रिक्स काउंटर-टेरिज्म के कार्यान्वयन के लिए ब्रिक्स काउंटर-टेरिज्म एक्शन प्लान (रणनीति) का स्वागत करते हैं।

हामिद करजई काबुल अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डा, जिसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में मौतें और चोटें हुईं। हम निकट के आतंकवादी हमलों की कड़े शब्दों में निंदा करते हैं। हम आतंकवाद से लड़ने की प्राथमिकता को रेखांकित करते हैं, जिसमें आतंकवादियों के प्रयासों को रोकना भी शामिल है। आतंकवादी संगठन अफगान क्षेत्र को आतंकवादी पनाहगाह के रूप में इस्तेमाल करते हैं और दूसरों देशों के खिलाफ हमले करते हैं, साथ ही अफगानिस्तान के भीतर नशीली दवाओं के व्यापार करते हैं, हम इसकी कड़ी निंदा करते हैं। हम संबोधित करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

हम ब्रिक्स आतंकवाद विरोधी कार्य योजना का समर्थन करते हैं। ब्रिक्स आतंकवाद विरोधी रणनीति को लागू करने के लिए सुरक्षा सलाहकार बनाने पर जोर देते हैं,

जिसका उद्देश्य ब्रिक्स आतंकवाद विरोधी रणनीति को लागू करना है और आतंकवाद विरोधी सहयोग के प्रति ब्रिक्स देशों के दृष्टिकोण और कार्यों को परिभाषित करना है।

ब्रिक्स देशों के बीच द्विपक्षीय और बहुपक्षीय संबंध को और सार्थक बनाने के लिए, आतंकवाद के खतरे को रोकने और उसका मुकाबला करने के वैश्विक प्रयासों में योगदान सहित कट्टरता, आतंकवाद, आतंकवादी उद्देश्यों के लिए इंटरनेट के दुरुपयोग का मुकाबला करने पर, आतंकवादियों की यात्रा, और आसान लक्ष्यों की सुरक्षा के लिए उपायों में वृद्धि, खुफिया जानकारी साझा करना, और क्षमता निर्माण से संबंधित 'दुरुपयोग' पर संगोष्ठी आयोजित करने के लिए अध्यक्ष की सराहना करते हैं।

आतंकवादी उद्देश्यों के लिए इंटरनेट और आतंकवादी जांच में डिजिटल फोरेंसिक की भूमिका पर 'ब्रिक्स देशों के लिए डिजिटल फोरेंसिक' कार्यशाला को और आगे बढ़ने के लिए तत्पर हैं।

निष्कर्ष:

आतंकवाद विश्व के लिए खतरा है, जो सभी देशों को प्रभावित करता है। जब से आतंकवादी संगठनों ने अपने समर्थन के ठिकाने बनाने विकसित किए हैं तब से दुनिया के विभिन्न हिस्सों में हमले किए गए हैं। यह ब्रिक्स राष्ट्रों के नेताओं के लिए एक चिंता का विषय बन गया है। ब्रिक्स ने आतंकवाद के सभी रूपों और अभिव्यक्तियों की निंदा की है और अंतरराष्ट्रीय समुदाय से लगातार इस खतरे से लड़ने का आग्रह किया है। 2015 में, आईएसआईएल एक बड़े खतरे के रूप में उभरने और अन्य आतंकी समूहों को उससे गठबंधन करने पर, ब्रिक्स ने धर्म और विचारधारा के आधार पर आतंक के

सभी कृत्यों को इसमें शामिल करने के लिए अपने दृष्टिकोण को विस्तारित किया। ब्रिक्स ने 2015 में धन शोधन का विरोध और आतंकवाद के वित्तपोषण का मुकाबला करने के लिए ब्रिक्स परिषद स्थापित की है।

अंतरराष्ट्रीय सहमति का इंतजार करते हुए ब्रिक्स राष्ट्रों ने आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के लिए कई वर्षों में अपने दृष्टिकोण का विस्तार किया है। 2016 में, उन्होंने आतंकवाद-रोधी कार्यदल का गठन किया और वे सदस्य देशों के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकारों की वार्षिक बैठकें आयोजित करते हैं। इससे संयुक्त योजना बनाने और खुफिया जानकारी साझा करने का अवसर मिलता है।

आतंकवादी हमलों में निर्दोष अफगान नागरिकों की मौत हुई है। हिंसा को तत्काल समाप्त करने की आवश्यकता है। अफगानिस्तान के लोगों के लिए शांति और राष्ट्रीय सुलह हासिल करने के प्रयासों में, अफगानिस्तान पर परामर्श के मास्को प्रारूप और "हार्ट ऑफ एशिया-इस्तांबुल प्रक्रिया" सहित चल रहे अंतरराष्ट्रीय प्रयासों को 2017 में ब्रिक्स ने समर्थन दिया।

ब्रिक्स देशों ने कहा कि अफगानिस्तान की धरती का इस्तेमाल अन्य देशों के खिलाफ आतंकवादी हमलों को अंजाम देने के लिए नहीं किया जाना चाहिए। सभी ने एक मत के साथ कहा कि सीमा पार से होने वाली आतंकी घुसपैठ हो या फिर आतंकवाद का कोई भी रूप हमें हर तरह आतंकवाद का डटकर सामना करना है और उसे खत्म करने की हर संभव कोशिश करनी है। आतंक और नशे के कारोबार पर नियंत्रण जरूरी हो गया है, इसके लिए 2021, में ब्रिक्स ने मल्टीलिटरल सिस्टम की मजबूती और सुधार पर एक पोजिशन ली है। ब्रिक्स ने काउंटर टेररिज्म एक्शन प्लान को अडॉप्ट किया है।

ब्रिक्स विश्व की आबादी के चालीस प्रतिशत का प्रतिनिधित्व करता है, उनमें युवाओं की एक उल्लेखनीय संख्या हैं जो वैश्विक इंटरनेट/सोशल मीडिया समुदाय का बढ़ता हुआ हिस्सा हैं। ब्रिक्स देशों को इंटरनेट के उपयोग की सुरक्षा के मुद्दे पर ध्यान देने की आवश्यकता है, उन्हें एक ऐसा तरीका निकालने की जरूरत है, जो नागरिकों की अनियंत्रित सरकारी निगरानी का कारण न बन कर एक ऐसी प्रणाली का निर्माण करे, जिससे वह इंटरनेट पर मौजूद आतंकी

नेटवर्क पर नजर रख सके। उन्हें साइबर सुरक्षा पर एक आम सहमति बनानी होगी और साइबर अपराधों से लड़ने के लिए विचारों का आदान-प्रदान करना होगा। ब्रिक्स के देश समान चुनौतियों और अवसरों का सामना करते हैं। वे वैश्विक मुद्दों पर अपने दृष्टिकोण में अधिक समानताएं पाते हैं, इसलिए आशा है कि वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक सहयोगी और सफल दृष्टिकोण का निर्माण करने में सक्षम होंगे।

संदर्भ-सूची

1. Wilson, D., & Purushothaman, R. (2003). Dreaming with BRICs: The path to 2050. *Global economics paper*, (99), 1.
2. Lagutina, M. L. (2019). BRICS in a world of regions. *Third World Thematics: A TWQ Journal*, 4(6), 442-458.
3. Agarwal, P., Tech, B., & Agarwal, P. BRICS STAND AGAINST TERRORISM.
4. University of TORONTO. (2015, July 15). *Fortaleza action plan*. 2014 Fortaleza Declaration. Retrieved September 25, 2021, from <http://www.brics.utoronto.ca/docs/140715-leaders.html>.
5. Panova, V. (2015). *BRICS Security Agenda and Prospects for the BRICS Ufa Summit* (Vol. 10, Issue 2). National Research University, Higher School of Economics (HSE). Retrieved March 15, 2021, from <https://doi.org/10.17323/1996-7845-2015-02-119>
6. Government of India. (2016-10-16). *Goa Declaration at 8th BRICS Summit*. Ministry of External Affairs. Retrieved March 20, 2021, from <https://www.mea.gov.in/bilateraldocuments.htm?dtl/27491/Goa+Declaration+at+8th+BRICS+Summit>
7. University of TORONTO. (2017, September 4). *2017 BRICS Leaders Xiamen Declaration*. BRICS Information Centre. Retrieved April 25, 2021, from <http://www.brics.utoronto.ca/docs/170904-xiamen.html>
8. University of TORONTO. (2018, July 26). *10th BRICS Summit Johannesburg Declaration*. BRICS Information Centre. Retrieved June 21, 2021, from <http://www.brics.utoronto.ca/docs/180726-johannesburg.html>
9. Panova, V. V. (2018). The BRICS security agenda: Russia's approach and the outcomes of the Ufa Summit. In *BRICS and Global Governance* (pp. 129-149). Routledge.

10. University of TORONTO. (2019, November 14). *2019 Brasilia Declaration*. BRICS Information Centre. Retrieved August 26, 2021, from <http://www.brics.utoronto.ca/docs/191114-brasilgia.html>
11. University of TORONTO. (2020, November 17). *2020 Moscow Declaration*. BRICS Information Centre. Retrieved September 20, 2021, from <http://www.brics.utoronto.ca/docs/201117-moscow-declaration.html>
12. Jiayao, L. (2021, September 10). *Full text of BRICS Summit New Delhi Declaration - China Military*. Full Text of BRICS Summit New Delhi Declaration. Retrieved September 23, 2021, from http://english.chinamil.com.cn/view/2021-09/10/content_10088044.htm



जनजातियों के देशज ज्ञान में संचार के स्वरूप की उपलब्धता

वैभव उपाध्याय

पी-एच.डी. शोधार्थी, जनसंचार विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र

ईमेल – drvaibhavupadhyay@gmail.com

मोबाइल – 9415147731

शाब्दिक जुड़ाव की दृष्टि से जनजाति दो शब्दों ‘जन’ और ‘जाति’ से मिलकर बना है। (गुप्ता, 2017) जन का शाब्दिक अर्थ है लोग, किंतु जाति के एक निश्चित शाब्दिक अर्थ को दे पाना जटिल कार्य है। इसके अर्थ की व्याख्या में प्रायः विद्वानों द्वारा अंग्रेजी के ‘कास्ट’ शब्द की सहायता ली जाती है। इस व्याख्या में एक से अधिक पर्याय और विशेषताएं देखने को मिलती हैं, किंतु व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से यह ‘पहचान’ के रूप में अर्थ प्रदान करते दिखाई पड़ती है। भारत में लगभग 700 जनजाति समूह व उप-समूह हैं। इनमें लगभग 80 प्राचीन जनजातियाँ हैं (आहूजा, 2000)। भारत की जनसंख्या का 8.6% (10 करोड़) जितना एक बड़ा हिस्सा जनजातियाँ का है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति एक जटिल अवधारणा है, जिसे विभिन्न अनुशासनों द्वारा अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया गया है। इसके अर्थ को प्राप्त

परंपरागत संचार माध्यमों या लोक संचार माध्यमों की जड़ें जनजाति क्षेत्रों में गहरी पैठी हैं। इनके माध्यम से न सिर्फ आदिवासी जन-जीवन की सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होती है बल्कि यह माध्यम समाज के संरक्षण एवं संवर्धन में भी साहयक हो सकती हैं। जनजातियों का संचार उनका आपस में एकजुटता का प्रतीक एवं समाज का सबसे सशक्त माध्यम है। जनजाति समाज में कई प्रथाएँ ऐसी मिलेंगी जो संचार का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जैसे - हलमा या घोटूल प्रथा। इस शोध के माध्यम से ऐसे ही सशक्त संचार माध्यमों की पड़ताल करते हुये इसका संकलन किया गया।

संदर्भगत विशेषता को धारण किए होती है और वही इनके पहचान प्रदर्शन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। संदर्भ विशेष के साथ संबद्धता ही ‘जातीय पहचान’ बन जाती है, उदाहरणस्वरूप, ‘जन्मना प्रस्थिति’ अथवा ‘अन्तर्विवाही’। आहूजा (2000) ‘जाति’ को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, “जाति एक ‘अनुवांशिक’ सामाजिक समूह है, जो अपने सदस्यों को सामाजिक गतिशीलता (यानी सामाजिक प्रस्थिति बदलने) की अनुमति प्रदान नहीं करती। इसमें जन्म के अनुसार प्रस्थिति अथवा श्रेणी निर्धारित होती है, जो व्यक्ति के व्यवसाय, विवाह और सामाजिक संबंधों को प्रभावित करती है (पृ.33)।” भारतीय सामाजिक संरचना पर दृष्टि डाले तो इस प्रकार की पहचान धारण किए हुए स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर असंख्य जातियाँ हैं (दूबे, 1985)। डब्लू.एच. रिर्वर्स के अनुसार, ‘जनजाति एक सरल सामाजिक समूह है, जिसके सदस्य एक आम बोली का प्रयोग करते हैं

करने में संदर्भों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है उदाहरण स्वरूप श्यामाचरण दूबे (1985) जाति की अर्थ स्थापना के समय इसके तीन अर्थों पर बल देते हैं, जो अलग

तथा युद्ध एवं अन्य प्रकार के क्रियाकलापों के साथ-साथ कार्य करते हैं (पांडेय, 2007)।

प्रो. खुदीराम टोप्पो ने अपने एक लेख में

जनजातियों की शासन व्यवस्था में भागीदारी विषय पर लिखते हुये बताया कि “देश के सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र का 20 प्रतिशत भाग जनजातीय प्रदेश है”। साहित्यिक ग्रन्थों में जनजाति को आदिवासी नाम से भी संबोधित किया जाता रहा है। पुरातन संस्कृत ग्रंथों में आदिवासियों को ‘अत्विका’ नाम से संबोधित किया गया एवं महात्मा गांधी ने आदिवासियों को गिरिजन (पहाड़ पर रहने वाले लोग) से संबोधित किया (एल्विन, 2007)। भारतीय संविधान में जजातियों के लिए ‘अनुसूचित जनजाति’ पद का उपयोग किया गया है। किसी भी समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के निम्न आधार हैं- आदिम लक्षण, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक पृथक्करण, समाज के एक बड़े भाग से संपर्क में संकोच या पिछड़ापन। वर्जिनियस झाझा की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय कमिटी का गठन 2013 में किया गया था। इस कमिटी के द्वारा जनजाति में मूल शब्द “जाति” को विस्तृत रूप से परिभाषित किया गया। विख्यात मानवशास्त्री **नदीम हसनैन** ने अपनी पुस्तक ‘जनजातीय भारत’ में भारतीय जनजाति समुदाय से जुड़े विभिन्न मुद्दों के बारे में लिखा है। उन्होंने पुस्तक में जनजातीय समुदाय से संबंधित मानव विज्ञान के दृष्टिकोण से तथ्यों का संकलन किया है। तथा भारत में जनजातीय समाज के ज्ञान और उनको

स्वरूप को समझाने का भी प्रयास किया गया। V.S. Upadhyay ने अपनी पुस्तक Tribal Development in India में जनजातीय विकास से संबंधित इतिहास की की विस्तृत चर्चा की है।

जनजाति विकास में पैसा कानून एक बेहतर भूमिका निभा रहा है। इसके तहत ग्राम सभा की सिफारिशें मानने के लिए पंचायतें बाध्य हैं। यह कानून जजातियों को उनके अपने संसाधन के उपयोग एवं नियम की स्वतन्त्रता देता है। यह कानून सैद्धांतिक रूप से गांवों को स्वायत्तता देता है। सही अर्थों में इसकी व्याख्या की जाए तो पता चलेगा कि गांव में प्रवेश के लिए ग्राम सभा की अनुमति जरूरी है।

टिकाऊ विकास और संचार के लिए सहयोगी आधुनिक ज्ञान प्रणाली और देशज ज्ञान प्रणाली की आवश्यकता पूरे विश्व को समझ आने लगी है जो इस शोध की पृष्ठभूमि को तैयार करती है। उच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में कहा था कि संभवतः जनजातीय देश के मूल निवासी हैं। अतः इनकी संस्कृति-सभ्यता भी सबसे पुरातन होगी जिसके संयोजन की जिम्मेदारी पूर्ण रूप से वर्तमान समाज पर होती है। खास तौर पर यह तब और महत्वपूर्ण हो जाता है जब दो या अन्य समुदायों के मध्य विकास का असंतुलन स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रहा हो।

क्र.सं.	निवास क्षेत्र	जनजाति
1.	उत्तर तथा पूर्वोत्तर क्षेत्र	कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, द. उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तराखंड एवं पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में बकरवाल, गुर्जर, थारू, बुक्सा, राजी, जौनसारी, शौका, भोटिया, गद्दी, गारो, खासी, जयंतियां, लेपचा, रामा, मेचा, काछारी एवं मिकिर, गारो, खासी, आका, दाफला एवं भीरी, कोंयक, रंगपात, रोमा, आगामी, चंग और रेम आदि
2.	मध्य क्षेत्र	मध्य प्रदेश, दक्षिण राजस्थान, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र, छत्तीसगढ़ भील, गोंड, रेड्डी, सबरा, उरांव, गड़बा, बोपंडों, हो, संधाल, मुंडा, विरहोर, खरिया बैंगा, मुरिया और मांडिया गोंड, कोल, कोरकू, सहरिया, बंजारा आदि

3.	दक्षिणी क्षेत्र	कर्नाटक, तमिलनाडु केरल, अंडमान निकोबार और अन्य	चेचू, टोड़ा, कोटा, पनियन, ईरूला, कादर, माला (भील एवं भिलाला), निकोबारी, ओंग, जारवा, शाम्पेन एवं अंजमानी आदि
4.	पश्चिमी क्षेत्र	-	भील एवं खासा आदि

स्रोत- शोधार्थी द्वारा प्राप्त आंकड़ों की सारणीयन

भारत के अनुसंधान एवं प्रयोगों में देशज ज्ञान की खोज आज के दौर में नई प्रवृत्ति के रूप में उभरा है। जनजाति समाज के देशज ज्ञान परंपराओं का अध्ययन करना जरूरी है। उनकी देशज ज्ञान परंपरा से आधुनिक समाज को बहुत कुछ सीखने की जरूरत है (रणेन्द्र, 2014)। जंजातियों का जीवन प्रकृति के ज्यादा नजदीक होता है। उनके दर्शन में प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाकर चलने का आदर्श होता है (रणेन्द्र, 2014)। न्यू मैक्सिको के प्युब्लो आदिवासी समाज के प्रोफेसर ग्रेगरी कजेटे ने अपनी पुस्तक ‘नेटिव साइंस: नेचुरल लॉ ऑफ इंटरडिपेंडेंस’ में यह बताने का प्रयास किया है कि उनके समाज के विज्ञान का दार्शनिक आधार आधुनिक विज्ञान से अलग है। जनजाति समाज में ज्ञान को जीवन से अलग नहीं माना गया है। बल्कि, ज्ञान को संगीत, कला और साहित्य में ही समाहित माना जाता है (मीणा, 2020)। अंडमान के जारवा जनजातियों के साथ वर्षों तक काम करने वाले डॉक्टर रतन चंद कार ने अपने लेख में बताया कि ये बेहद संजीदा लोग हैं। इनके रहन-सहन और तौर तरीके में बेहद सादगी और वैज्ञानिकता है (रणेन्द्र, 2014)। इन्हें जंगल के पेड़-पौधों और उनके औषधीय गुणों का अद्भुत ज्ञान है (एल्विन, 2007)। गोंड जनजाति की ज्ञान परंपरा पर काम करने वाली शोधार्थी नीलम केरकेट्टा का मानना है कि आदिवासी के पास बीजों और पेड़-पौधों से संबन्धित अद्भुत ज्ञान है, इस तरह के ज्ञान पर उन्होंने पुस्तकों का सृजन तो नहीं किया है, लेकिन उनके गीतों, कलाओं और दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों में वह संकलित है। नामबिया में जुस्सी एस जौहिईने (Jussi S. Jauhiainen) और लौरी हूली (Lauri Hooli) ने देशज ज्ञान से जनजातीय समाज में जागरूकता विषय पर शोध किया, इस शोध में

यह बात निकल कर आयी कि विकाशील देशों के लिए नवचार का उपयोग स्वदेशी ज्ञान के आधार पर पारस्परिक सहयोग से लक्ष्य को और बेहतर बनाया जा सकता है।

शोध उद्देश्य :

- शोध का मुख्य उद्देश्य जनजातीय समुदाय के संचार स्वरूप को खोजना है।
- जनजातियों के देशज ज्ञान परंपरा में संचार का रूप क्या है इसे जानने के लिए।

शोध प्रश्न :

- जनजातियों के देशज ज्ञान परंपरा में संचार पद्धति का स्वरूप क्या है?

शोध प्रविधि :

प्रस्तुत शोध पूर्ण रूप से **विश्लेषणात्मक (Descriptive)** शोध है। इस प्रविधि का प्रयोग तथ्यों के निष्कर्षण के लिए किया गया है। इसके लिए **विवेचनात्मक (Inductive)** एवं **विश्लेषणात्मक (Analytical)** दृष्टियों का प्रयोग किया गया। इसके अंतर्गत **अवलोकन पद्धति (Observation Method)** का प्रयोग किया गया। इस विधि के अंतर्गत शोध क्षेत्र में भ्रमण कर जनजातियों के देशज ज्ञान परंपरा से परिचित होने के साथ ही संचार पद्धति की उपलब्धता का पता लगाया गया। इसके तहत अर्द्धसहभागी अवलोकन किया गया।

विश्लेषण :

विश्लेषणात्मक रूप से देखने को मिलता है कि जनजातियों में कई ऐसी पद्धति एवं प्रणाली विद्यमान है जिसका संचार की दृष्टि से वृहद रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। यह संचार पद्धतियाँ संवाद के स्वरूप एवं

सामाजिक/सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को अपने अंदर समाहित किए होती है। इन पद्धतियों के अंतर्गत कुछ संचार व्यवस्था का विश्लेषण शोध की दृष्टि से किया गया जो निम्न है। विश्लेषणात्मक रूप से यह देखा गया कि जनजाति के दो महत्वपूर्ण संस्थागत व्यवस्थाएं हैं जिसका जिक्र बाद के संचार व्यवस्थाओं में प्राप्त होता है। हलमा और घोटूल सामाजिक एवं सांस्कृतिक मुद्दों पर चर्चा परिचर्चा का आयोजन करता है जो निम्न है।

संचार पद्धति :

संचार पद्धति की उपयोगिता और उपस्थिति एवं प्रयोग लगभग हर समुदाय में होती है। बिना संचार के किसी भी योजनाओं का प्रयोग एवं क्रियान्वयन संभव नहीं हो सकता है। संचार एक ऐसी प्रक्रिया है जो सतत चलती रहती है। किसी भी समुदाय या संस्था में संचार के तीन तत्व का होना अनिवार्य होता है जिसमें संचारक, संदेश और माध्यम मुख्य रूप से होते हैं (राजगढ़िया, 2008)। जनजातीय समुदाय में भी यह संतुलन देखने को मिलता है। **ओसाम मंजर** ने देश के प्रतिष्ठित समाचारपत्र समूह हिंदुस्तान टाइम्स के हिंदी पत्र हिंदुस्तान के पोर्टल पर जनजातीय समुदाय में संचार माध्यमों के विस्तार नहीं किए जाने पर चिंता जताई उन्होंने बताया कि डिजिटल माध्यम जनजाति समुदायों के बीच की दूरी को कम करने में प्रभावी साबित हुआ है पर यह तथ्य केंद्र व राज्य स्तरों के जनजातीय विकास कार्यक्रमों में गायब है। हेराल्ड लॉसवेल का मॉडल जनजाति क्षेत्रों में बहुत पहले से कार्य करता प्रतीत होता है। हेराल्ड लॉसवेल के मॉडल में क्या, कौन, किस माध्यम से, किससे और कैसे सूचनाओं का संप्रेषण किया जाता है समाहित है। यह मॉडल यह तय करता है कि सूचना लक्षित समुदाय को कितना और कैसे प्रभावित करती है? आदिवासी समाज में यह सिद्धान्त बहुत पहले से कार्य कर रहा है। जनजातियों का संचार उनका आपस में एकजुटता का प्रतीक एवं समाज का सबसे सशक्त माध्यम है। जनजाति समाज में कई प्रथाएँ ऐसी मिलेंगी जो संचार का बेहतरीन उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जैसे - हलमा या घोटूल प्रथा।

परंपरागत संचार माध्यमों या लोक संचार

माध्यमों की जड़ें जनजाति क्षेत्रों में गहरी पैठी हैं (रणेन्द्र, 2014)। इनके माध्यम से न सिर्फ आदिवासी जन-जीवन की सामाजिक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होती है बल्कि यह माध्यम समाज के संरक्षण एवं संवर्धन में भी साहायक हो सकती हैं। लोकगीत, लोकसंगीत, लोकनृत्य, नौटंकी, कटपुटली आदि आदिवासी संचार के मूल पद्धति हैं। ये माध्यम आदिवासी समाज के मध्य संवाद एवं संचार का सीधा माध्यम हैं।

देशज ज्ञान :

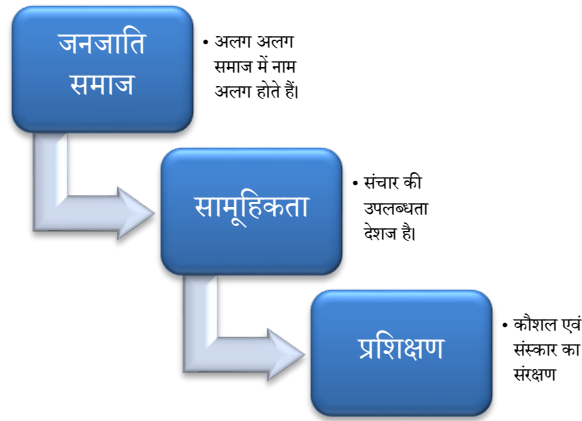
यहाँ देशज ज्ञान से सीधा आशय स्थानीय ज्ञान से है। एक ऐसा ज्ञान जो संबन्धित स्थानीय सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से संबंधित हो। देशज ज्ञान के माध्यम से जनजातीय समाज में जागरूकता विषय पर शोध करते हुये प्रो. केरकट्टा ने बताया कि जनजातियों द्वारा उस विकास को जल्दी स्वीकार किया गया जो उसकी संस्कृति से जुड़ा था (Bharti, 2015)। इस शोध में यह भी निकल कर आया कि विकाशील देशों के लिए नवचार का उपयोग स्वदेशी ज्ञान के आधार पर पारस्परिक सहयोग से लक्ष्य को बेहतर बनाया जा सकता है। ‘Indigenous Knowledge: Implications in Tribal Health and Disease’ विषय पर हुये एक शोध में यह देखा गया कि सामाजिक अनुसन्धान और मानव विज्ञान में देशज ज्ञान की खोज ने आज के दौर में नई प्रवृत्ति के रूप में जन्म लिया है।

हलमा :

हलमा एक ऐसी प्रथा है जिसके तहत समाज के जरूरतमन्द के लिए समूहिक एकत्रीकरण होता है (White, Nair, Ascroft, 1994)। इस प्रथा के तहत लोग उस स्थान पर पहुंचते हैं जहां किसी आदिवासी परिवार, समाज, संस्था की मदद करनी होती है। शोध क्षेत्र में गोंड आदिवासी समाज ने जल संरक्षण केंद्र बनाने के लिए हलमा के अंतर्गत जिम्मेदारी ली, लोगों ने आह्वान किया कि इस बार धरती माँ हलमा बुला रही है यानि मदद के लिए बुला रही है। देखते-ही-देखते तय स्थान पर भारी संख्या में आदिवासी इकट्ठा हुये और बिना किसी शुल्क के तीन दिन तक एक ही स्थान पर रुक कर हजारों जल संरक्षण केंद्र बना दिये। यह समूहिक

और डिजास्टर संचार का बेहतरीन उदाहरण है। हलमा एक तरह की प्रशिक्षण कार्यशाला भी है। प्रशिक्षण इस लिए क्योंकि हलमा के माध्यम से आदिवासी अपने अगली पीढ़ी के लिए ये सारे गुण काशतकारी के माध्यम से सिखाते हैं। चुकी आदिवासी ज्ञान का एक मात्र संकलन मौखिक होता है इस लिए भी यह परंपरा प्रशिक्षण कार्यशाला के रूप में जानी पहचानी जाती है। आदिवासी अपने देशज ज्ञान का प्रसार या कर्हे कि संरक्षण इसी पद्धति से करते हैं। यही कारण है कि

आदिवासी अपने तीज त्योहार इत्यादि का इस्तेमाल प्रशिक्षण कार्यशाला के रूप में करते हैं। ऐसे कार्यशाला के माध्यम से एक तो समूहिक समाधान होता है दूसरा उस समाज के नई पीढ़ी के सदस्य उससे परिचित होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार की तमाम परम्पराएँ आदिवासी जीवन का हिस्सा अनिवार्य रूप से हैं। हलमा की संरचना में समाज केंद्र में होता है और उसकी परिधि आदिवासियों के श्रम से सिंचित होती है।



स्रोत- शोध की आवश्यकता एवं परिणाम के लिए शोधार्थी की दृष्टि

घोटूल :

घोटूल संचार पद्धति एवं संचार स्वरूप की दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण माना जाता है। यह समूह संचार का एक अच्छा एवं देशज उदाहरण पेश करता है। घोटूल परंपरा के तहत गोंड आदिवासी समाज अपनी समस्या को लेकर एक जगह इकट्ठा होते हैं और समूहिक मदद से उस समस्या का निदान करते हैं। इस एकत्रीकरण में सामाजिक सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा किया जाता है। जनजाति समाज में विवाह संस्कार से जुड़ी चर्चा एवं साथी चुनाव के लिए भी यह माध्यम बेहद प्रासंगिक है। यह समूहिक संचार के साथ ही अंतरव्यक्तिक संचार का उदाहरण पेश करता है। घोटूल का स्तित्व लगभग सभी जनजाति समुदाय में पाया जाता है परंतु इसके स्वरूप एवं नाम में कुछ अंतर जरूर होता है। घोटूल आदिवासी समुदाय के लिए जीवन की उपयोगिता पर चर्चा करने एवं सामाजिक प्रशिक्षण का एक मंच है। गढ़चिरौली जी के मेंढा लेखा गाँव के प्रमुख एवं मार्गदर्शक देवा जी तोफा ने घोटूल की चर्चा करते हुये बताया कि यह उनके गाँव के लिए सामाजिक स्वाभिमान लाने एवं जागृत करने का काम किया। उन्होने अपने गाँव के लिए घोटूल की उपस्थिति पर विस्तृत चर्चा की।



स्रोत- शोध की आवश्यकता एवं परिणाम के लिए शोधार्थी की दृष्टि

घोटूल के माध्यम से समाज के समस्याओं का समाधान किया जाता रहा है। समस्याओं का समाधान करने में संबंधित समाज के संचार स्वरूप का इस्तेमाल किया जा रहा है। स्थानीय संचार पर भाषा का प्रभाव बहुत अधिक देखा गया। गैर भाषिक समाज के लोग इस परिस्थिति में कुछ बोलने कहने से कतराते हैं।

प्रस्तुत शोध में कई ऐसे गाँव मिले जहाँ मोबाइल फोन और कंप्यूटर की संख्या 50 प्रतिशत तक प्राप्त हुई लेकिन वही जब इन्टरनेट आधारित इन गैजेट्स के इस्तेमाल का प्रतिशत निकाला गया तो यह मात्र 15 प्रतिशत ही रहा। इसका मतलब बहुत कम जनजाति इन क्षेत्रों में इन्टरनेट पर उपलब्ध सूचना को प्राप्त नहीं कर पा रहा है। इसी प्रकार महिला और पुरुष में भी यह आकड़े देखा गया। जो तथ्य प्राप्त हुये उसके अनुसार मात्र 7 प्रतिशत महिलाएं ऐसी हैं जो कंप्यूटर मोबाइल के साथ इन्टरनेट का इस्तेमाल कर रही हैं।

निष्कर्ष :

शोध विषय के अंतर्गत अवलोकन एवं तथ्य संकलन और साहित्य के अध्ययन के उपरांत जो बात निष्कर्ष के रूप में सामने आती है उसके आधार पर जनजातियों का

देशज ज्ञान परंपरा काफी समृद्ध है। इसकी समृद्धि ही इसके शोषण का कई बार कारण भी बनती है। कई बार ऐसा हुआ कि बड़े औद्योगिक घराने के लोग जनजातियों के देशज ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उनके साथ छल करते हैं। इसके ढेर सारे उदाहरण संबंधित क्षेत्रों में मिल जाते हैं। अतः शोध के अंतर्गत निम्न बिन्दुओं को निष्कर्ष के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई है।

- जनजातियों की अपनी संचार पद्धति समृद्ध रूप में उपलब्ध है।
- जनजातियों के देशज ज्ञान में ही उनके संचार के रूप छुपे हुये हैं।
- जनजाति अपनी देशज संचार पद्धति पर किसी भी प्रकार की संचार के लिए अधिक विश्वास करते हैं।
- जनजातियों के देशज ज्ञान का संकलन करते हुये उनके सांस्कृतिक अभिव्यक्ति एवं सामाजिक विश्वास को बचाया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. दूबे, श्यामाचरण. (1985). भारतीय समाज. नई दिल्ली: राष्ट्रीय पुस्तक न्यास. पृ. 42-43.
2. आहूजा, राम. (2000). भारतीय समाज. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स. पृ. 33
3. हसनैन, नदीम. जनजातीय भारत. नई दिल्ली: जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर, 2010.
4. भानावत, संजीव. भारत में संचार माध्यम. जयपुर: राजस्थान विश्वविद्यालय, 2005.
5. मेहता, आलोक. भारत में पत्रकारिता. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, 2007.
6. विलानिलम, जे.वी, और डॉ. शशिकांत शुक्ल. जनसंचार: सिद्धांत एवं व्यवहार. भोपाल: मध्य प्रदेश ग्रंथ अकादमी, 2003.
7. जोशी, रामशरण. आदमी, बैल और सपने. दिल्ली: कल्याणी शिक्षा परिषद, 2008.
8. चॉम्स्की, नोम. जनमाध्यमों का माया लोक. नई दिल्ली: ग्रंथ शिल्पी, 2006.
9. Servaes, Jan. *Sustainable Development Goals in the Asian Context*. Singapor: Springer, 2016.
10. Godemann, Jasmin. Gerd Michelsen. *Sustainability Communication*. New York:

Springer, 2011.

11. Hund, Gretchen, Jill Engel-Cox, Kim Fowler. *A Communications Guide for Sustainable Development*. London: Battelle Press, 2004.
12. Lal, B. Suresh. *Tribal Development Issues in India*. New delhi: Serials Publications, 2014.
13. Joshi, Vidyut, and Chandrakant Upadhyaya. *Tribal Situation in India*. Jaipur: Rawat publications, 2017.
14. Sillitoe, Paul. *Local Science Vs Global Science: Approaches to Indigenous Knowledge in International Development*. New York: Berghahn Books, 2009.
15. Grenier, L. *Working with Indigenous Knowledge: A Guide for Researchers*. Canada: International Development Research Center, 1998.
16. Warren, D. M. *Indigenous Knowledge, Biodiversity Conservation and Development*. USA: Center for Indigenous Knowledge for Agriculture and Rural Development, 1992.



पूर्वोत्तर भारत के कुकी समुदाय की जीवन शैली

वीरेंद्र परमार

सम्प्रति असम विश्वविद्यालय, सिलचर में पदस्थापित।

103, नवकार्तिक सोसायटी, प्लाट न.-13,

सेक्टर-65, फरीदाबाद-121004

मोबाइल-9868200085,

ईमेल:bkscgwb@gmail.com

कु

‘की’ शब्द की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कुकी लोग स्वयं को कुकी नहीं बल्कि ‘हरे-एम’

(Hre-em) कहते हैं। उन्हें बंगाली और अन्य लोग कुकी कहते हैं। कुकी शब्द की उत्पत्ति और इस समुदाय के मूल निवास के संबंध में विद्वानों में मतभिन्नता है। चीनी भाषा में ‘कुकी’ का शाब्दिक अर्थ ‘कु’ नामक झील के निकट रहनेवाले लोग है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि ‘कुकी’ शब्द बलूचिस्तानी शब्द ‘कुची’ से आया है जिसका अर्थ ‘घुमंतू लोग’ होता है। कुछ लोगों की मान्यता है कि यह अंग्रेजी शब्द ‘कुकी (Kooky)’ से आया है जिसका अर्थ ‘अनोखा’ अथवा ‘असामान्य मनुष्य’ होता है। कुछ विद्वान मानते हैं कि कुकी लोगों का मूल निवास क्षेत्र चीन में था जबकि कुछ लोग मानते हैं कि कुकी का मूल निवास म्यांमार के चीन हिल्स राज्य में था। मणिपुर में कुकी लोग प्राचीनकाल से रह रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि मणिपुर के तृतीय राजा तौ थिंग मंग कुकी जनजाति के थे। कुछ लोग कहते हैं कि कुकी 16 वीं से 19 वीं शताब्दी के मध्य में मणिपुर में

मणिपुर में कुकी लोग प्राचीनकाल से रह रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि मणिपुर के तृतीय राजा तौ थिंग मंग कुकी जनजाति के थे। कुछ लोग कहते हैं कि कुकी 16 वीं से 19 वीं शताब्दी के मध्य में मणिपुर में बर्मा के चीन हिल्स से आए थे, लेकिन प्राचीन काल में मणिपुर राज्य का विस्तार व्यापक क्षेत्र में था और संभव है कि इसकी सीमा बर्मा तक हो। कछारी लोग कुकी को ‘लुशाई’ कहते हैं।

बर्मा के चीन हिल्स से आए थे, लेकिन प्राचीन काल में मणिपुर राज्य का विस्तार व्यापक क्षेत्र में था और संभव है कि इसकी सीमा बर्मा तक हो। कछारी लोग कुकी को ‘लुशाई’ कहते हैं। प्राचीनकाल में इन्हें ‘किरात’ कहा

जाता था। ये तिब्बती-बर्मी परिवार की आस्ट्रो-एशियाई परिवार

की भाषा बोलते हैं। कुकी समुदाय के सभी गोत्रों की भाषा समान है, लेकिन इसमें स्थानगत उच्चारण भिन्नता दिखाई पड़ती है। मणिपुरी भाषा से कुकी भाषा की समानता है। लुशाई जनजाति की जीवन शैली और सांस्कृतिक

विरासत से कुकी जनजाति की बहुत समानता है। लुशाई और कुकी जनजाति में भिन्नता बहुत कम, समानता बहुत अधिक है। इन दोनों समुदायों में इतनी समानता है कि इन्हें दो अलग जनजाति के रूप में वर्गीकृत करना ही व्यावहारिक नहीं लगता है। कुकी एक सामूहिक संज्ञा है जिसमें अनेक उपजातियां सम्मिलित हैं। भारत सरकार (गृह मंत्रालय) के 1956 में जारी आदेश के अनुसार कुकी समूह में 37 जनजातीय समुदाय को शामिल किया गया है जिनके निम्नलिखित नाम हैं-

1. बाइते
2. चांगसेन
3. चोंगलोई
4. डोंगल
5. गमलोऊ

6.गंगतो 7.गुइते 8.हनेंग 9.हावकिप 10. हावलाई
 11.हेंगना 12.होंगसुंग 13.हराउगकवल 14.जोंगबे
 15.खवेहंग 16.ख्वातलंग अथवा खोतलंग 17.खेलमा
 18.खोलाऊ 19.किपजेन 20.कुकी 21.लेंगथांग
 22.लहेंगन 23.लोउजेम 24. लोउवन 25.लुफेंग
 26.मंगजोल 27.मिसाव 28.रियांग 29.सईरहन
 30.सेमनम 31.सिंगसोन 32. सितलाऊ 33.सुक्ते
 34.थाडो 35.थांगऊ 36.उइबू 37.वाईफेई। कुकी एक
 अस्पष्ट संज्ञा है जो मैदानी क्षेत्र के लोगों द्वारा उन
 पर्वतवासी जनजातीय समूह को दी गई है जो खासी,
 गारो, मिकिर इत्यादि समुदायों से भिन्न हैं। कुकी समुदाय
 के अनेक गोत्र हैं। इस जनजाति के गोत्र के संबंध में कोई
 निष्कर्ष निकालना अत्यंत कठिन है। विभिन्न विद्वानों ने
 भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से कुकी जनजाति के गोत्र को
 विभाजित किया है। कुकी समुदाय के लोग त्रिपुरा,
 मणिपुर और मिजोरम तीनों राज्यों में रहते हैं और तीनों
 राज्यों के गोत्र नामों में बहुत अंतर दिखाई देता है। कुछ
 कुकी परिवार असम में भी रहते हैं।

मणिपुर

मणिपुर में कुकी जनजाति के कुल उन्नीस गोत्र हैं। पुराने
 गोत्र हैं—कोम, अमल, हमार, किरेंग, चोथे, पुरुम, मंतक,
 गंगते, वाईफे, हिरोई या लामगंगा नवीन गोत्र हैं—थडान,
 सिंगसोल, चुंगलो, हाउकिब, सिमते, वुंगसोन, चंगुत,
 मनवुंगा 1

मिजोरम

मिजोरम में कुकी जनजाति के निम्नलिखित सत्रह गोत्र
 हैं-

लुशाई, राल्ते, कवीरहरिंग, कैंगते, रेंतलेई, चंगथू, पाइहते
 या वेईते, पवि या पाविते या पोई, हमार लखेर, थाडो,
 चावते, नंगते, थान, पाउतु, राविते, जवंगते, वंगचिला 2

त्रिपुरा

त्रिपुरा में कुकी जनजाति के निम्नलिखित अठारह गोत्र
 हैं-

बलते, बेलालहुत, चालिजु, हजंगे, फन, जंगतेई, खरेंग,
 खेपहोंग, पाईतु, पाइते, कुंतेई, कैफंग, लेंताई, मिजेल,
 नमते, रंगचान, रंगखेले, थांगलुया 3

त्रिपुरा जिला गजेटियर के अनुसार कुकी को
 निम्नलिखित पंद्रह गोत्रों में विभाजित किया गया है:

पाइतु, बेलालहुत, थंगुलुस, लालीफंग, बंगखाई, मिजेल,
 नामतु, चत्या, फून, कुंतेई, लेनतेई, जंगतेई, रंगहन,
 बलते, खोरेंग 4

त्रिपुरा के विभिन्न सबडिविजनों में 115 कुकी परिवारों
 की निम्नलिखित गोत्रों की सूचना मिली है-

रोखुन, बेतु, पाउतु, ओमराव, बलते, रेमला, खुअलतु,
 खलुक्ते, लाईथुई, बोआजल, हामते, मैसाल्क, चुइंगो,
 ह्यार, खोफेंग, नान, संगते, खोवालहरिंग 5

पूर्वोत्तर के अन्य समुदायों की तरह कुकी जनजाति का
 भी मुख्य पेशा कृषि है। ये लोग झूम खेती करते हैं।
 समतल भूमि में स्थायी खेती भी होती है। चावल इनकी
 मुख्य फसल है। अन्य फसलें हैं—सरसों, सब्जियां,
 मक्का, कपास, अरंडी इत्यादि। ये लोग पर्वत की ढलान
 पर संतरा, अन्ननास, लहसुन आदि का उत्पादन करते
 हैं। महिला-पुरुष सभी खेतों में काम करते हैं। महिलाएं
 हल नहीं चलाती हैं। येलोग बकरी, बत्तख, कबूतर, मुर्गी,
 सूअर आदि पालते हैं। महिलाएं कताई-बुनाई में दक्ष
 होती हैं। प्रत्येक घर में हथकरघा मौजूद होता है। बुनाई
 कुकी समुदाय का कुटीर उद्योग है। बांस और बेंत की
 गृहोपयोगी वस्तुएं बनाने, लकड़ी और लोहे के सामान
 बनाने में भी ये लोग पारंगत होते हैं। कुकी लोग प्रायः

पहाड़ की चोटी पर रहते हैं। वे नकद आय के लिए फल का उत्पादन करते हैं। कुकी लोग जंगली जानवरों के शिकार में बहुत माहिर होते हैं। वे हिरन, गिलहरी, भालू, खरगोश और चिड़ियों के मांस खाते हैं। बंदर, हाथी, भैंस और कुत्ते के मांस भी वे चाव से खाते हैं। वे लगभग सभी तरह के मांस खाते हैं। वे सूअर, बकरी, बत्ख, कबूतर, मुर्गी आदि पशु-पक्षियों को पालते हैं जिनका उपयोग वे विभिन्न अवसरों पर बलि देने के लिए करते हैं। वे हाथी, जंगली सूअर, बाघ, हिरन, खरगोश आदि जानवरों का शिकार करते हैं। हाथियों का शिकार करने में वे विशेष दक्ष होते हैं। वे अपने समुदाय के बाहर विवाह नहीं करते हैं। गोत्र के बाहर विवाह को प्राथमिकता दी जाती है, परन्तु समगोत्रीय विवाह प्रतिबंधित नहीं है। ऊपर वर्णित 37 जनजातियों के बीच परस्पर विवाह होते हैं। अधिकांश विवाह बातचीत द्वारा तय किए जाते हैं। कुकी समुदाय में वधू मूल्य की परंपरा विद्यमान है। निर्धन परिवार के लड़के यदि वधू मूल्य का भुगतान करने में असमर्थ होते हैं तो उन्हें अपने भावी श्वसुर के घर में रहकर दो या तीन वर्षों तक शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है। इस दौरान भावी पत्नी के साथ सहवास करना प्रतिबंधित नहीं है। विवाह के दिन लड़की के माता-पिता द्वारा ग्रामवासियों एवं वर पक्ष को भोज दिया जाता है। अविवाहित लड़कियों को अपना जीवन साथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता है। कुकी समुदाय में विवाह पूर्व संबंध स्थापित करना सामान्य घटना है, परन्तु विवाह के उपरांत पत्नी के लिए केवल पति के प्रति समर्पित रहना आवश्यक है। विधवा विवाह सामाजिक रूप से मान्य है। बड़े भाई की विधवा से छोटा भाई विवाह कर सकता है, पर किसी भी स्थिति में छोटे भाई की विधवा से बड़ा भाई विवाह नहीं कर सकता। कुकी समुदाय में सामान्यतः बहुविवाह प्रथा है, परन्तु कुछ कुकी जनजातियों में एकविवाह की परंपरा भी है। यह पितृसत्तात्मक समाज है। पिता ही परिवार का

मुखिया होता है, उसी का निर्णय अंतिम होता है। पुत्र पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है। पिता द्वारा लिए गए ऋण का भुगतान करने एवं पिता का अंतिम संस्कार करने का दायित्व भी उसी के कंधों पर होता है। पैतृक संपत्ति पर पुत्री का कोई अधिकार नहीं होता है। किसी व्यक्ति को पुत्र नहीं होने की स्थिति में उसकी मृत्यु के बाद उसकी संपत्ति पर उस वंश के किसी पुरुष सदस्य का उत्तराधिकार होता है, पर सभी कुकी जातियों में उत्तराधिकार के नियमों में एकरूपता नहीं है। कुछ कुकी समुदायों में सबसे बड़ा लड़का अपनी पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है, अन्य लड़कों को कुछ नहीं मिलता है। कुछ कुकी समुदायों में सभी पुत्रों के बीच पैतृक संपत्ति का समान रूप से बंटवारा किया जाता है। उनके पास अपने स्वयं के प्रथागत कानून और ग्राम परिषद हैं। ग्राम प्रधान को "लाल" कहते हैं। गाँव के मुखिया आमतौर पर विवाह और तलाक से संबंधित विवाद सहित सभी प्रकार के सामाजिक और धार्मिक विवादों का निपटान करते हैं। सभी कुकी समुदायों में ग्रामीण प्रशासन चीफ के हाथों में होता है। चीफ का पद आनुवंशिक होता है। चीफ के पास असीमित अधिकार होते हैं। वह झूम खेती के लिए खेतों का चुनाव करता है, विवादों का निपटारा करता है तथा सामाजिक-धार्मिक आयोजनों में निर्णायक की भूमिका का निर्वाह करता है। सभी किसान अपने उत्पादित चावल का कुछ भाग चीफ को देते हैं। ग्रामीणों द्वारा शिकार में मारे गए जानवरों में चीफ का हिस्सा सुरक्षित होता है। चीफ गाँव के अनाथ लोगों की देखभाल करता है, निर्धन लोगों की सहायता करता है तथा असहाय लोगों को शरण देता है। चीफ के निर्णय को चुनौती नहीं दी जा सकती है। कुकी समुदाय में मृत्यु के बाद शव को दफनाया जाता है। किसी की मृत्यु होने पर सभी रिश्तेदारों और मित्रों को सूचना दी जाती है। शव को नए वस्त्र पहनाए जाते हैं तथा उसके हथियार एवं पसंदीदा वस्त्र बगल में रख दिए जाते हैं।

शव के सामने भोज का आयोजन किया जाता है जिसमें भोजन के साथ-साथ मदिरा भी परोसी जाती है। इस जनजाति का विश्वास है कि मृत्यु के बाद व्यक्ति दूसरे लोक की लंबी यात्रा पर जाता है। इसलिए उसे खिला-पिलाकर भेजना चाहिए। किसी नेता, चीफ अथवा ‘लाल’ की मृत्यु होने पर उसके शव के साथ अनेक सिर कब्र में रखे जाते हैं। केवल रोंगखोल समुदाय में शव को जलाया जाता है। रोंगखोल समुदाय ने पूर्ण रूप से हिंदू धर्म को अंगीकार कर लिया है। अतः इस समुदाय में हिंदू धर्म और रीति-रिवाजों के अनुसार अंत्येष्टि क्रिया और श्राद्ध किया जाता है। पारंपरिक रूप से कुकी समुदाय शिव के साथ-साथ हिंदू धर्म के अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे।

कुकी समुदाय एक सर्वोच्च ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करता है। इनकी मान्यता है कि यह सर्वोच्च ईश्वर कल्याणकारी है। धार्मिक दृष्टि से कुकी समुदाय प्रकृतिपूजक अथवा जड़तमवादी है। येलोग सर्वोच्च ईश्वर को पथिएन कहते हैं। ये लोग पुनर्जन्म, आत्मा, स्वर्ग, नरक की अवधारणा में आस्था रखते हैं। ये लोग प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-अर्चना करते हैं। इनके अतिरिक्त पहाड़ों और वनों में रहनेवाले अनेक देवी-देवताओं तथा भूत-प्रेतों के प्रति भी कुकी समाज गहरी आस्था रखता है। पशु-पक्षियों की बलि देकर इन देवी-देवताओं की पूजा की जाती है। इनकी मान्यता है कि कुछ अदृश्य शक्तियां मानव के शरीर और मन पर अमिट प्रभाव डालती हैं। अधिकांश कुकी जनजातियों ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया है, परन्तु ईसाईकरण के बावजूद वे अपने पारंपरिक विश्वासों, विधि-निषेधों और रीति-रिवाजों का पालन करती हैं। पूजा-अर्चना के अवसर पर पर्याप्त मात्रा में मदिरापान किया जाता है। सभी महिलाएं धार्मिक उत्सवों में सम्मिलित होती हैं तथा पुरुषों की अपेक्षा अधिक मात्रा में मदिरापान करती हैं। पूजा कराने

के लिए वंशानुगत पुजारी की परंपरा नहीं है, गाँव के लोग ही अपने बीच में से किसी व्यक्ति को पुजारी के पद के लिए चुन लेते हैं। कुकी जनजाति का विश्वास है कि मृत्यु के उपरांत मानव की आत्मा इति-कुआ में जाती है। यह स्वर्ग जैसा ही है। यहाँ मनुष्य शांतिपूर्ण अपना जीवन व्यतीत करता है। सज्जन लोग इति-कुआ में जाते हैं जबकि दुर्जनों के लिए इसमें प्रवेश करना असंभव है। जिन लोगों की मृत्यु जानवरों के मारने से होती है उनके लिए इति-कुआ में प्रवेश प्रतिबंधित है। वे लोग सरा-कुआ में जाते हैं। सरा-कुआ में अशांति, कष्ट और संघर्ष है। कुकी लोग बैशाख महीने में शिव अथवा पथियन अथवा तर्पा की पूजा करते हैं। वे पूजा के समय पथियन को भैंस की बलि देते हैं। भैंस की बलि देते समय कुछ मंत्र भी पढ़े जाते हैं। शिव अथवा पथियन अथवा तर्पा के प्रतीक के रूप में एक पात्र में जल रखा जाता है। भैंस को बलि देते समय चार मुर्गे और चार बोतल स्थानीय मदिरा की आवश्यकता होती है। पूजा के समय निम्नलिखित मंत्र पढ़े जाते हैं-

“हे राम पथिएन ओमलोसो”-इस मंत्र का अर्थ है हे राम पथिएन ! आइए और यहाँ बैठिए। पूजा के उपरांत पात्र में रखे जल की जाँच की जाती है। यदि जल का स्तर बढ़ा हुआ होता है तो माना जाता है कि पूजा का परिणाम अच्छा है और पथिएन पूजा से प्रसन्न हैं, लेकिन जल स्तर में घटाव से संकेत मिलता है कि पथिएन पूजा से संतुष्ट नहीं हैं। इसके अतिरिक्त भी कुकी समुदाय अनेक पूजा और अनुष्ठान आयोजित करता है।

लक्ष्मी पूजा-अग्रहायण माह में फसल तैयार हो जाने पर लक्ष्मी पूजा का आयोजन किया जाता है। लक्ष्मी पूजा के समय एक सूअर, पंद्रह बोतल चावल से बनी मदिरा, बारह मुर्गा, चार बकरियां, दो बत्तख और एक अंडे की आवश्यकता होती है। नए पात्र में नई फसल का चावल रखा जाता है और चावल पर अंडा रखा जाता है। इसके

बाद बारी-बारी से गंगा, थूनीराव, बनीराव, बुराचा इत्यादि की पूजा की जाती है। इसके बाद देवी अर्तकी के नाम पर दो बकरियों की बलि दी जाती है, जम-दुदु काल-दुदु देवता को बत्तख की बलि दी जाती है। देवी लक्ष्मी के आसन को फूल-पत्तों से सजाया जाता है और उनकी पूजा की जाती है। चुपके से शैतानी ताकतों की भी पूजा की जाती है।

इंद्राय-इंद्राय कुल देवता हैं। प्रत्येक परिवार द्वारा सुख-शांति और कल्याण के लिए वर्ष में एक बार इंद्राय की पूजा-अर्चना करता है।

रोदोना-सावन माह की समाप्ति पर रोदोना देवता की पूजा की जाती है। रोगों से रक्षा और परिवार के सौभाग्य की कामना से साल में एक बार रोदोना की पूजा की जाती है।

त्वालपथिएन-गाँव के बुजुर्गों द्वारा निर्धारित तारीख को वर्ष में कभी भी त्वालपथिएन की पूजा की जा सकती है। पूजा के एक दिन पहले देवता को आमंत्रित किया जाता है और उनसे अनुरोध किया जाता है कि वे पूजा के अवसर पर उपस्थित होकर अर्पण को ग्रहण करें और अपना आशीर्वाद दें।

दाईरोई-यदि कोई व्यक्ति किसी कामना की पूर्ति के लिए

मन्नत मानता है और उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है तो वह दाईरोई की पूजा करता है। यह पूजा जंगल में आयोजित की जाती है। इस अवसर पर बकरी की बलि दी जाती है।

खवाहुलाल-यह कुकी समाज के ग्राम देवता हैं। जहाँ त्रिपुरा के अन्य आदिवासी समुदाय केरपूजा करते हैं, कुकी लोग खवाहुलाल की पूजा करते हैं। जिस दिन खवाहुलाल की पूजा होती है उस दिन कोई भी व्यक्ति सुबह से रात तक जब तक पूजा समाप्त न हो जाए, गाँव में प्रवेश नहीं कर सकता है। यह पूजा गाँव की भलाई और सुख-शांति के लिए की जाती है।

झूम पूजा-झूम खेती के समय कुकी समुदाय झूम पूजा करता है। सर्वप्रथम झूम खेती के लिए खेत का चुनाव किया जाता है। खेत के जंगल को साफ़ करने से पहले खेत में केला के दो पेड़ लगाए जाते हैं, तदोपरांत झूम पूजा की जाती है। वर्तमान में कुकी जनजाति बहुत बड़ी संख्या में ईसाई धर्म को अपना चुके हैं। जिन लोगों ने ईसाई धर्म को अपना लिया है वे प्रत्येक रविवार को चर्च में जाते हैं। वे ईसाई धर्म संबंधी सभी त्योहार मनाते हैं। कुकी संगीत और नृत्य के शौकीन हैं। वे झूम खेतों में कड़ी मेहनत करते हैं और सामुदायिक स्तर पर नृत्य और संगीत का आनंद लेते हैं। 6

संदर्भ:

1. श्री राम गोपाल सिंह-द कुकीज ऑफ़ त्रिपुरा
2. उपर्युक्त
3. उपर्युक्त
4. उपर्युक्त
5. उपर्युक्त
6. श्री वीरेन्द्र परमार-उत्तर-पूर्वी भारत के आदिवासी (2020)-मित्तल पब्लिकेशन, नई दिल्ली



दलित समाज के यथार्थ को उद्घाटित करती कविता : इकतारा

अनुज कुमार

शोधार्थी(पी-एच.डी.)

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

मो. 7982232667

ई.मेल- anujk401@gmail.com

कविता अनुभूति की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। जिसकी सार्थकता अनुभूति की प्रामाणिकता पर टिकी है। अनुभूति की प्रामाणिकता का प्रश्न नया नहीं है। नई कविता के संदर्भ में नामवर सिंह और मुक्तिबोध ने अनुभूति की प्रामाणिकता पर विस्तार से चर्चा भी की है। गैर-दलितों द्वारा दलितों के जीवन को केंद्र में रखकर लिखी गई कविताओं में अनुभूति की प्रामाणिकता का अभाव स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। किन्तु कवि एक संवेदनशील प्राणी होता है और वह दूसरों के दुखों की अनुभूति कर कविता लिख सकता है किन्तु उसकी अनुभूति की कुछ सीमाएं होंगी। जिसका अतिक्रमण वह चाहकर भी नहीं कर सकता। जाति और उसके आधार पर होने वाले

शोषण का एक लंबा इतिहास रहा है। जिसे दलित समाज ने भोगा है। और इस भोगी हुई पीड़ा को रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त भी किया है। इस दृष्टि से हम प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'इकतारा' कविता को देख सकते हैं। जो कि उनके काव्य-संग्रह 'चमार की चाय' में संकलित है।

प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने दलित समाज के सच को पकड़कर अपनी कविता 'इकतारा' का सृजन किया है। जिसमें उन्होंने अपनी कहानी के माध्यम से पूरे दलित समाज की वास्तविक स्थिति का अंकन किया है। यह एक लंबी कविता है। जिसमें एक लय है और यह

लय पाठक को अपनी दुनिया में ले जाती है जहां उसका साक्षात्कार जाति के बीहड़ और खुदरे इलाकों से होता है। इस दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कविता बन पड़ी है।

दलित समाज श्रम का समाज रहा है। उसने अपनी जीविका श्रम से कमाई है। किन्तु ब्राह्मणीय परजीविता ने दलित समाज के श्रम को हीन दृष्टि से देखा और उसकी उपेक्षा कर अपनी परजीविता का महिमामंडन कर पूजनीय बन गया। और ईश्वरीय मिथकों का ऐसा जाल बुना जिसमें दलित मानस कहीं उलझ कर रह गया। किन्तु इकतारा कविता द्विजों की परजीविता को नकार कर अपने श्रम पर गौरव करने का आह्वान करती है-

प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने दलित समाज के सच को पकड़कर अपनी कविता 'इकतारा' का सृजन किया है। जिसमें उन्होंने अपनी कहानी के माध्यम से पूरे दलित समाज की वास्तविक स्थिति का अंकन किया है। यह एक लंबी कविता है। जिसमें एक लय है और यह लय पाठक को अपनी दुनिया में ले जाती है जहां उसका साक्षात्कार जाति के बीहड़ और खुदरे इलाकों से होता है। इस दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कविता बन पड़ी है।

"जन्म हुआ उस घर में मेरा,
श्रम सेवा कर जीता है,
मैं कहता हूं गौरव है यह,
द्विजन कहें नीचता है।"(1)

जाति पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंश परंपरा के रूप में अस्तित्व में रही है। जाति व्यक्ति की सामाजिक हैसियत तय करने का ब्राह्मणीय टूल है जिसने दलित समाज को नीच घोषित कर उसे अछूत बना दिया। वहीं इस व्यवस्था ने कुछ तथाकथित जाति विशेष का महिमामंडन कर उसे श्रेष्ठता के सिंहासन पर बैठा दिया।

जिसके कारण जाति से जुड़ा श्रेष्ठता और हीनता का बोध समाज में निर्मित हुआ। और यह बोध ही व्यक्ति के

अस्तित्व को निर्धारित करने लगा। कार्ल मार्क्स के अनुसार- “मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उल्टे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है।”(2) दलितों का सामाजिक अस्तित्व तो जाति-व्यवस्था के भेंट चढ़ गया। जिसने उनके सामाजिक स्तर को सबसे निचले पायदान पर धकेल दिया। उन्हें सम्मान के स्थान पर अपमान मिला। किन्तु डॉ. भीम राव आंबेडकर ने जातिव्यवस्था का विरोध कर सामाजिक बराबरी की अलख जगाई जिसने दलित समाज में चेतना का संचार किया। कवि ‘बेचैन’ इस तथ्य को अपनी कविता में लाते हैं और बाबा साहब के विचारों को आत्मसात करते हुए कहते हैं-

“मान किया जिसका भी मैंने,
उसने क्यों अपना नाम किया ?
आज मिली है लेकिन-
मुझको, सही विचारों की धारा।।
तुन-तुन तुन-तुन
तुनन-तुना तुन
बोल रहा है इकतारा।।”(3)

लोकतंत्र में बोलने का अधिकार है किंतु प्रस्थापित व्यवस्था उसे सुनना नहीं चाहती। हिंदी दलित कविता इस प्रस्थापित व्यवस्था में बोलने के साथ-साथ उसकी बात को कोई सुने इसके कर्तव्य का बोध भी कराती है। इस प्रकार हिंदी दलित कविता संवैधानिक लोकतंत्र को व्यावहारिक बनाने का उपक्रम करती है। लोकतंत्र का मूल बीज साझेदारी की भूमि में जन्म लेता है। और यह साझेदारी सभी संसाधनों में हिस्सेदारी की मांग को पूरा करने का संघर्ष करती है। प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन की ‘इकतारा’ कविता समाज को लोकतांत्रिक बनाने वाले मूल्यों की पक्षधरता में निर्मित ऐसे संविधान का खुले हृदय से स्वागत करती है। संविधान ही वह दस्तावेज है जिसने दलित समाज के उत्थान में व्यावहारिक हस्तक्षेप किया है-

"किस के लिए बुद्ध की करुणा,
ईस-मोहम्मद का साया।
कोई संत महंत दलित
की गरिमा नहीं लौटा पाया।।
मानव-मानव में समता ले
आया संविधान प्यारा।।"(4)

यह कविता दलित समाज की विवशता, अभिलाषा और उनकी दयनीय स्थिति को रेखांकित कर संवेदना की मार्मिक पुकार से पाठक को प्रभावित करती है। यह पुकार पाठक को दलित समाज की सच्चाई सुनाती है। ऐसी सच्चाई जिसे परंपरावादी साहित्यकारों ने छुपा कर रखा। यह कविता मनुष्य की कृत्रिम पहचान अर्थात् जाति को नकार कर, जो कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था की देन है उसे उसकी प्राकृतिक पहचान अर्थात् मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकारने की पैरवी कर शोषण मुक्त मानव का आदर्श प्रस्तुत करती है जिसे निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है-

"भेदभाव सदियों से जारी,
सभी मिटाए जायेंगे
शोषण से अब मुक्त हों मानव,
गीत खुशी गाएंगे।।"(5)

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के भीतर जातीय उत्पीड़न का लंबा इतिहास है। किंतु जातीय उत्पीड़न का प्रतिरोधी स्वर कहीं न कहीं उतना मुखर कभी नहीं रहा जितना कि अब देखने को मिलता है। इसका मुख्य कारण डॉ. भीम राव आंबेडकर द्वारा शिक्षा का संवैधानिक हथियार दलित समाज के हाथों में देना है। पढ़ी-लिखी पीढ़ी जब साहित्य के क्षेत्र में आयी तो उसने शोषण की हर परत को अपनी कविताओं के माध्यम से उघाड़ कर रख दिया। सत्ताधारियों के नकाव को कुछ इस प्रकार कवि ने उतारा है-

"बना हड्डियों का सिंहासन,
दिल्ली में वे बैठे थे।

हम इस पार अंधेरे में,
वे अति प्रकाश में ऐंठे थे।।
भोग विलास भरा महलों में,
कुटिया का सुख छीन लिया।
सचाई पर पर्दा डाला,
झूठ को बना मशीन लिया।(6)

धार्मिक ग्रंथों में पवित्र और अपवित्र की जो धारणा है उसमें गुलामी के बहुत ही महीन सूत्र छुपे हुए होते हैं। ये सूत्र अक्सर सत्ताधारियों की विचार प्रणाली में निहित स्वार्थों की पूर्ति ही नहीं करते अपितु गुलाम को गुलामी का एहसास तक नहीं होने देते। यह एक ऐसा षड्यंत्र है जिसमें शोषित को अपना शोषण भी जरूरी लगने लगता है। वह अपने शोषण को शोषण ही नहीं मानता। क्योंकि उसे धार्मिक ग्रंथों में लिखी अवैज्ञानिक अपवित्रता जैसी सहिंताओं का ईश्वरीय शहद जो चटाया जाता है। किंतु यह कविता शोषित को शोषण का एहसास कराती है। साथ ही जिसने यह षड्यंत्र रचा है उसका उल्लेख भी करती है-

“राजपुरोहित ही था माहिर,
उल्टा पाठ पढ़ाने में।।
गौरव था भाई-भाई को,
छूत-अछूत बताने में।”(7)

सत्ता अपने द्वारा किए गए शोषण पर पर्दा डालने हेतु एक ऐसे दर्शन का निर्माण करती है जिसमें सब स्वाभाविक लगता है। शोषण के बारीक सूत्रों की पहचान अपने आप में एक जटिल प्रक्रिया है। शासक वर्ग समाज को नियंत्रित करने के लिए कला का सहारा भी लेता है और उस कला के माध्यम से वह अपनी विचारधारा का ऐसा स्वरूप तैयार करता है जो सभी को बहुत ही स्वाभाविक लगता है। जाति से जुड़ा ऊंचा और नीचा का कॉन्सेप्ट भारतीय समाज की मानसिकता में जड़ जमाए बैठा है। जिसका स्रोत हिंदू धर्म और उसकी संस्कृति है जिसे इतना व्यावहारिक बना दिया गया है कि सब स्वाभाविक लगता है। किंतु हिंदी दलित कविता

इसकी स्वाभाविकता पर चोट करती है। वह उन तमाम ग्रंथों में लिखी मान्यताओं को नकारती है जो जाति आधारित श्रेष्ठता को महत्व देती है। साथ ही धर्म के ठेकदारों के बुने हुए जाल को सामने रखती है-

“धर्म-अंध जब लगे डराने,
घोर नरक में जाएगा।
रस्म रिवाजों को तोड़ेगा,
बुरा नतीजा पाएगा।।(8)

दलित समाज की दुर्दशा का मुख्य कारण वर्ण-व्यवस्था रही है। जिसने समाज में अंधविश्वास, भेदभाव, अशिक्षा और गुलामी के बीजों को बोया है। जिसकी भूमि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने तैयार की है। डॉ. भीम राव अंबेडकर ने कहा है कि- “जब मैं यह कहता हूँ कि ब्राह्मणवाद ने वर्ण को जाति में बदल दिया, तब मेरा आशय यह है कि इसने पद और व्यवसाय को वंशानुगत बना दिया है।”(9) भारत में लोकतन्त्र को स्थापित हुए सत्तर वर्ष से ऊपर हो गए हैं किन्तु भारतीय मानस आज भी चातुर्यवर्ण की मानसिकता से ग्रस्त है-

“कुछ भी बदला नहीं गाँव में
वर्ण-व्यवस्था वही रही।”(10)

इस कविता की यदि गहराई को समझना है तो दलित की पीड़ा का अनुभव करना होगा। शरण कुमार लिंगबाले ने सही कहा है कि- “दलित लेखकों के अनुभव की जात, अनुभव की तीव्रता, अनुभव की भाषा, अनुभव का संदर्भ और अनुभव की अभिव्यक्ति, इन सबका पूर्ण आकलन हुए बिना दलित साहित्य की गहराई से समीक्षा करना संभव नहीं है।”(11)

यह कविता शोषित समाज को जगाने का भरसक प्रयास करती है। कवि का मानना है कि जाग्रति के अभाव में ही दलित समाज का अस्तित्व और अस्तित्व की तलाश का जो सामर्थ्य है वह कहीं खो गया है। इसीलिए वह जाग्रति का बिगुल बजाता है।

क्योंकि यदि समाज जाग्रत नहीं हुआ तो सब समाप्त हो जाएगा-

“जागरूकता के अभाव में
स्वत्व गए सामर्थ्य गई”(12)

कवि ‘बेचैन’ में कबीर जैसी निडरता है। वह शोषणकारी व्यवस्था से टकराने से बिल्कुल नहीं घबराते हैं। हार मानना उन्हें बर्दाश नहीं है। जाहिर है उन्हें यह ताकत बाबा साहब के विचारों और उनके जीवन संघर्ष से मिली है। साथ ही अपनी बात रखने का जज्बा संविधान से ऊर्जा ग्रहण कर रहा है-

“हार मान कर पीछे लौटूँ-
रुकना मौत समान है तो
कफन बांध कर साथ
में आए चलने को तैयार हैं जो॥”(13)

भारत का जो प्राचीन इतिहास है वह मिथकों से भरा हुआ है। पौराणिक कथाओं को चमत्कार का लेप लगाकर परोसा गया है। जिसमें विश्वनीयता का अभाव है। जिसके कारण डॉ. भीम राव अंबेडकर ने इसे इतिहास ही नहीं माना है- “प्राचीन भारत के इतिहास का काफी हिस्सा बिल्कुल भी इतिहास नहीं है। ऐसा नहीं है कि प्राचीन भारत बिना इतिहास के है। प्राचीन भारत का बहुत सारा इतिहास है। लेकिन वह अपना स्वरूप खो चुका है। महिलाओं और बच्चों का मनोरंजन करने के लिए इसे पौराणिक आख्यान बना दिया गया है। ऐसा लगता है ब्राह्मणवादी लेखकों ने जान बूझ कर ऐसा किया है।”(14) कवि ‘बेचैन’ इस झूठे इतिहास का खंडन करते हैं। यह ऐसा इतिहास है जिसमें न कोई तर्क है और न ही कोई वैज्ञानिकता है। वह मात्र कपोल कल्पित कहानियाँ मात्र हैं-

“पिछड़ गया विज्ञान हमारा,
अर्वाचीन समझदारी।
कानों से अब पुत्र नहीं,

पैदा करती माता कुंवारी॥

फ़सलें ही फ़सलें उगती हैं,
सीता उगती एक नहीं॥
धरती से बच्चे उगने का
रहा कोई उपदेश नहीं॥
तुलसीदास का कव्य-कर्म
क्यों झूठा साबित करता है ?
रामराज बस राज राम का,
निष्कासन सीता का है।(15)

गैर-दलित साहित्यकार या आलोचक अक्सर हिन्दी दलित कविता पर शिल्प और सौन्दर्य की अनगढ़ता का आरोप लगाते हैं। उसका मूल्यांकन परंपरावादी काव्यनुशासन के आधार पर करने का निरर्थक प्रयास करते हैं। हिन्दी दलित कविता के शिल्प से ज्यादा महत्वपूर्ण है उसका कथ्य। और उसका कथ्य सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक रूप से दमित व शोषित वर्ग के जीवन का यथार्थ है जिसे मुख्य धारा के मठाधीशों ने अपने जाल में फसाकर रखा। हिन्दी दलित कविता में प्रयुक्त शब्द, मात्र शब्द नहीं होते अपितु वे प्रतीक होते हैं और वे प्रतीक व्याख्या की मांग करते हैं। इस दृष्टि से ‘इकतारा’ कविता को देख जा सकता है-

“कुर्बानी नाकाम हुई या
गुस्ताखी मौसम ने की।
काँटों पर शवाब आया है,
बिगड़ी हालत कलियों की।”(16)

मौसम यहाँ सत्ताधारी वर्ग का प्रतीक है। जिसने देश के विकास की बागडोर तो अपने हाथों में ली किन्तु इसके द्वारा उसने अपनी स्वार्थ सिद्धि के मार्ग को प्रशस्त कर संसाधनों पर कब्जा जमाये रखा। जिससे दलित समाज की स्थिति में जो सुधार आना था वो नहीं आ पाया। उनकी बस्तियाँ आज भी जला दी जाती हैं, मूछ रखने पर अब भी पीटा जाता है, दलित सरपंच महिला

को कुर्सी पर नहीं बैठने दिया जाता है, जातीय शोषण अब भी मौजूद है, शिक्षा का अभाव अब भी बना हुआ है। कवि ‘बेचैन’ एक जागरूक कवि हैं जो इन स्थितियों को बखूबी देख-समझ रहे हैं। और अपनी कविता में इन्हें पिरो रहे हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में कांटे शोषक और कलियाँ शोषित समाज का प्रतीक हैं।

सामाजिक विषमताओं और विद्रुपताओं के नग्न यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए कवि श्यौराज आम बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग करते हैं। जिसमें समसामयिक भारत की वास्तविक तस्वीर के दर्शन होते हैं। दरअसल यह कविता उस सत्ताधरी वर्ग से संवाद करती है जिसके मुख में सबका साथ सबका विकास जैसे मंचीय जुमलें रहते हैं। जिनका प्रयोग कर वे अपने वोट बैंक को बढ़ाते हैं। किन्तु इन नीतियों का कार्यान्वयन नहीं हो पाता-

“अभी उदासी है गांवों में,
हैं मजदूर किसान दुखी।
फुटपार्थों पर आकर देखो।
असली सूरत भारत की।”(17)

कवि ‘बेचैन’ भाषा का संवेदात्मक प्रयोग कर उस हृदय में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना का संचार करना चाहते हैं। जिसने मानवतावादी दृष्टिकोण को तिलांजलि देकर उसे हासिए पर ढकेलने का हर संभव प्रयास किया है। उनके लिए जाति, धर्म की संकीर्ण दीवारों से घिरा व्यक्ति मात्र बेचारा है। साथ ही इकतारा अपने ज्ञान के आलोक में समस्त मानव जगत को प्रेम का संदेश दे रहा है। कवि बेचैन कहते हैं-

“प्यार प्यार सब कहते फिरते
करता कोई प्यार नहीं
गैर धर्म गैर कोम का
महापुरुष स्वीकार नहीं

भेदभाव रूढ़ी रस्मों से
प्रेम करे सो बेचारा
तुन तुन तुन तुन
तुनन तुना तुन
बोल रहा है इकतारा..”(18)

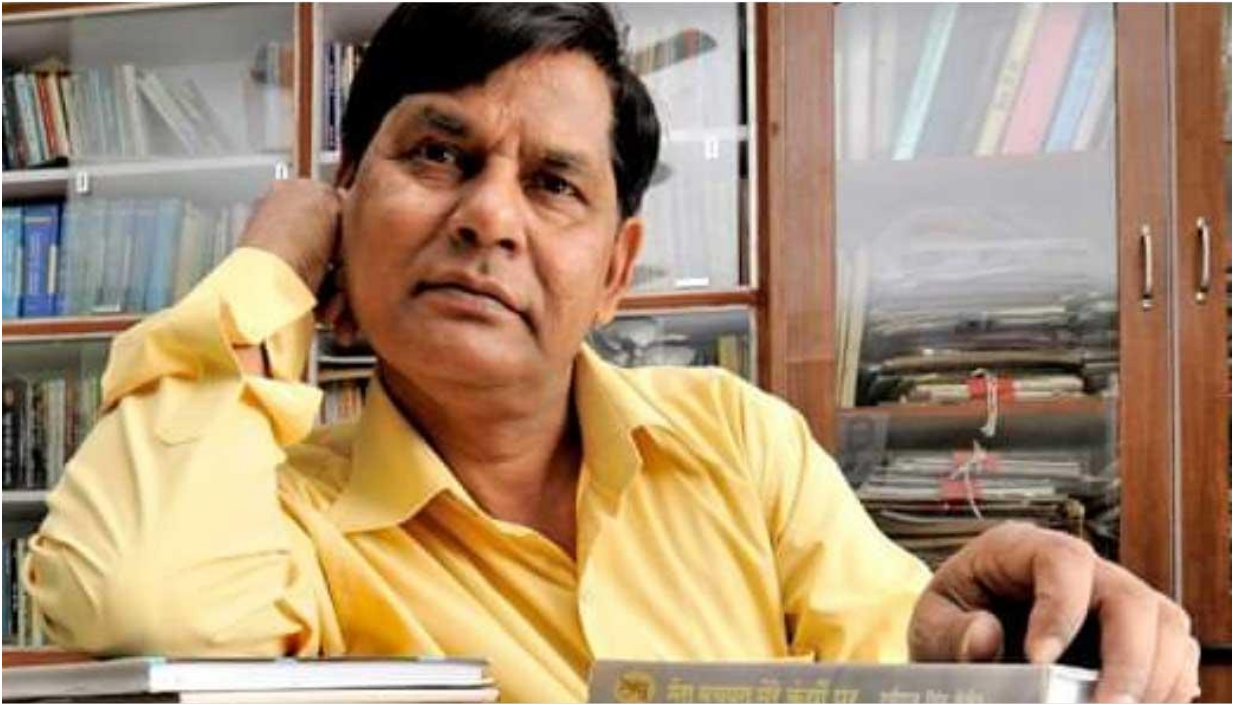
विविधता भारतीय समाज की ऐसी सच्चाई है जिसे नकारना एक बेईमानी है। किन्तु इस विविधता को लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सभी संसाधनों में हिस्सेदारी नहीं मिली। देश को अंग्रेजों से मात्र आजादी मिली। सत्ता का हस्तांतरण हुआ और वह स्वर्ण समाज की बपौती बन कर रह गई। ऐसी आजादी को कवि आजादी नहीं मानता है। आजादी का अर्थ सम्पूर्ण मानवता की आजादी से है। जिसमें सभी समाजों का विकास एक धारा में बहे। इसलिए कवि अपनी कविता में इस सच को सामने रखते हुए कहता है-

“मिली सियसियों को आजादी
हम-समाज ने क्या पाया ?
मिली विरासत में बदहाली
घोर गुलामी का साया।”(19)

इस प्रकार यह कविता व्यवस्था की नाकामियों पर पड़े पर्दे को उठाकर पाठक को यथार्थ से रु-ब-रु कराती है। साथ ही जातिव्यवस्था की भेदभाव पूर्ण नीति और उसका खंडन, दलित समाज के जीवन का संघर्ष, शोषण के कारण और उनका निवारण ढूंढने का प्रयास करती है। इस कविता में जो ‘इकतारा’ है वह चेतना का प्रतीक है। जो दलित समाज को सजक करने हेतु तत्पर है। चेतना सम्पन्न इकतारा दलित समाज को जागरूक कर सत्ताधारियों के सिंहासन को उखाड़ने का आवाहन करते हुए अपने अधिकारों के प्रति सचेत करता है। साथ ही मानवोचित मूल्यों की पैरवी करते हुए मानव मुक्ति का सपना सजा कर लोकतान्त्रिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है।

संदर्भ-सूची

1. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 41
2. ब्ला.ई. लेनिन-संकलित रचनाएं, खंड 5, प्रगति प्रकाशन मास्को, पृ. 32-33
3. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ.41
4. वही,पृ. 44
5. वही, पृ 62
6. वही, पृ.62
7. वही,पृ.55
8. वही,पृ.48
9. डॉ. आंबेडकर वाड्मए, सामाजिक न्याय और अधिकारिकता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, खंड-7 आठवाँ-संस्करण, फरवरी 2014, पृ.169
10. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ.44
11. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, डॉ. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2016, पृ. 63
12. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ.44
13. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 42
14. डॉ. आंबेडकर वाड्मए, सामाजिक न्याय और अधिकारिकता मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, खंड-7 आठवाँ-संस्करण, फरवरी 2014, पृ.16
15. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 58-59
16. वही, पृ. 43
17. वही, पृ. 60
18. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ. 42
19. प्रो. श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, चमार की चाय(काव्य संग्रह), वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2017, पृ.42



हिंदी कथा - साहित्य में दलित स्त्री

डॉ. अमृता सिंह

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

कश्मीर विश्वविद्यालय

श्रीनगर, कश्मीर

ईमेल-amrita.ku26@gmail.com

वै

दिक काल से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था के चलते हमारे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग जाति भेद के आधार पर उपेक्षित होता आ

रहा है। अस्पृश्य या अछूत समझा जाने वाला यह वर्ग सामाजिक स्तर पर सदा हाशिए पर रहा। ‘दलित’ नाम से सम्बोधित किए जाने वाले इस वर्ग को सदैव जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रहना पड़ा। इस वर्ग को सार्वजनिक स्थानों और सुविधाओं का उपयोग करने का अधिकार प्राप्त न था। धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना व मंदिरों में भी उनका प्रवेश निषेध था। गाँव में सवर्णों हेतु बनाए सार्वजनिक कुँओं से पानी लेने का भी उन्हें कोई अधिकार नहीं था

और यदि वे कभी जाने-अनजाने ऐसा करते तो घोर दण्ड के भागी बनते। इतना ही नहीं अन्य जातियों के सम्पर्क से दूर रखने के लिए इनके आवास या बस्तियाँ गाँव के बाहर बनाई जाती थीं। इसके अतिरिक्त जहाँ शिक्षा प्राप्त करना

उनके लिए प्रतिबंधित था वहीं अपना स्वतंत्र व्यवसाय करने की छूट भी इन्हें प्राप्त न थी। ये जातियाँ केवल प्रदत्त परम्परागत कार्य ही कर सकती थीं। इसी जातिगत संकीर्ण मानसिकता के चलते सवर्ण-अवर्ण की परछाई से भी दूर भागते। इतना ही नहीं चूहड़े, चमार जैसे शब्दों से सम्बोधित कर उन्हें उनकी हीनता का अहसास दिलवाया जाता। इस जाति को सदा से इतना दबाया गया है कि उच्च जाति द्वारा इन्हें मारना-पीटना तथा हर

पितृसत्तात्मक समाज होने के कारण नारी निरंतर शोषित होती रही है, परन्तु दलित स्त्री दोहरी मार झेलती आई है क्योंकि, एक ओर तो उसे ब्राह्मणवाद का शिकार होना पड़ा और दूसरी ओर पितृप्रधान समाज का

प्रकार से शोषित करने के कारणों में उनका मात्र ‘दलित’ होना ही पर्याप्त माना जाता है। वहीं ये लोग भी मानो इसे अपनी नियति मान चुके थे, तभी तो दिन-रात ज़मींदारों

के घरों और खेतों में काम करने या कहा जाए कि ‘बेगारी’ करने के पश्चात् उन्हें जो भी पारिश्रमिक मिलता उसे चुपचाप स्वीकार कर लेते थे।

यह सर्वविदित सत्य है कि हमारा सभ्य कहलाया जाने वाला समाज व्यक्ति की श्रेणी और सामर्थ्य उसकी जाति से तय करता है, न कि उसकी क्षमता से। हमारे समाज में निर्धनता और अभाव से निबटा जा सकता है पर जाति से पार पाना कठिन है, क्योंकि आर्थिक

समानता वर्ग-भेद तो समाप्त कर सकती है, परन्तु जाति भेद नहीं। इसी जाति भेद से पार पाने हेतु डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सशक्त रूप से दलितों को उनके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अधिकार दिलवाने का कानूनन बेड़ा उठाया।

महात्मा ज्योतिबा फुले तथा रमाबाई फुले ने भी इस वंचित तथा दबे-कुचले समुदाय को ऊपर उठाने हेतु कई ऐतिहासिक कार्य किए। एक ओर समाजसुधारकों ने दलितों के हितों के लिए संघर्ष किया, वहीं साहित्यकारों ने अपनी संवेदनात्मक रचनाओं के माध्यम से दलितों की सामाजिक विषमताओं, विसंगतियों, शोषण, उत्पीड़न आदि को उजागर किया।

दलित साहित्य लेखन का आरम्भ मराठी भाषा में 1960 के आसपास माना जाता है। मराठी भाषा में रचित डॉ. अम्बेडकर की आत्मकथा ‘मी कसा झाला’ तथा हिन्दी में हीरा डोम की कविता ‘अछूत की शिकायत’ से दलित-साहित्य का प्रारम्भ हुआ। सन 1980 के पश्चात् हिन्दी दलित साहित्य में आत्मकथा, कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता जैसी कई विधाओं में रचनाएँ रची गईं। हिन्दी में दलित आत्मकथा लेखन का आरम्भ मोहनदास नैमिशराय की ‘अपने-अपने पिंजरे’ (1995) से माना जाता है। सन 1997 में आई ओमप्रकाश वाल्मीकी की आत्मकथा ‘जूठन’ दलित संघर्ष और विमर्श का प्रमाणिक दस्तावेज है। इनके अतिरिक्त कौशल्या बैसंत्री की ‘दोहरा अभिशाप’ (1999), के. नाथ की ‘तिरस्कार’ (1999), ‘जाति अपराध’ (2005), ‘काँटों में उलझता जीवन’ (2011), ‘चरवाहा’ (2013), माता प्रसाद की ‘झोंपड़ी से राजभवन’ (2002), सूरजपाल चौहान की ‘तिरस्कृत’ (2002), ‘संतस’ (2006), डॉ. श्यामलाल की ‘एक भंगी कुलपति की अनकही कहानी’ (2004), डॉ. तुलसीदास की ‘मुर्दहिया’ (2010) इत्यादि कई आत्मकथाएँ हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं। दलित चेतना को विकसित करने में कहानीकार, नाटककार और उपन्यासकार भी पीछे नहीं रहे। उधर दलित विमर्श को समृद्धि के शिखर पर पहुँचाने में कवियों ने भी अत्यंत प्रशंसनीय योगदान दिया। इन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से उन कष्टों, अनुभवों, यातनाओं को समाज के समक्ष उजागर किया है जिनका कारण जाति व्यवस्था रहा है। अनेक रचनाकारों ने अपनी रचनाओं द्वारा इस समाज को अभिव्यक्त करते हुए दलित स्त्रियों की संवेदनाओं, उनकी पीड़ा व संघर्ष को भी शब्दबद्ध किया।

ओमप्रकाश वाल्मीकी का कथन सत-प्रतिशत सत्य

है कि ‘स्त्री दलितों में भी दलित है’ क्योंकि, भारतीय समाज में आध्यात्मिक और दार्शनिक स्तर पर नारी को देवी कहा जाता है किन्तु व्यवहारिक धरातल पर देखें तो वे सदैव पुरुष से निकृष्ट रही हैं। पितृस्तात्मक समाज होने के कारण नारी निरंतर शोषित होती रही है, परन्तु दलित स्त्री दोहरी मार झेलती आई है क्योंकि, एक ओर तो उसे ब्राह्मणवाद का शिकार होना पड़ा और दूसरी ओर पितृप्रधान समाज का। दलित स्त्री को जीवन के प्रत्येक पथ पर प्रताड़ना सहनी पड़ी है। सदियों से होने वाले अपमान, अत्याचार, आर्थिक विपन्नता की संताप-त्रयी ने मानो दलित स्त्री-जाति की चेतना को हर लिया हो। यदि ये महिलाएँ स्वयं पर हो रहे अत्याचारों का विरोध करती हैं तो दण्डस्वरूप उन्हें निर्वस्त्र कर गाँव भर में घुमाया जाता है, उनके अंग भंग कर दिए जाते हैं या उन्हें जिन्दा जला दिया जाता है। इन महिलाओं की सामाजिक तथा पारिवारिक स्थिति को देखकर लगता है कि न तो इनकी अपनी कोई पहचान है और न कोई अस्तित्व। सवर्ण महिलाओं की भांति दलित स्त्रियाँ भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने की इच्छुक रहीं, परन्तु दलित संरचना के भीतर जब यह अवसर पुरुषों को मिलना कठिन रहा तो नारी का आगे बढ़ना बहुत दूर की बात थी क्योंकि, दोहरे भेदभाव को झेल रही दलित महिलाओं की दशा तो और भी बदतर है।

सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक क्षेत्र में दलित महिला की सोचनीय स्थिति को देखकर अनेक साहित्यकारों ने अपनी लेखनी द्वारा उनके उत्पीड़न, संघर्ष व केवल उपभोग की वस्तु समझी जाने वाली नारी की व्यथा को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। जो सामन्तवादी वर्ग ऊँच-नीच के प्रश्न को इतना मानता और उठाता है, दलितों को अपने पास तक से गुजरने पर परहेज करता है उस वर्ग का दोगलापन इस बात से स्पष्ट होता है कि वही दलित महिला पर अपनी

कुदृष्टि डालने से बाज़ नहीं आता। इस सामन्तवादी ढांचे से जुड़े लोग जब दलित स्त्री का शारीरिक शोषण करते हैं तो उस समय जाति या धर्म सब भूल जाते हैं, स्मरण रखते हैं तो केवल अपने भोग-विलास और शारीरिक तृप्ति को। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा ‘जूठन’ में नारी के प्रति हो रहे इस प्रकार के अपराध का चित्रण करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार मास्टर वेदपाल और एक अन्य व्यक्ति अपनी काम संवेदनाओं की तुष्टि करने हेतु रात भर एक स्त्री की अस्मिता से खिलवाड़ करते समय अपनी जातिभेद के खोखले आवरण को उतार फेंकते हैं। मोहनदास नैमिशराय दलित महिलाओं के साथ सवर्णों द्वारा किए जाने वाले अभद्र व्यवहार का चित्रण करते हुए आत्मकथा ‘अपने-अपने पिंजरे’ में लिखते हैं ‘शहर की अन्य दलित बस्तियों की तरह हमारी बस्ती से भी ढेर सारी औरतें जंगल जाती थीं। उन्हें अकेला पाकर उनके शरीर को नोचने के लिए गिद्ध तैयार बैठे रहते थे। उनमें से कुछ बच जाती थी तथा कुछ अपनी इज्जत गवाए बिना भाग आती थीं। मजबूरीवश या कैसे भी जिसने एक बार अपना शरीर उन गिद्धों को दे दिया, फिर लम्बे समय तक उन्हीं महिलाओं को अपना शरीर नुचवाना, खिंचवाना पड़ता था। बस्ती में ऐसी महिलाओं की खूब चर्चा होती थी। कभी-कभी पंचायतें भी बैठ जाती थीं। अकेली महिला को ही नहीं उसके घरवालों पर भी खूब थू-थू होती थी। अस्मत लुटाई महिला की तांक-झांक बस्ती के मर्द भी करते थे।’¹ इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि दलित महिलाएँ न केवल सवर्णों के शोषण का शिकार होती थीं बल्कि स्वयं अपनी जाति के पुरुष भी उनके प्रति असंवेदनशील थे।

दलित साहित्य का समाजशास्त्र कही जाने वाली आत्मकथा ‘मुर्दाहिया’ के लेखक तुलसीराम ने स्वयं अपने पिता द्वारा माता के शोषण का उल्लेख किया है।

लेखक बताते हैं कि यदि उनकी माता बस्ती के किसी भी पुरुष से हँसकर बात कर लेती तो पति द्वारा सरेआम पिट जाती तथा गालियाँ खाती। इसके अतिरिक्त वे आगे लिखते हैं कि यदि बस्ती में किसी भी स्त्री पर अन्य पुरुष से सम्बन्ध की केवल बात ही फैल जाती तो पंचायत उसे कुलटा करार दे, उसके समूचे परिवार को कुजाति घोषित कर देती थी। इस प्रकार का व्यवहार तथा बंधिश केवल महिलाओं के लिए थीं पुरुषों के लिए नहीं।

जैसा कि कहा जाता है कि पुरुषप्रधान समाज में स्त्री का जन्म लेना स्वयं में ही एक अभिशाप है, तो वहीं दलित समाज में जन्मी स्त्री का जीवन दोहरे अभिशाप से ग्रस्त है। दलित परिवार में जन्मी लेखिका कौशलया बैसन्त्री की आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ इसका सशक्त उदाहरण है क्योंकि जहाँ दलित होने के कारण उन्हें बचपन में अध्यापिका तथा समाज के भेदभावपूर्ण व्यवहार का सामना करना पड़ा, वहीं विवाह पश्चात् पति द्वारा मानसिक और शारीरिक यातना भी सहनी पड़ी। इस सन्दर्भ में वह लिखती हैं ‘उसे सिर्फ खाना बनाने तथा शारीरिक भूख मिटाने के लिए पत्नी चाहिए थी। पैसे अल्मारी में ताले में बंद रखता। रोज़ दूध और सब्जी के पैसे देता था ...जब अगले महीने पैसे देने की बात आती तब कुछ-न-कुछ कारण निकाल कर झगड़ा करता। मारने दौड़ता ...’² आलोच्य आत्मकथा में लेखिका ने अपनी तीन पीढ़ियों की स्त्रियों (नानी, माँ तथा स्वयं) की पीड़ा का उल्लेख किया है। उनकी नानी तथा माताजी का जीवन संघर्षमय रहा। विवाहोपरांत पति तथा ससुरालवालों द्वारा मिले अपमान, तिरस्कार व गंभीर यातनाओं का विरोध करते हुए पति का घर त्यागकर अपने आत्मबल और परिश्रम से जीवन यापन करना उनकी स्त्री शक्ति को दर्शाता है तो वहीं इसी प्रकार की पीड़ा से पार पाने में सुशीला जी ने 40 वर्ष लगा दिए। समाज के अन्य वर्गों की भांति दलित समाज में भी

विधवा स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति है। किन्तु कुछ रीति-रिवाजों द्वारा विवाह पश्चात् भी उसे दूसरी स्त्री होने का अहसास सदैव दिलवाया जाता है, जिसका उदाहरण है ‘पाट’ जिसे इस समाज के एक समुदाय द्वारा अनुसरित किया जाता है। इस पुनर्विवाह प्रथा को विवाह न कहकर ‘पाट’ कहा जाता है जिसमें विधवा स्त्री को श्रृंगार करवा, बिना मंडप और बैड-बाजे के रात के समय ससुराल ले जाया जाता है। विवाह या पाट के बाद भी उसके गले में सोने या चाँदी का पेंडेंट पहनाया जाता है जो कि उसके पुनर्विवाह का चिह्न है। इस प्रथा का मार्मिक चित्रण कौशल्या जी की आत्मकथा में देखने को मिलता है।

इसी प्रकार के दोहरे अभिशाप का सामना सुशीला टाकभौर ने भी किया है। वाल्मीकि समाज में जन्मी सुशीला जी का जीवन भी संघर्षपूर्ण रहा। स्त्री जीवन पर रीति-रिवाजों, परम्पराओं के नाम पर लगाई गई रुकावटों, शिक्षा ग्रहण करने तथा स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करने के विरुद्ध लगाए गए प्रतिबंधों तथा दलित जाति में जन्म लेने पर समाज द्वारा लगाई गई बंदिशों के कारण लेखिका को अपना सम्पूर्ण जीवन कई प्रकार के शिकंजों में बंधा हुआ प्रतीत होता रहा। इस विषय में वह कहती हैं ‘मैं स्वयं एक दलित स्त्री हूँ। मैंने अपने जीवन में दलित होने का संताप भोगा है, स्त्री होने की पीड़ा को भी सहा है इसलिए मैं अपनी उन सभी बहनों की पीड़ा और वेदना को जानती हूँ।’³ दलित होने के कारण शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्हें कई प्रकार के हृदयविदारक शोषण व पीड़ा का सामना करना पड़ा जिसका एक उदाहरण है उनके शिक्षक द्वारा उनमें तथा एक गैर-दलित लड़की के नाम के मध्य पहचान बनाए रखने हेतु उन्हें (लेखिका को) सुशीला हरिजन कहकर पुकारना जो कि उनके लिए अत्यंत पीड़ादायक था। शिक्षा से लेकर स्वावलम्बन होकर जीवन जीने में किया गया संघर्ष तथा पति व

ससुरालवालों द्वारा दी गई मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना का उल्लेख करते हुए लेखिका अपनी आत्मकथा ‘शिकंजे का दर्द’ में लिखती हैं “इन शिकंजों की जकड़न से जूझते हुए मैं किस तरह पढ़ सकी, यह मेरी एक लम्बी कथा है। शिकंजे तब भी थे आज भी हैं। शिकंजे के दर्द की कथा चल रही है जिन्दगी के साथ-साथ।”⁴ अतः कहा जा सकता है कि आलोच्य आत्मकथा के माध्यम से लेखिका ने दलित महिलाओं के जीवन संघर्ष, शोषण, प्रताड़ना और उनकी संवेदनाओं का मार्मिक चित्रण किया है।

इसी प्रकार ‘पिंजरे की मैना’ की लेखिका चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने स्त्रियों के प्रति हो रही अवहेलना और भेदभाव भरे व्यवहार को दर्शाया है। लेखिका ने बालिका वधु तथा बाल विधवा के प्रति सास द्वारा किए उपेक्षापूर्ण व्यवहार का उल्लेख किया है। जहाँ एक ओर बालिका वधु के घर आते ही उसकी सास नौकरानी को निकालकर घर का सारा बोझ उसपर डाल देती है। वहीं पुनर्विवाह कर घर लाई गई बाल विधवा को सास सदा शक की नज़र से देखती थी, जिसके चलते वह बच्चों द्वारा उसकी जासूसी करवाती और उसे नीचा दिखाने का कोई न कोई बहाना ढूँढती रहती। ये घटनाएँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि पुरुषप्रधान समाज में स्त्री केवल पुरुषों द्वारा ही नहीं अपितु स्त्रियों द्वारा भी शोषित व प्रताड़ित होती आ रही है।

दलित स्त्री के प्रति हो रहे अन्याय, शोषण को कई उपन्यासकारों ने भी अपनी लेखनी द्वारा प्रस्तुत किया है। लेखक जगदीशचन्द्र ने उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ में पंजाब के एक गाँव घोड़ेवाहा में रहने वाली चमार जाति की समस्याओं के अतिरिक्त वहाँ के चौधरियों द्वारा गाँव की महिलाओं के अपमान और शोषण का मार्मिक चित्रण किया है। गाँव के चौधरियों के लिए चमारों की बहू-बेटियों की इज्जत से खेलना मामूली सी

बात है; तभी तो पहले चौधरी हरनाम सिंह द्वारा प्रीतो और कुछ वर्षों बाद उसके भतीजे चौधरी हरदेव द्वारा प्रीतो की बेटी लच्छो की अस्मिता से खिलवाड़ करने के बाद भी गाँववालों का चुप रहना, उनकी बेबसी और चौधरियों की धाक को दर्शाता है। दलित स्त्री की संघर्ष गाथा को प्रस्तुत करता है मदन दीक्षित का उपन्यास ‘मोरी की ईंट’। प्रतिदिन श्रम और संघर्ष कर आजीविका कमाने वाली दलित स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती मांगिया के माध्यम से लेखक ने उपेक्षित जीवन में नई जगह तलाशती महिला के जीवन का चित्रण किया है। सवर्णों द्वारा नारी देह पर अपना अधिकार जताते हुए दलित महिलाओं के पतियों को लालच देकर उनकी पत्नियों की अस्मिता से खेलना उनके लिए मात्र खेल था। यथा “साहू कन्हेयालाल हेल्थ कमेटी का अध्यक्ष होने के नाते दलित स्त्रियों पर अपने अधिकार को मुफ्त की रोटी की कीमत पर पतियों को बरगलाकर प्राप्त कर लेता है।”⁵ रांगेय राघव के उपन्यास ‘कब तक पुकारूँ’ के इस उदाहरण “धूपो को लेकर जो मारो ने दरोगा और उसके उन आदमियों से, जिन्होंने धूपो का सतीत्व नष्ट किया था, बदला लेना चाहा तो उस पर मनमाने अत्याचार ढाए गए। खंजेरा जेल भेज दिया गया। सारे चमारों की खेती काट ली गई।”⁶ द्वारा यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार स्त्रियों के साथ किए गए अभद्र व्यवहार के बाद अपराधियों को दण्डित करने की अपेक्षा पीड़ितों पर ही अत्याचार किया जाता है।

यादवेन्द्र शर्मा ‘चन्द्र’ के उपन्यास ‘हजार घोड़ों का सवार’ में दलित महिलाओं को पीने के पानी के लिए भी उच्च जातियों के समक्ष गिड़गिड़ाना पड़ता है। अपनी इसी वेदना को प्रकट करते हुए एक दलित स्त्री पात्रा का कथन “यदि मिनख जून में किसी के जलम लेना है तो वह बामण, बणिया, या राजपूत के घर में ही जलम ले। चमार, धानक, सांसी, भंगी, थोरी के घर में पैदा होने से

तो अच्छा है कि पाखी पखेरू की जून में पैदा हो।”⁷ उनकी प्रताड़ना को प्रकट करता है। ‘गुलाम मंडी’ उपन्यास में निर्मला भुराड़िया ने ताईजी के माध्यम से इस प्रकार के भेदभाव पूर्ण व्यवहार का उल्लेख किया है। कल्याणी द्वारा छोटी जाति की जानकी को गोद लिए जाने की विरोधी ताईजी, जानकी को चौके में जाना और रसोई छूने पर कड़ी मनाही कर देती है परन्तु अनजाने में ठाकुरजी की मूर्ति को हाथ लगाने के कारण वह बौखला जाती हैं और उन्हें कोसती हुई कहती है की “उसे गोद लेने के लिए मलेच्छ ही मिली थी क्या।”⁸

लेखिका सुशीला टाकभौरै के ‘नीला आकाश’, ‘तुम्हें बदलना होगा’ और ‘वह लड़की’ नामक उपन्यासों में दलित नारी के जीवन की व्यथा, समस्या और जीवन संघर्ष को चित्रित किया गया है। ‘नीला आकाश’ के पात्र भिकूजी संघर्ष कर अपनी बेटियों को पाठशाला तो भिजवाते हैं परन्तु जाति के नाम पर वहाँ उनसे दुर्व्यवहार किया जाता। अध्यापक उनसे यह कहते हुए कि पढ़कर क्या करोगी, उनसे पाठशाला के कमरों की सफ़ाई करवाते। अकसर ऐसा देखा गया है कि आरक्षण के कोटे पर मिलने वाली नौकरी भी सवर्णों द्वारा हड़प ली जाती है। इसका वर्णन लेखिका ने ‘तुम्हें बदलना होगा’ उपन्यास में किया है जहाँ महिमा नामक दलित महिला नौकरी का विज्ञापन देखकर कोटे की सीट हेतु अपना फॉर्म तो जमा कर लेती है परन्तु उस सीट पर भी किसी सवर्ण को नियुक्त कर दिया जाता है। महिमा ओरों की भांति चुप नहीं रहती और संघर्ष कर अंततः अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो जाती है। दलित नारी संघर्ष की कथा ‘वह लड़की’ में नारी की समस्याओं, सामाजिक परिस्थितियों, हाशिए पर अपना जीवन व्यतीत कर रही महिलाओं का वर्णन है। आलोच्य उपन्यास परम्पराओं के नाम पर उनके व्यक्तित्व और अस्तित्व पर लगाए गए बन्धनों में जकड़ी

नारी के संघर्ष का मार्मिक उल्लेख करता है। शैला नामक नारी पात्र के कथन “कैसे लोग लकीर के फकीर होते हैं? क्या बताशे के बिना लोग जिन्दा नहीं रह सकते? परम्पराओं के नाम पर ढोंग ही ज्यादा होते हैं।”⁹ से सगाई के समय बताशे न होने के कारण हुए हंगामे द्वारा नारी की पीड़ा को व्यक्त करता है। वहीं महिलाओं पर लगाए गए अंकुश के कारण बाहरी दुनिया से अनजान ये स्वयं पर हो रहे अत्याचारों को चुपचाप सहन करती है “भमेडी गाँव बहुत छोटा है। लड़कियों के लिए तो और भी छोटा है। वे घर के बाहर नहीं जाती, घर में रहकर घर के काम करती है इसलिए वे बाहर की दुनिया के विषय में कुछ नहीं जानती।”¹⁰ इसी प्रकार अमृतलाल नगर के उपन्यास ‘नाच्यो बहुत गोपाल’ की दलित स्त्री पात्र निर्गुणिया के इस कथन “बाबूजी मैं पक्ष लेकर बात नहीं करती, पर यह सच है कि दुनिया के दूर-दूर तक देशों में औरत से बढ़ कर ज्यादा गुलाम नहीं है ...सब जगह औरत की एक जैसी मिट्टी पलीत है।”¹¹ से स्पष्ट होता है कि नारी भले किसी भी वर्ग की हो उसे सामाजिक, मानसिक पीड़ा से कभी न कभी गुजरना ही पड़ता है। यह कथन नारी की मनोवैज्ञानिक स्थिति का बारीकी से चित्रण करता है।

दलित स्त्री के शोषण, उत्पीड़न और दोहरे संघर्ष को कई कहानीकारों ने भी अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन्होंने इस तथ्य को उल्लेखित किया है कि सामाजिक व्यवस्था के कारण आज भी दलित नारी को कई समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है। जहाँ एक ओर दलित जाति में जन्म लेना इस वर्ग के लोगों के लिए अभिशाप है, वहीं आर्थिक रूप से विपन्न होना भी किसी त्रासदी से कम नहीं। यह अर्थ ही है जिसके कारण कई बार स्त्रियों को न चाहते हुए भी अपने परिवार हेतु स्वयं के सवर्णों के समक्ष समर्पित करना पड़ता है। ‘आषाढ़ का एक दिन’ नामक कहानी में

कहानीकार जवाहर सिंह ने भगेलू और सूरजमुखी के माध्यम से इस कटु सत्य का उल्लेख किया है। अपनी पत्नी से अत्यंत प्रेम करने वाला भगेलू आर्थिक अभाव के कारण इतना विवश है कि स्वयं अपनी पत्नी को ज़मींदार के पास भेजने के लिए तैयार हो जाता है। इसी प्रकार ‘आर-पार की माला’ कहानी में भी शिवप्रसाद सिंह ने ऐसी ही स्थिति का वर्णन किया है, जहाँ परिस्थितियों के सामने झुकते हुए लोगों को अपनी बहू-बेटियों की इज़्जत दाव पर लगानी पड़ती है। आलोच्य कहानी के पात्र मटरू के सामने पाँच दिनों से भूखे परिवार वालों के पेट की आग बुझाने के लिए केवल एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि वह कुछ पैसों को प्राप्त करने की एवज़ में अपनी बेटी नीरू को ठाकुर के घर भेज दे। मटरू ठाकुर की इस प्रवृत्ति से भली-भाँति अवगत था कि ठाकुर के लिए औरत मात्र दिल बहलाने की वस्तु है, किन्तु अपनी असमर्थता और विविशता का मोल उसे पुत्री की अस्मिता की कीमत देकर चुकानी पड़ती है।

‘पहचान’ कहानी में विपिन बिहारी ने बलात्कार की शिकार दलित महिला का वर्णन किया है। ज़मींदार पिता और पुत्र की हवस का शिकार बनी महिला के पिता और पति ज़मींदार के यहाँ बंधुआ मजदूर होने के कारण उसके साथ हुए शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने की अपेक्षा केवल मूक दर्शक बनकर रह जाते हैं। कई बार ऐसा देखा गया है कि सामंतों या सवर्णों की अहं को लगी ठेस के चलते वे अपनी भड़ास निर्दोष दलित स्त्रियों पर निकलते हैं। इसका सशक्त उदाहरण है मोहनदास नेमिशराय की कहानी ‘अपना गाँव’ जहाँ कबूतरी नामक पात्र को ज़मींदार का बेटा नग्न कर पूरे गाँव में घुमाता है। यह घटनाएँ इस बात को सिद्ध करती हैं कि सवर्णों की दृष्टि में दलित स्त्रियाँ मात्र हाड-मांस का पुतला हैं जिसे वे जब चाहें जैसे चाहें अपनी काम-

वासना हेतु प्रयोग कर सकते हैं।

दहेज हमारे समाज की एक ऐसी समस्या है जिससे पार पाना असम्भव-सा प्रतीत होता है। इस दारुण समस्या ने सम्पूर्ण समाज को अपने जाल में फँसा रखा है। इस कुरीति के कारण हमारे समाज की बहुत सी लड़कियाँ अल्प आयु में ही विवाह बंधन में बंध जाती हैं या उन्हें अनमेल विवाह करना पड़ता है। आर्थिक अभाव की मार झेलता दलित समुदाय भी इसका अपवाद नहीं। सुशीला टाकभौरै ने कहानी ‘मेरा समाज’ के माध्यम से इस तथ्य को उजागर किया है कि इस समुदाय में लड़कियों का विवाह 14-15 वर्ष की आयु में कर दिया जाता है जिसके चलते वे शारीरिक और मानसिक पीड़ा का शिकार होती हैं। यदि बेटियों के विवाह से संबंधित इस समुदाय का यह एक पहलू है तो दूसरा पहलू बल्कि कहा जाए तो सर्वविदित सत्य है धन का अभाव जिसके चलते ये दहेज देने में असमर्थ होने के कारण अनमेल विवाह करवाने में विवश हो जाते हैं। शिवप्रसाद सिंह की कहानी ‘सुनो परीक्षित सुनो’ इसका सशक्त उदाहरण है, जहाँ दहेज देने में असमर्थ पिता में

इतना भी संबल नहीं कि वह विवाह के नाम पर हो रहे धोखे से अपनी बेटी को बचा सके। बल्कि वह तो यह जानते हुए कि वर के स्थान पर किसी और का चेहरा दिखाकर उनकी पुत्री का विवाह एक पैर से अपाहिज व्यक्ति के संग करवाया जा रहा है चुपी साधे रहता है। वहीं दूसरी ओर ‘अंधकूप’ कहानी की सोना के पिता ने बेटी के ससुरालवालों को दहेज में तीन हजार रुपए देने का वचन तो दे दिया, किन्तु पूरे रुपए न देने के कारण सोना को सास की मार और ताने सहने पड़े। अंततः ससुरालवालों द्वारा दी जाने वाली यातना का अंत सोना आत्महत्या कर करती है। उपर्युक्त कहानियों के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक संकट के कारण दलित स्त्री न केवल सवर्णों द्वारा अपितु कई बार अपनों द्वारा भी अपमानित व उत्पीड़ित की जाती है।

अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्यकारों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से दलित नारी के यंत्रणापूर्ण जीवन, कष्टों, उनपर होने वाले शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार के कटुचित्र को प्रत्यक्ष रूप से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ सूची :

1. नैमिशराय, मोहनदास. *अपने-अपने पिंजरे*, पृ. 2
2. बैसन्त्री, कौशल्या. *दोहरा अभिशाप*, पृ. 104-105
3. वीरोदय, (डॉ.) यशवंत. *दलित शिखरों के साक्षात्कार*, पृ. 211
4. टाकभौरै, सुशीला. *शिकंजे का दर्द*, पृ. 3
5. गुसाईं, (डॉ.) सरिता, समकालीन साहित्य में दलित विमर्श, सम्पा. हरिराम, *समकालीन साहित्य में दलित चिंतन की अभिव्यक्ति*, पृ. 78
6. मीनाक्षी, कथा-लेखन में दलित युग-दृष्टि, सम्पा. हरिराम, *समकालीन साहित्य में दलित चिंतन की अभिव्यक्ति*, पृ. 50
7. अमिताभ, (डॉ.) वेदप्रकाश. *हिंदी उपन्यास की दिशाएँ*, पृ.131
8. भुराड़िया, निर्मला. *गुलाम मंडी*, पृ.113
9. टाकभौरै, सुशीला. *वह लड़की*, पृ. 11
10. वही, पृ. 17
11. नागर, अमृतलाल. *नाच्यो बहुत गोपाल*, पृ. 71

शिक्षा का अधिकार कैसे हो साकार

अमित कुमार पाण्डेय

शोधछात्र (शिक्षाशास्त्र)

एम एल के पी जी कालेज, बलरामपुर- उत्तर प्रदेश

(9451173282)

एवं

डॉ राघवेंद्र सिंह

एसो प्राफेसर विभागाध्यक्ष-बीएड विभाग

एम एल के पी जी कालेज, बलरामपुर- उत्तर प्रदेश

(9919929293)

सामान्यतः हम लोग जानते हैं कि किसी भी देश के विकास के लिए उस देश के नागरिकों का शिक्षित होना बहुत जरूरी है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए सभी देशों की सरकारें इस योजना पर कार्य कर रही हैं कि, किस तरह अपने देश के बच्चों को जो कि कल के भविष्य है, शिक्षित किया जाए। इसी के तहत भारत सरकार ने भारत में निःशुल्क शिक्षा और अनिवार्य शिक्षा की योजना को 2009 में हरी झण्डी दिखा कर लागू कर दिया है, ताकि प्रत्येक वर्ग के बच्चे पढाई कर सकें। शिक्षा का अधिकार अधिनियम पारित करने से पूर्व इस अधिनियम हेतु संविधान में प्रावधान करने के उद्देश्य से 86 वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया था।

एडु-टेक नीति के चार प्रमुख उद्देश्य जैसे- वंचित समूहों की शिक्षा तक पहुँच प्रदान करना, शिक्षण, अध्ययन और मूल्यांकन की प्रक्रिया को सूक्ष्म बनाना, शिक्षण-प्रशिक्षण को सुगम बनाना, शासन प्रणालियों-में सुधार करना होना

हम सब यह भी जानते हैं किसी भी सरकारी सफलता वहाँ के सभी नागरिकों के शिक्षित होने पर निर्भर करती है। 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया है।

शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 के अपेक्षाकृत सफल न होने का कारण:-

इतने वर्षों के बाद भी सरकार को अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाई है जिसके कुछ प्रमुख कारण निम्न लिखित हैं।

1. इसके दिशा-निर्देशों एवं नियम, कानून के बारे में अधिकांश माता-पिता को सम्पूर्ण जानकारी न होने के कारण इस योजना का वे लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।
2. अनेक विद्यालयों का मानना है कि गरीब बच्चों के एडमिशन से उनके स्कूल का परिणाम खराब हो जाएगा और समाज में उनके स्कूल की छवि खराब हो जाएगी और वे इन बच्चों के एडमिशन के लिए माँ-बाप को हतोत्साहित करते हैं।
3. सरकार इन स्कूलों को क्षतिपूर्ति राशि समय पर नहीं देती है।
4. इस प्रकार स्कूलों में की जा रही लापरवाही व गैर जिम्मेदारी से काम करने के खिलाफ शिकायत करने व उस पर कार्यवाही करने की सरकार ने कोई व्यवस्था नहीं है।
5. सर्व शिक्षा अभियान के कार्यक्रम में धन की कमी

सबसे बड़ी बाधा के रूप में सामने आ रही है।

सतत विकास के लक्ष्यों के अनुरूप शिक्षा:-

इस योजनाका मुख्य उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में सतत विकास करना है। नर्सरी से लेकर माध्यमिक स्तर तक के बच्चों के लिए समान रूप से शिक्षा उपलब्ध कराई जाए। इसी के तहत सरकारी स्कूल में निःशुल्क किताबें, निःशुल्क बस्त्र व निःशुल्क खाने का प्रावधान है ताकि बच्चों की संख्या को बढ़ाया जा सके।

क्या होंगे लाभ:-

पहली बार स्कूलों में उच्चतर माध्यमिक और नर्सरी स्तर की शिक्षा का समावेश किया जाएगा, गुणवत्ता युक्त शिक्षा पर ध्यान दिया जाएगा और बच्चों को सीखने की क्षमता का विकास होगा, सरकारी स्कूलों के बुनियादी ढाँचा में सुधार पर ध्यान दिया जाये, बच्चों को शिक्षा के लिए जागरूक किया जायेगा।

सुधार के लिए और क्या किया जाना चाहिए:-

गाँव-2 में जागरूकता अभियान चलाया जाना चाहिए, लोगों को शिक्षा के प्रति जागरूक किया जाना चाहिए, माँ-बाप को बच्चों के अशिक्षित होने पर होने वाले हानियों से अवगत कराना चाहिये ताकि वे अपने बच्चों को स्कूल पढ़ने के लिए भेजे। और सरकार को विद्यालय पर नजर रखने के लिए ऑनलाइन प्रबंध प्रणाली पर ध्यान देना चाहिए। स्कूलों में पढाई सही हो रही है या नहीं इस बात की निगरानी करनी चाहिए। विद्यालय में यदि किसी प्रकार कर गड़बड़ी पाई जाती है तो उस पर कठोर से कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए ताकि भविष्य में कोई भी अध्यापक व अध्यापिका इस तरह की गलती न करें। मैं ये भी कहना चाहता हूँ कि सरकार को समय-2 पर जागरूकता अभियान एवं

रेलियों के माध्यम से शिक्षा के प्रति जागरूक करना चाहिए। इसका उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सार्वभौमिक, समावेशन को बढ़ावा देना तथा 6 से 14 वर्ष के बच्चों को शिक्षा के मौलिक अधिकार से वंचित होने से बचाना है। सरकार को सरकारी विद्यालय की व्यवस्था में आ रहे खर्च को समय-2 पर उपलब्ध कराना चाहिए ताकि विद्यालय में बच्चों की गुणवत्ता पूर्ण पढाई जारी रह सके और उन्हें किसी भी प्रकार पढते समय कठिनाइयों का सामना न करना पड़े।

शिक्षा का अधिकार, एडुटेक से होगा साकार:-

कोविड महामारी के बाद शिक्षण संस्थानों को बंद करना पड़ा जिसके कारण ऑफलाईन शिक्षा पूरी तरह से वाकफ हो गयी। विद्यार्थियों तक शिक्षा पहुँचाने के लिये केवल डिजिटल माध्यम ही था। इसके बाद ऑनलाइन डिजिटल शिक्षा की पहल की गयी। विभिन्न स्कूलों एवं कालेजों में डिजिटल माध्यम से शिक्षा का संचालन कर कोर्स को पूरा कराया जाने लगा। विभिन्न ऑनलाइन माध्यमों से शिक्षा में भागीदारी सुनिश्चित की जाने लगी। महामारी के कारण जो व्यवस्था पूरी तरह से ध्वस्त हो गयी थी डिजिटल माध्यम से शिक्षा को आगे ले जाने में सहायता मिली।

डिजिटल पहल ने शिक्षा की दुनिया में क्रान्ति ला दी है परन्तु उसका इसरा पक्ष गाँव और शहर में बढ़ती डिजिटल असमानता है क्योंकि गाँव में पर्याप्त साधन सुविधा उपलब्ध नहीं है। हमारी अनिवार्यतः प्रयास होना चाहिए कि सभी को शिक्षा मिले, कोई शिक्षा से वंचित न हो सके। यह भारत के भविष्य के लिये भी महत्वपूर्ण है उसके नागरिक शिक्षित और कौशल हो और बिना शिक्षा के ये संभव नहीं है। डिजिटल शिक्षा प्रणाली ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी व्यवस्था को जन्म दिया है विद्यार्थी को पहुँच का दायरा इससे बढ़ गया है

कोई भी कहीं से भी सीख सकता है।

शिक्षा में तकनीकी:-

महामारी से पहले भी पढाई के विकट संकट से जूझ रहा था तब दस साल की उम्र वाले दो में से एक बच्चे में पढने की बुनियादी दक्षता की कमी थी। महामारी ने इस समस्या को और बढ़ा दिया है क्योंकि 15.5 लाख स्कूल भौतिक रूप से बंद हो गये है। इससे 24.8 करोड़ से अधिक छात्र एक वर्ष से अधिक समय तक कक्षीय पठन-पाठन से वंचित है। अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के एक अध्ययन में पाया गया है कि स्कूलों के बंद हो जाने के चलते प्राथमिक विद्यालयों के 82 से 92 प्रतिशत छात्रों ने कम से कम एक गणितीय और भाषा कौशल खो दिया है। यह स्थिति शिक्षा में तकनीकी को एकीकृत करने की आवश्यकता पर बल दे रही है। इससे हर बच्चे की शिक्षा तक पहुँच बढ़ाने में मदद मिलेगी। यद्यपि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों ने रेडियों और टेलीविजन कार्यक्रमों, लाइव व्याख्यानों के साथ-2 आनलाईन एप्लिकेशनों के माध्यम से दूरस्थ शिक्षा और अध्ययन की निरन्तरता बनाये रखने के लिए कई प्रयोग किये है, परन्तु इस दिशा में अभी कुछ चुनौतियाँ बनी हुई है। शिक्षा की वार्षिक स्थिति रिपोर्ट(एएसईआर) 2020 से पता चला है कि घरेलू स्तर पर लगभग 60 प्रतिशत छात्रों के पास ही टेलीविजन और स्मार्ट फोन की सुविधा उपलब्ध है।

एडु-टेक:-

ऐसे में एक एडु-टेक (तकनीकी संचालित शिक्षा) नीति की अनिवार्यता तेजी से स्पष्ट होती जा रही है ताकि प्रत्येक बच्चे को 21वीं सदी की आवश्यकताओं के अनूकूल बनाया जा सके। वैसे हमारी नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी) 2020 शिक्षा के हर स्तर पर

तकनीक को एकीकृत करने की बात करती है। इसके लिए एक स्वायत्त निकाय के रूप में राष्ट्रीय शिक्षा प्रौद्योगिकी मंच (एनटीएफ) के स्थापना करने की परिकल्पना भी की गयी है। वास्तव में भारत तकनीकी आधारित संरचना, बिजली और सस्ती इन्टरनेट कनेक्टिविटी तक पहुँच के साथ इस दिशा में छलांग लगाने के लिए तैयार है जिसे डिजिटल इण्डिया जैसे प्रमुख कार्यक्रमों और शिक्षा मन्त्रालय की पहल से प्रोत्साहन मिल रहा है इसके लिए स्कूली शिक्षा के लिए डिजिटल अवसंरचना (दिक्षा) ने ओपन सोर्स लर्निंग प्लेटफार्म तैयार किया गया है, जो दुनिया की सबसे बड़ी प्रबन्धन सूचना प्रणालियों (ई-एमआईएस) में से एक है इसमें प्रत्यक्ष रूप से व्यापक संभावनाएँ नजर आ रही है।

उद्देश्य:-

एडु-टेक नीति के चार प्रमुख उद्देश्य जैसे- वंचित समूहों की शिक्षा तक पहुँच प्रदान करना, शिक्षण, - अध्ययन और मूल्यांकन की प्रक्रिया को सूक्ष्म बनाना, शिक्षण-प्रशिक्षण को सुगम बनाना, शासन प्रणालियों-में सुधार करना होना चाहिए। इस पर आगे बढ़ने के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना होगा। जैसे- तकनीक एक उपकरण है, रामबाण नहीं अतः इसका उपयोग अध्ययन की सेवा में होना चाहिए। इसके लिए एक योजना बनाई जानी चाहिए। इसके बगैर डिजिटल संरचना प्रदान करने में जोखिम है तकनीकी स्कूलों को प्रतिस्थापित नहीं कर सकती है यह शिक्षकों की जगह नहीं ले सकती है, तकनीकी समाधान तभी प्रभावशाली होता है जब इन्हें शिक्षकों द्वारा अपनाया जाता है।

वैसे भी आज भारत में एडु-टेक का बाजार तेजी से बढ़ रहा है। इस क्षेत्र में अभी 4,500 से अधिक स्टार्ट-अप काम कर रहे है इनका कुल बाजार मूल्य करीब 70 करोड़ डॉलर है। अगले 10 वर्षों में इसका आकार 30

अरब डॉलर पर पहुंच जाने का अनुमान है। जमीनी स्तर अरूणाचल प्रदेश के नामसाई जिले में ‘हमारा विद्यालय’ और असम का ‘करियर मार्गदर्शन’ पोर्टल छात्रों की पढ़ाई में सहायक बनकर उभर रहे हैं। गुजरात में ‘समर्थ’ लाखों शिक्षकों को ऑनलाइन माध्यम से प्रशिक्षित कर रहा है। झारखण्ड का ‘डिजीसाथ’ अभिभवकी-शिक्षकों-छात्रों के संबंधों में मजबूती ला रहा है। हिमांचल प्रदेश की ‘हर घर पाठशाला’ बच्चों को डिजिटल शिक्षा प्रदान कर रही है। उत्तराखंड का सामुदायिक रेडियो ‘बाइट’ प्रारम्भिक पठन की बढ़ावा दे रही है। मध्य प्रदेश का ‘डीजीएलईपी’ विद्यालयों में शैक्षणिक सामग्री वितरित कर रहा है। केरल की ‘अक्षरवृक्षम पहल’ बच्चों को कौशल विकास कर रही है।

आवश्यकता:-

देश में एडू-टेक को बढ़ावा देने के लिए कई मोर्चों पर एक साथ कदम उठाने की आवश्यकता है। सबसे पहले देश में एडू-टेक की पहुंच और प्रभाव का आकलन करने के लिए एक खाका तैयार किया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत अवसंरचना, शासन, शिक्षकों

एवं छात्रों की चुनौतियों की पहचान की जानी चाहिए। लघु से मध्यम अवधि में, इन चुनौतियां को दूर करने के लिए सभी हितधारकों (छात्र, शिक्षक, स्थानीय समुदाय, प्रशासक, क्षेत्र विशेषज्ञ) को शामिल करते हुए नीति निर्माण और योजनाएँ बनाई जानी चाहिए। सार्वजनिक-निजी भागीदारी का मॉडल इसमें सहायक हो सकता है। देश में मौजूद डिजिटल खाई को पाटने पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। दीर्घ अवधि में जब सभी योजनाएँ पूरे देश में एकसमान रूप में जमीन पर उतर जाएं तो सभी शैक्षणिक सामग्रियों का भण्डार और समय-समय पर उनका परिष्करण करते रहना चाहिए।

उपसंहार:-

कुल मिलाकर आज शिक्षा की तकनीक के सहार की जरूरत है। एडू-टेक नीति देश की शिक्षा तकनीक को पंख लगाने में सक्षम है। इससे सबकी समान रूप से गुणवत्तापरक शिक्षा मिलनी सुनिश्चित हो सकती है। छात्रों में सीखने की प्रक्रिया तेज और अच्छी होगी, शिक्षा की लगातार में कमी आएगी और शिक्षकों के समझका बेहतर उपयोग हो सकेगा। इन सबसे अतंतः शैक्षिक उत्पादकता बढ़ेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. अग्निहोत्री, रविन्द (2007) “आधुनिक भारतीय शिक्षा की समस्याएँ और समाधान”, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
2. अग्रवाल, जेसी (2007) “शैक्षिक तकनीकी तथा प्रबंध के मूलवतत्व”, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
3. अग्रवाल, रामनाराण (1970) “मनोविज्ञान और शिक्षा में मापन एवं मूल्यांकन”, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
4. भटनागर, सुरश (1970) “शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार” इन्टनेशन पब्लिशिंग हाऊस, आगरा।
5. भार्गव, महेश (1994) “मनोविज्ञान और शिक्षा में सांख्यिकीय के मूल आधार” एच.पी. भार्गव बुक हाउस, आगरा।
6. भटनागर, आर.पी. (1973) “शिक्षा तथा मनोविज्ञान में सांख्यिकीय प्रयोग” नेशनल बुक डिपो, मुरादाबाद।
7. गुड, बार स्केट्स (1994) “शैक्षिक और सामाजिक अनुसंधान एवं सर्वेक्षण” एपजीटॉन सेन्चुरी कम्पनी (इन्क) न्यूयार्क।
8. कुलश्रेष्ठ, एस.पी. (2004) “शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार”, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
9. मित्तल, सन्तोष (2008) “शैक्षिक तकनीकी एवं कक्षा-कक्ष प्रबंध”, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
10. पाण्डेय, के.पी. (2008) शैक्षिक अनुसंधान, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

किन्नर समाज – अस्मिता, संघर्ष एवं चुनौतियाँ

पारुल

एम.फिल. – हिंदी साहित्य

महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

Parul.du8130@gmail.com

प्रकृति विविधताओं से परिपूर्ण है। प्रकृति में विभिन्न प्रकार की संरचनाएं देखने को मिलती हैं। मनुष्य जाति के तीन प्रकार हैं - पुरुष, स्त्री तथा किन्नर। इन तीनों में शारीरिक भिन्नताएं होती हैं। इन तीनों की ही लैंगिक संरचनाएं एक दूसरे से भिन्न होती हैं। जब से सृष्टि का निर्माण हुआ, तभी से इन तीनों का अस्तित्व विद्यमान है, जिसके अनेक प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। विभिन्न धर्मों व पौराणिक ग्रंथों ने किन्नर समाज के अस्तित्व को स्वीकार किया है। फिर चाहे वह बौद्ध धर्म हो, जैन धर्म हो या हिंदू धर्म सभी में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। किन्नर के विषय में गहराई से जानने के पहले ‘किन्नर’ शब्द को समझ लेना आवश्यक है, जिससे इनके समाज से जुड़े हर पहलू को जाना जा सकता है। ‘किन्नर’ एक ऐसा शब्द है, जिसे सुनकर लोग

प्राकृतिक तत्त्वों के कारण किन्नर समाज को वर्तमान समय में बहुत संघर्ष करना पड़ रहा है। उन्हें समाज में ऐसे दोष की सजा दी जाती है, जिसमें उनकी कोई भूमिका नहीं होती। व्यवस्था जहाँ उन्हें अभी तक शिक्षा, आवास, रोजगार जैसी मूलभूत आवश्यकताएं मुहैया कराने में असफल रही है, वहीं समाज के भेदभाव पूर्ण व्यवहार के कारण उन्हें सामाजिक स्वीकार्यता नहीं मिल पायी है।

अचानक असहज महसूस करने लगते हैं। उनके लिए किन्नर असामाजिक तत्त्व है। कई बार लोग इस तरह प्रतिक्रिया देते हैं, जैसे उनका नाम लेकर या उन्हें देखकर कोई अपशकुन होने की सम्भावना बढ़ जाती है। समाज की मानसिकता ही ऐसी है कि जब वे किन्नर समाज के बारे में बात करने वाले को ही हीन दृष्टि से देखते हैं, तो इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इनके प्रति कितनी नफरत की भावना रखी जाती होगी। यदि किसी

व्यक्ति को किन्नर कहा जाए, तो वह इसे अपना अपमान समझता है, क्योंकि समाज इसे पौरुष से जोड़ कर देखता है। पितृसत्तात्मक विचारधारा के प्रभाव के चलते यदि किसी व्यक्ति की पहचान ही एक गाली के रूप में परिवर्तित हो जाए, इससे बड़ी दुःख की बात क्या हो सकती है। हमारे समाज में अधिकतर लोग तो यह भी नहीं जानते कि किन्नर कौन होते हैं, उनकी शारीरिक संरचना हमसे किस प्रकार भिन्न है। वे इनके बारे में

जानने में कोई रुचि भी नहीं रखते हैं। समाज में किन्नर समुदाय को लेकर अनेक पूर्वाग्रह व्याप्त हैं।

सर्वप्रथम ‘किन्नर’ शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालने से यह ज्ञात होता है कि “संस्कृत में किम्+नर=किन्नर। किम् का अर्थ यहाँ कुत्सित है। किं कुत्सितो नरः (कालिदास-कुमारसम्भव) ये देवताओं के गायक कहे गये हैं। किम् का अर्थ क्या भी है, किंतु किन्नर में इसके दो

अभिप्राय हैं – कैसा – नकारात्मक मनुष्य और बुरा पुरुष।”¹ अर्थात् किन्नर मूलतः संस्कृत भाषा का शब्द है तथा यह किसी बुरे या नकारात्मक मनुष्य/पुरुष के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द है। समय के साथ इसका प्रयोग तथाकथित ‘तृतीय प्रकृति’ के लोगों के लिए किया जाने लगा। किन्नर शब्द का यदि शाब्दिक अर्थ देखा जाए तो “(पुराण) देवलोक का एक उपदेवता जो एक प्रकार का गायक था और उसका मुँह घोड़े के

समान होता था, वर्तमान समय में ‘हिजड़ा’ के लिए शिष्टोक्ति”¹। किन्नर के लिए अंग्रेजी भाषा में ‘यूनक’ शब्द प्रयुक्त किया जाता है, जिसका अर्थ है ‘कास्ट्रेटेड मेल’ अर्थात् ऐसे पुरुष जिनका लिंगोच्छेदन किया गया हो। इस शब्द से इस समुदाय की संवेदनाओं को गहरी चोट पहुंचती है, क्योंकि वे स्वयं की पहचान को पुरुष के रूप में पुष्ट नहीं करना चाहते। ‘किन्नर’ को तेलुगु में नपुंसकुडु, कोज्जा या मादा, तमिल में अरावनी, गुजराती में पवैय्या, पंजाबी में खुसरा, कन्नड़ में जोगप्पा तथा आम बोलचाल की भाषा में हिजड़ा, छक्का, ख्वाजासरा, मामू, मौसी आदि नामों से जाना जाता है। भारतीय समाज में अधिकतर इन्हें ‘हिजड़ा’ नामक शब्द से ही जाना जाता है। “हिजड़ा शब्द मूलतः उर्दू का शब्द है। यह अरबी भाषा के ‘हिजर’ से आया हुआ है। हिजर का अर्थ है जिसने अपना वर्ग छोड़ दिया हो या जिसे उसके वर्ग से बाहर निकाल दिया गया है, अर्थात् स्त्री-पुरुष से अलग होकर समाज में स्वयं को स्वतंत्र रूप से जीने वाला वर्ग किन्नर कहलाता है।”² वर्तमान समय में इनके लिए ‘किन्नर’ शब्द एक शिष्टोक्ति के रूप में प्रयोग किया जाता है। परंतु इस शब्द के प्रयोग में एक पक्ष यह भी है कि बहुत से लोगों ने इस शब्द को लेकर आपत्ति दर्ज की है। दरअसल हिमाचल प्रदेश में स्थित किन्नौर के लोगों को ‘किन्नर’ शब्द के ‘हिजड़ा’ वर्ग के लोगों के लिए प्रयोग होने पर आपत्ति है। ‘किन्नर’ शब्द को ये निवासी अपनी अस्मिता का प्रतीक मानते हैं। इस संदर्भ में एस.आर.हरनोट का मत है “किन्नर कैलाश को भगवान शिव की स्थली माना जाता है जो किन्नौरवासियों के साथ भारत के लोगों का एक बड़ा धार्मिक स्थल भी है। लेकिन इतिहास में (किन्नौर प्रशासन के पास भी) ऐसे कोई प्रमाण नहीं होंगे कि किन्नर कैलाश की परिक्रमा हमारे हिजड़े भाई करते होंगे

या उनका यह बड़ा धार्मिक केंद्र रहा होगा।”³ एस.आर.हरनोट के मत से यह प्रतीत होता है कि ‘किन्नर’ शब्द से हिमाचल प्रदेश के किन्नौरवासियों का धार्मिक व सांस्कृतिक संबंध रहा है। किन्नौरवासियों की भावनाएं आहत होने के बाद भी इस वर्ग के लिए किन्नर शब्द ही अधिक प्रयुक्त होता आया है, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। शब्द कोई भी प्रयोग किया जाए, हिजड़ा, क्लीब या जनखा, लेकिन इस समुदाय की पहचान को अपमानित या कलंकित ही माना गया है। इसलिए अन्य सस्थानों या स्वयं किन्नर समाज को भी शब्द के भ्रम में न फंसकर अपने अधिकार, सम्मान व समान अवसर की मांग पर अडिग रहना चाहिए। इस समुदाय के लिए ‘किन्नर’ शब्द अधिक प्रचलित है, अतः प्रस्तुत लेख में भी इसी शब्द का ही प्रयोग किया जाएगा।

उल्लेखनीय है कि 15 अप्रैल 2014 को माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने किन्नर समुदाय को पहचान देने के लिए स्त्री और पुरुष से इतर ‘तीसरे लिंग’ का दर्जा दिया तथा इन्हें सभी मानवीय अधिकार दिये जाने की घोषणा भी की। इसके बाद यह समुदाय ‘थर्ड जेंडर’ वर्ग में गिना जाता है। दरअसल ‘थर्ड जेंडर’ शब्द के साथ बहुत से शब्द इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि इन शब्दों से जुड़ी अस्मिताएं ही परस्पर घुल-मिल गयी हैं। इसे और गहराई से समझने के लिए ‘एल.जी.बी.टी.क्यू.आई’ को परिभाषित करना आवश्यक है। ‘एल’ से तात्पर्य लेस्बियन से है। वे महिलाएं लेस्बियन कहलाती हैं, जिनका झुकाव किसी महिला की तरफ ही होता है। महिला का महिला के प्रति कामभाव होने पर उन्हें लेस्बियन कहा जाता है। इसी तरह जब ठीक यही स्थिति पुरुषों के साथ होती है, तो उन्हें गे कहा जाता है, जो ‘जी’ का प्रतिनिधित्व करता है। ‘बी’ अर्थात् बाएसेक्सुअल, वे लोग जिनका कामभाव स्त्री-पुरुष दोनों

की ओर हो सकता है, वे लोग इस वर्ग में आते हैं। ‘ट्रांसजेंडर’ का शाब्दिक अर्थ है, जेंडर से परे। वे व्यक्ति ट्रांसजेंडर होते हैं, जिनका अपने लिंग के साथ मानसिक तालमेल नहीं बैठता है। उदाहरण के तौर पर यदि एक पुरुष जो स्वयं को स्त्री की भांति दिखाना, स्त्रियों की तरह रहना पसंद करता हो या इसके विपरीत कोई स्त्री जो लिंग से तो स्त्री है, किंतु स्वयं को मानसिक व व्यावहारिक रूप में पुरुष की तरह पाती है, तो ये दोनों ट्रांसजेंडर ही कहलाएंगे। ‘एक ट्रांसजेंडर वह व्यक्ति है, जिसे जन्म के समय पर गुप्तांग के रूप में लिंग तो प्राप्त होता है लेकिन वह लिंग उसका झूठा प्रतिनिधित्व करता है।’¹ ट्रांसजेंडर के साथ ही ‘ट्रांससेक्सुअल’ शब्द जुड़ा है। ट्रांसजेंडर व्यक्ति जब अपनी पहचान के साथ दमित महसूस करता है, तो वह शल्य चिकित्सा के जरिए अपना लिंग अपने मनोभाव के अनुरूप परिवर्तित करता है, तब वह ट्रांससेक्सुअल बन जाता है। इनसे इतर किन्नर व्यक्ति प्रकृति के दोष के कारण पैदा होते हैं। जब कोई शिशु पैदा होता है, तब यदि उसका लिंग स्पष्ट नहीं होता या अविकसित होता है, तो उसे किन्नर कहा जाता है। इनके कई प्रकार हो सकते हैं। जैसे वे व्यक्ति जिनका लिंग जन्म के समय निर्धारित नहीं हो पाता या तो लिंग स्त्री की योनि के साथ पुरुष के लिंग का मिश्रित रूप होता है या लिंग के स्थान पर कोई बनावट नहीं होती। अधिकतर यह देखा गया है कि ट्रांसजेंडर व्यक्ति भी किन्नर समुदाय में शामिल हो जाते हैं। वे स्वयं को उनके समुदाय के अधिक निकट पाते हैं। इसी कारण किन्नर, ट्रांसजेंडर तथा ट्रांससेक्सुअल ये तीनों समुदाय आपस में घुल-मिल गये हैं। ‘क्यू’ का अर्थ क्वीर या क्वेश्चनिंग से है। वे व्यक्ति जो स्वयं की पहचान को लेकर एक निश्चित मत नहीं बना पाते हैं, इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं। अंतिम है ‘आई’ यह इंटरसेक्स के लिए प्रयुक्त किया जाता है। ऐसे लोगों की तादाद बहुत

कम होती है। जब शिशु के पैदा होने पर उसका लिंग स्पष्ट न हो, तो वह इंटरसेक्स कहलाता है। इनके समुदाय में इन्हें ‘मां-पेट हिजड़ा’ भी कहा जाता है। यही वास्तविक किन्नर कहलाए जाते हैं। दरअसल इनकी पहचान लैंगिक विकृति के कारण होती है, जबकि ट्रांसजेंडर की पहचान जैविक सेक्स से मानसिक तादात्म्य न बैठ पाने के कारण। ये सभी अस्मिताएं एक दूसरे से जितनी मिली हुई हैं, उतनी ही भिन्न हैं। ‘एल.जी.बी.टी.क्यू.आई’ के अलावा भी इस तरह के लोगों के लिए अनेक शब्द प्रचलित हैं ‘ट्रांसजेंडर में ही ट्रेणक्वींस, ट्रेण किंगज़, जेंडरक्वीयर ये अन्य प्रकार हैं। कुछ लोग स्त्री या पुरुष इन दोनों में ही फिट नहीं बैठते। ये न तो अपने को पूर्ण पुरुष और न ही पूर्ण स्त्री मानना चाहते हैं क्योंकि इन्हें स्वयं ही ऐसा अनुभव होता है। अतः ये अपने को स्त्रीवाची या पुरुषवाची सम्बंधनों से बुलाना या कहलवाना पसंद नहीं करते। He-She के स्थान पर Zie एवं His, Her के स्थान पर Hir कहलाने का आग्रह रहता है इनका।’⁴ अतः कहा जा सकता है कि किन्नर/ट्रांसजेंडर समुदाय के लिए भाषा में भी नए शब्द को जोड़ने का प्रयास किया जा रहा है।

स्पष्ट है कि यह समुदाय प्राकृतिक रूप से ही ऐसा होता है। इसमें उनका कोई दोष नहीं है, वे आयास ही ऐसे जन्म लेते हैं। प्रकृति में हर ओर विविधता व्याप्त है, किन्नर भी उसी विविधता का एक सामान्य अंग है। यदि किन्नर तथा ट्रांसजेंडर के इस तरह जन्म लेने के कारण पर प्रकाश डाला जाए, तो अनेक तथ्य सामने आते हैं। समाज में अक्सर इनके जन्म को पूर्व जन्म के कर्मों के फल से जोड़ कर देखा जाता है लेकिन किम्बदंतियों से इतर किन्नर या ट्रांसजेंडर के इस तरह जन्म लेने के वैज्ञानिक कारण को देखें, तो पाया गया है कि क्रोमोसोम की गड्ड-मड्ड स्थिति के कारण ही ये ऐसे जन्म लेते हैं। स्त्री-पुरुष के शारीरिक मिलन (सम्भोग) के पश्चात यदि

गर्भाशय में xx क्रोमोज़ोम का युग्म बनता है, तो वह शिशु लड़की होती है, इसके विपरीत यदि यह युग्म xy क्रोमोज़ोम का हो तो शिशु लड़के के रूप में जन्म लेता है। कभी-कभी विशेष परिस्थितियों में असामान्य स्थिति होने से गर्भाशय में लिंग का निर्धारण नहीं हो पाता। सामान्यतः इसके कई प्रकार हो सकते हैं, किंतु इसके मुख्य कारण का ही विवरण दिया जा रहा है। इस स्थिति में गर्भ में पुरुष हार्मोन पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं होते। गर्भावस्था के ग्यारहवें सप्ताह में यौनांग विकसित करने वाले हार्मोन शिशु के यौनांग का आधार होते हैं। परंतु पर्याप्त मात्रा में न होने के कारण जब ये अपनी भूमिका पूरी नहीं कर पाते, तो शिशु के पुरुषांग का पूरी तरह विकास नहीं हो पाता। ऐसे में शिशु की जननेंद्रियां न होने से होता तो वह पुरुषलिंगी ही है, किंतु भावनात्मक रूप से ये स्त्री होते हैं। उस लड़के को स्त्री जैसा व्यवहार करना, कपड़े पहनना, सजना-संवरना तथा स्त्रियों के निकट रहना अधिक सहज लगता है। ये लड़के, लड़कियों के प्रति आकर्षित न होकर लड़कों के प्रति अधिक आकर्षित होते हैं। इसी तरह “गर्भ धारण के पश्चात छह सप्ताह तक स्त्री के गुणसूत्र xx एवं पुरुष के xy होते हैं। उसके बाद वाई (y) पर स्राई (sry) जीन प्रक्रिया में गतिमान होकर टेस्टोस्टेरॉन के सम्प्रेषक पुरुष लिंग को तैयार करने का कार्य करता है। कभी-कभी गुणसूत्रों की गड़बड़ी से एवं जीन की प्रक्रियागत गति दोषपूर्ण होने से सम्प्रेषकों के कम ज़्यादा होने से जननांग पूर्ण विकसित नहीं होता, लिंग का निश्चय करने में भ्रम पैदा कर देता है। टेस्टोस्टेरॉन के प्रभाव में कमी आने पर लिंग नर का और लिंगभाव स्त्री का होने पर भ्रूण हिजड़े के रूप में जन्म लेता है।”⁵ अतः कहा जा सकता है कि जिस तरह किसी भी पुरुष या महिला के जन्म के समय उनके लिंग निर्धारण में उनकी कोई भूमिका नहीं होती, इसी तरह किन्नर का भी अपने जन्म व लिंग पर कोई वश नहीं होता। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। किन्नर

समुदाय (इंटरसेक्स) के लोगों में लिंग के एकरूप का अभाव होता है। क्योंकि न ही इनके पास पूर्णतः विकसित योनि होती है, न ही पूर्णतः विकसित लिंग होता है। जिस कारण ये प्राकृतिक यौन संबंध भी नहीं बना पाते।

इनके जन्म को पूर्वजन्म के बुरे कर्मों से जोड़ कर एक अंधविश्वास है, जिसके चलते समाज इनके प्रति घृणा का नज़रिया अपनाता है। चूंकि पिछले जन्म जैसी बातों का हवाला देकर समाज में इन्हें हमेशा से मुख्यधारा तथा समस्त मानवीय अधिकारों से खदेड़ा ही गया है। इनको जन्म देने वाला भी तथाकथित ‘सामान्य’ मनुष्य ही होता है। ये स्वयं अपनी तादाद नहीं बढ़ाते हैं, न ही प्रकृति ने इनकी शारीरिक संरचना इस प्रकार की है कि ये संतान उत्पत्ति कर पाएं। देखा जाए, तो समाज द्वारा इनके शोषण का कारण भी यही है कि इनमें संतान पैदा करने की क्षमता नहीं होती। इस दृष्टि से किसी मनुष्य के महत्त्व को नकारने की परंपरा न केवल किन्नर, बल्कि स्त्री व पुरुष के साथ भी चली आ रही है। एक ऐसी महिला, जो संतान की उत्पत्ति नहीं कर सकती या कोई पुरुष, जो इस कार्य में सक्षम नहीं है, को भी समाज के कोपभाजन का शिकार बनना पड़ता है। ऐसी स्थिति में एक पुरुष को नपुंसक/नामर्द तथा स्त्री को बांझ कहकर दुत्तकारा जाता है। किन्नर समुदाय को ‘थर्ड जेंडर’ कहे जाने का एक पक्ष यह भी है कि इन्हें यदि ‘थर्ड जेंडर’ या ‘थर्ड सेक्स’ कहा जा रहा है, तो प्रथम व द्वितीय जेंडर किसे कहा जाना चाहिए? ज़ाहिर है पितृसत्तात्मक समाज प्रथम जेंडर का दर्जा पुरुष को तथा द्वितीय जेंडर का दर्जा स्त्री को देता है। पितृसत्ता एक ऐसी अवधारणा है, जिसके अंतर्गत पुरुषों के वर्चस्व के लिए उन्हें प्रथम स्थान, स्त्रियों को गौण तथा किन्नर समुदाय को हाशिये पर धकेल दिया जाता है। इस प्रक्रिया को लैंगिक वर्चस्व कहा जाता है। किन्नर समुदाय को संख्याबल के

आधार पर भी शोषित किया जाता है। जिसमें तथाकथित सामान्य स्त्री-पुरुष इन्हें समाज के लिए कलंक घोषित करते हैं। इनकी संख्या तुलनात्मक रूप से कम होने से इन्हें सभ्य समाज में रहने लायक नहीं समझा जाता। इस पक्ष को कमजोर समझ कर नज़रंदाज नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि समाज के पास इस तरह के वर्गीकरण का कोई ठोस आधार या पैमाना उपलब्ध नहीं है। जब प्रकृति ने किसी भी मनुष्य के साथ यह भेदभाव नहीं किया तो समाज में भी ऐसा नहीं होना चाहिए। सभी के मानवीय अधिकारों की सुरक्षा से ही एक स्वस्थ तथा विकसित समाज का निर्माण होता है।

भारतीय समाज में वर्तमान समय में किन्नर समुदाय को हीन दृष्टि से ही देखा जाता है। आज ये समुदाय समाज के सबसे निचले पायदान पर खड़ा है। सड़कों पर भीख मांगने और वेश्यावृत्ति को मजबूर हो चुके किन्नर समाज का इतिहास सदा से ऐसा नहीं था। किन्नर पहले राजाश्रय में सम्मानित जीवन व्यतीत करते थे। इनका राजाश्रय से सड़क तक का सफर बेहद दुःखदायी रहा है। प्राचीन समय में तो इन्हें ‘मंगल-मुखी’ की संज्ञा दी जाती थी तथा स्त्री व पुरुष से बढ़कर ‘उपदेवता’ का दर्जा दिया जाता था। इनमें दैवीय शक्तियों का वास भी माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि किन्नर की स्थिति वर्तमान समय की अपेक्षा प्राचीन समय में कहीं अधिक बेहतर थी।

किन्नर समुदाय को जानने के लिए उनके इतिहास को जानने के बाद उनकी धार्मिक मान्यताओं से परिचित होना भी आवश्यक है। किन्नर समाज मुख्यधारा के समाज से कटे रहने पर विवश होता है, इसी कारण उसकी अपनी पूजन पद्धति तथा कुछ विशेष मान्यताएं होती हैं। तमिलनाडु के किन्नर अरावन की पूजा करते हैं और स्वयं को तिरुनगाई कहलाना भी पसंद करते हैं। वर्तमान समय में तमिलनाडु में अरावन के कई मंदिर बन

चुके हैं, परंतु सबसे प्राचीन और मुख्य मंदिर विल्लूपुरम जिले के कुवागम नामक गांव में स्थित है। यह स्थान किन्नर समुदाय के लिए तीर्थ स्थल है। यहाँ प्रत्येक वर्ष एक सम्मेलन का आयोजन किया जाता है। देश के हर ओर से किन्नर इसमें भाग लेते हैं। यह आयोजन 18 दिन तक चलता है। यहाँ आकर प्रथम 16 दिन किन्नर एकत्र हो कर नाचते-गाते हैं। 17वें दिन एक विशेष पूजा के बाद उनकी शादी अरावन की मूर्ति से करवायी जाती है। 18वें दिन अरावन की मूर्ति को सारे गांव में घुमाने (परिक्रमा) के पश्चात उसे तोड़ दिया जाता है। इसके बाद किन्नर अपना मंगलसूत्र तोड़ देते हैं तथा विधवा हो जाते हैं। वर्तमान समय में भी किन्नर समुदाय ने तमिलनाडु में इस परम्परा को जीवित रखा हुआ है। इनके समाज में बहुचरा माता की पूजा की जाती है, जिसे बुचरा माता, मुर्गे वाली देवी या बेसरा माता के नाम से भी जाना जाता है।

निष्कर्ष - वर्तमान समय में किन्नर समाज की स्थिति में कुछ सुधार देखने को मिला है। आज इनके समाज के कुछ चेहरे विकास की ओर अग्रसर हुए हैं। वे शिक्षित हो कर विभिन्न प्रतिष्ठित पदभार ग्रहण कर अपने समाज का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं तथा अपने पूरे समाज के उत्थान के लिए कार्य भी कर रहे हैं। इन्होंने अपने जीवन में संघर्ष कर एक मुकाम हासिल किया तथा संपूर्ण किन्नर समाज के लिए प्रेरणा का स्रोत बन कर उभरे, लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। इस समाज में शिक्षा के माध्यम से ही चेतना को फैलाया जा सकता है। जब तक यह समुदाय शिक्षित हो कर अपने अधिकारों की मांग स्वयं नहीं करेगा, तब तक स्थिति में बहुत अधिक सुधार नहीं हो पाएगा। आज भी जब किसी परिवार में किन्नर का जन्म होता है, तो घर में मातम का माहौल बन जाता है तथा उसे किन्नरों की टोली में भेज दिया जाता है। अल्पायु में ही इन्हें

विस्थापन का दंश झेलना पड़ता है, क्योंकि घर-परिवार से बालपन में ही इन्हें निष्कासित कर दिया जाता है। पारिवारिक बिछोह की पीड़ा से ये ताऊग्र ग्रसित रहते हैं। किन्नर समाज की दयनीय स्थिति का दोषी उसका अपना परिवार है। सामाजिक तथाकथित लोक-लाज के कारण परिवार उन्हें त्याग देता है। समाज की किन्नर समुदाय के प्रति कड़वाहट उनके परिवार से ही आरम्भ होती है। ये आज इक्कीसवीं सदी में भी स्वयं को मनुष्य

माने जाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इससे ज्यादा दुःखद स्थिति कुछ नहीं हो सकती है। इसीलिए कहा जा सकता है कि केवल कानूनी अधिकार मिलने से इनके समाज को हाशिये से मुख्यधारा पर नहीं लाया जा सकता, इनका संघर्ष समाज से है। समाज में इनके प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपना कर ही इनका विकास किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ

- 1) डागा, शीला (2020). किन्नर गाथा. नई दिल्ली. वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 12
- 2) (सं) कुमार, अरविंद (2016). निरुप्रह पत्रिका. घोंडा. अनंग प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 82
- 3) (सं) खान, डॉ. एम. फ़िरोज़ (2018). थर्ड जेंडर और साहित्य. कानपुर. विकास प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 17
- 4) <https://www.srijansarokar.page/2018/07/sanskrti-kinnar-es-aar-haranot-hRvjPC.html>
दिनांक - 13 जुलाई 2021 समय - 03:13am
- 5) (सं) सिंह, डॉ. विजेंद्र प्रताप, रवि कुमार गोंड (2016). भारतीय साहित्य एवं समाज में तृतीय लिंगी विमर्श. कानपुर. अमन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या - 44
- 6) डागा, शीला (2020). किन्नर गाथा. नई दिल्ली. वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या – 23
- 7) डागा, शीला (2020). किन्नर गाथा. नई दिल्ली. वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या - 25, 26



महात्मा गाँधी की पुस्तक ‘हिन्द स्वराज’ की प्रासंगिकता

अमन कुमार

पीएच.डी(शोधार्थी)

(गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

मो. 931270598

ई.मेल- aman1994rai@gmail.com

भारत को स्वतंत्रता दिलाने में जिन लोगों का नाम लिया जाता है उनमें महात्मा गाँधी अग्रणी है। हिंदी ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में जिस व्यक्ति पर सबसे अधिक लिखा गया उनमें महात्मा गाँधी का नाम महत्वपूर्ण है। महात्मा गाँधी ने स्वयं भी अपने साठ वर्षों के व्यस्ततम राजनैतिक-सार्वजनिक जीवन के बीच विपुल साहित्य रचा। उनका यह साहित्य उनके लेखों, बयानों, भाषणों और पत्रों में फैला है। उनकी व्यवस्थित रचनाएँ है ‘हिन्द स्वराज’, ‘आत्मकथा’, अथवा ‘सत्य के साथ मेरे प्रयोग’ तथा ‘दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास’ है। इनमें से ‘हिन्द स्वराज’ सबसे लोकप्रिय और प्रासंगिक पुस्तक है। यह पुस्तक महात्मा गाँधी के सक्रिय सार्वजनिक जीवन की प्रारंभिक कृतियों में से एक है। ‘हिन्द स्वराज को महात्मा गाँधी की सम्पूर्ण रचनाओं का सर कहा जा सकता है दूसरे शब्दों में यह पुस्तक महात्मा गाँधी के विचारों का दर्पण है।

‘हिन्द स्वराज’ का महत्व गांधीवाद के लिए लगभग वैसा ही है जैसा मार्क्सवाद के लिए कम्युनिस्ट

पार्टी के घोषणा पत्र का। सन् 1909 में लन्दन से दक्षिण अफ्रीका की वापसी की यात्रा में मूलतः गुजराती में लिखी इस पुस्तक का प्रकाशन आधुनिक भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। सर्वप्रथम यह ‘इंडियन ओपिनियन’ के गुजराती संस्करण में दो लेखों में प्रकाशित हुआ। 1910 में सरकार ने इसे खतरनाक

मानते हुए जब्त कर लिया। उसी वर्ष गाँधीजी ने इसका अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया और तब से लेकर आज तक यह पुस्तक प्रासंगिक बनी हुई है। महात्मा गाँधी ने ‘हिन्द स्वराज’ के विषय में 1921 के ‘यंग इंडिया’ के गुजराती अनुवाद में लिखा कि “यह बालक के हाथ में भी दी जा सकती है। यह द्वेष-धर्म की जगह प्रेम-धर्म सिखाती है; हिंसा की जगह आत्म-बलिदान को रखती है; पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है; इसकी अनेक आवृत्तियाँ हो चुकी हैं; और जिन्हें इसे

पढने की परवाह है उनसे इसे पढने की मैं जरूर सिफारिश करूँगा..।”¹

इस प्रदत्त पत्र में मैं ‘हिन्द स्वराज’ पुस्तक के अध्यायों की चर्चा करते हुए इस पुस्तक की प्रासंगिकता पर विचार करूँगा। ‘हिन्द स्वराज’ पुस्तक के प्रथम तीन अध्यायों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा भारतीय जन जागरूकता का जिक्र आया है। पहले अध्याय का

द स्वराज गांधी द्वारा लिखी उन महत्वपूर्ण रचनाओं में से है जिसे गांधीजी ने अपने विचार व दर्शन को स्पष्ट करने के लिए लिखा। राज्य समाज व राष्ट्र पर गांधी के विचारों की शायद यह सबसे परिष्कृत वस्तु स्पष्ट व्याख्या थी यद्यपि हिंद स्वराज एक मौलिक रचना है तथापि इसे लिखने के क्रम में गांधी कुछ प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के साथ-साथ भारतीय दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं



शीर्षक ‘कांग्रेस और उसके कर्ता-धर्ता’ है। इस अध्याय में गांधीजी अपनी दृष्टि में आम-आदमी व लोकपक्ष का तर्क प्रस्तुत करते हैं। ‘हिन्द स्वराज’ का दूसरा अध्याय ‘बंग-भंग’ एवम् तीसरे अध्याय ‘अशांति और असंतोष’ आपस में जुड़ा हुआ है। दूसरे अध्याय में अंग्रेजी हुकूमत द्वारा बंगाल का बंटवारा (1905) और तीसरे अध्याय में बंग-भंग के बारे में अंग्रेज सरकार के निर्णय के उपरांत पूरे देश और खासकर बंगाल में पैदा हुए “अशांति और असंतोष” के बारे में अपना विश्लेषण प्रस्तुत किया है। हिन्द स्वराज के दूसरे अध्याय में ‘बंग-भंग’ के बारे में गाँधीजी कहते हैं, “स्वराज के बारे में सही जागृति के दर्शन बंग-भंग से हुई... प्रजा एक दिन में नहीं बनती, उसे बनाने में कई बरस लग जाते हैं।”² तीसरे अध्याय में बंगाल विभाजन के परिणाम स्वरूप उपजे अशांति एवं असंतोष के बारे में अपने विश्लेषण में गाँधीजी कहते हैं कि नींद और जागने की प्रक्रिया में अंगडाई की स्थिति स्वाभाविक होती है ठीक उसी प्रकार गुलामी की प्रक्रिया में सुप्त चेतना और आत्म चेतना के बीच अशांति और असंतोष भी स्वाभाविक है। गाँधीजी ने इस अशांति और असंतोष को समाज के विकास के लिए जरूरी माना। उनका मानना था कि अशांति और असंतोष उसी समाज में होगा जो अपनी यथा-स्थिति से खुश नहीं होगा और अपने भीतर किसी प्रकार सकारात्मक बदलाव चाहता होगा। अर्थात् अशांति और असंतोष की भी समाज के विकास में बड़ी भूमिका है गाँधी जी के यह विचार इतने प्रासंगिक हैं कि किसी भी देश-काल में विश्व की किसी भी सभ्यता के समाज पर लागू किए जा सकते हैं।

अध्याय चार, ‘स्वराज क्या है?’ इस अध्याय से हिन्द स्वराज का असली असली घोषणापत्र शुरू होता है। इस अध्याय में गाँधीजी स्वराज का अर्थ एवं प्रकृति समझते हैं। उनका कहना है कि यह समझना बहुत

आवश्यक है कि इस देश से अंग्रेजों क्यों निकाला जाना चाहिए। गाँधी जी कहते हैं कि कुछ लोग अंग्रेजों को तो इस देश से भगाना चाहते हैं परंतु वे अंग्रेजी राज और अंग्रेजी राज के विधान में कोई बुराई नहीं देखते। गाँधीजी ने स्वराज के सही अर्थ को इस अध्याय में स्पष्ट किया है। इस अध्याय को पढ़ कर स्वराज की जो विस्तृत परिकल्पना स्पष्ट होती है जो बहुत शुद्ध और विराट है। गाँधीजी जिस स्वराज की तस्वीर सामने रखते हैं वह स्वशासन से पूर्व व्यक्ति के आत्मिक परिष्कार की मांग करता है। ऐसा स्वराज भारत में आज भी प्रासंगिक है।

आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की मीमांसा अध्याय पांच और छः में की गई है। अपनी कल्पना के स्वराज की चर्चा गाँधीजी हिन्द स्वराज के पांचवें अध्याय में करते हैं। जिसका शीर्षक है- ‘इंग्लैंड की हालत’। गाँधीजी कहते हैं कि इंग्लैंड में जो राज्य चलता है वह ठीक नहीं है और हमारे लायक नहीं है। इंग्लैंड की संसद तो बांझ और वेश्या है। वास्तव में इस अध्याय में अंग्रेजी राज के विधान को अपने तर्क से नकारते हैं। इस अध्याय में गाँधीजी ने आधुनिक प्रजातंत्र की संसदीय प्रणाली की सही और कटु आलोचना प्रस्तुत की है। इस आलोचना का महत्व समकालीन भारतीय संदर्भ में और भी बढ़ गया है। गाँधीजी के संसदीय व्यवस्था पर किए गये विचार आज भारत में बहुत प्रासंगिक हैं।

छठे अध्याय का शीर्षक है- ‘सभ्यता का दर्शन’। इस अध्याय का सैद्धान्तिक आधार एक ओर सनातन भारतीय सभ्यता की उनकी समझ है जो मूलतः गाँधीजी की व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधारित हैं तो दूसरी ओर यह प्लेटो, रस्किन, थोरो और टाल्सटाय की रचनाओं से प्रभावित है। भारतीय दृष्टि से यूरोपीय सभ्यता की प्रारम्भिक सैद्धान्तिक आलोचना है। आधुनिक सभ्यता की इतनी सटीक, इतनी कटु, इतनी

सरल भाषा में और इतनी कलात्मक आलोचना अन्यत्र दुर्लभ है। पश्चिम की सभ्यता की जिन खामियों को गाँधीजी ने अपने समय में ही पहचान लिया था। आज उन्हीं खामियों की वजह से भारत अपनी अस्मिता पर, संस्कृति पर संकट महसूस कर रहा है। गाँधीजी के यह विचार आज बहुत प्रासंगिक हो चुके हैं।

‘हिन्दुस्तान कैसे गया?’ का वर्णन अध्याय सात में है। सातवें अध्याय में गाँधीजी पिछले अध्याय के तर्क को आगे बढ़ाते हैं। इस अध्याय का शीर्षक में गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि – “हम अपनी पारम्परिक संस्कृति की आन्तरिक कमियों या समाज व्यवस्था की रणनीतिक कमजोरियों के कारण या अंग्रेजी संस्कृति की आन्तरिक शक्ति या उनकी समाज व्यवस्था की आन्तरिक गुणवत्ता के कारण नहीं हारें हैं बल्कि हमारे प्रभुत्व वर्ग और उभरते हुए मध्य वर्ग के लोभ और लालच के कारण बिना संघर्ष किये एक स्वैच्छिक समझौते के तहत हारे हैं।”³ अंग्रेजी राज एक अनैतिक एवं चालबाज सभ्यता की उपज है जो लोभ, लालच और अनैतिक समझौतों का प्रचार करती है और एक साजिश के तहत हमारे शासक एवं व्यापारी वर्ग को रिझाकर अपना उल्लू सीधा करती है। गाँधीजी उस समय उपनिवेशवाद की जिन खामियों को इंगित कर रहे थे वह खामियां आज के इस नवउपनिवेशवादी युग में अत्यंत प्रासंगिक है।

गाँधीजी का मानना था कि अंग्रेजों को यहाँ लाने वाले हम ही हैं और वे हमारी बदौलत ही यहाँ रहते हैं। हमने उनकी सभ्यता अपनायी है, इसलिए वे यहाँ रह रहे हैं। जिस दिन एक देश के रूप में हिन्दुस्तान का स्वाभिमान जाग गया और हमने उनकी शैतानी सभ्यता का आकर्षण त्याग दिया उसी क्षण हमें गुलामी से आजादी मिल जायेगी। वास्तव में इस अध्याय में हिन्दुस्तान अंग्रेजों के हाथ में क्यों है, इसकी सूक्ष्म

व्याख्या की गई है। इस अध्याय में गाँधीजी ने भारत के लोगों की जिन कमजोरियों और लालच को इंगित किया है वह आज भारतीय समाज में चरम पर है पश्चिमी सभ्यता ने आज भारत को अपने रंग में पूरी तरह रंग दिया है जिसने भारतीय सभ्यता को पूर्णतः बिगाड़ कर रख दिया है।

आठ से ग्यारह तक गाँधीजी हिन्दुस्तान की दशा की व्याख्या करते हैं। अध्याय आठ में गाँधीजी कहते हैं कि ‘आज हिन्दुस्तान की रंक (कंगाल) दशा है हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फंस गया है। उसमें से बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन-ब-दिन समय बीतता जा रहा है। मुझे तो धर्म प्यारा है। हिन्दुस्तान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है। धर्म का अर्थ मैं यहाँ हिन्दू, मुस्लिम या जरथोस्ती धर्म नहीं करता। लेकिन इन सब धर्मों के अंदर जो धर्म है वह हिन्दुस्तान से जा रहा है। हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं। धर्म से विमुखता गाँधीजी की पहली चिन्ता है। दूसरी चिन्ता गाँधीजी की यह है कि आधुनिक लोग हिन्दुस्तान पर यह तोहमत लगाते हैं कि हम आलसी हैं और गिरे लोग मेहनती और उत्साही हैं। गाँधीजी आगे कहते हैं कि हिन्दुस्तानी लोगों ने इस झूठी तोहमत को सच मान लिया है और आधुनिक मानदंडों पर खरा उतरने के लिए अनावश्यक रूप से गलत दिशा में प्रयत्नशील हो गये हैं। हिन्दू, मुस्लिम, जरथोस्ती, ईसाई सब धर्म सिखाते हैं कि हमें दुनियावी बातों के बारे में मंद और धार्मिक (दीनी) बातों के बारे में भी उत्साही रहना चाहिए। हमें अपने सांसारिक लोभ, लालच और स्वार्थ की हद (सीमा) बांधनी चाहिए और आत्म विकास एवं सांस्कृतिक परिष्कार पर ज्यादा ध्यान केंद्रित करना चाहिए। गाँधीजी बल देकर कहते हैं कि जैसे पाखंड आधुनिक सभ्यता में पाया जाता है उसकी तुलना में सभी धर्मों में पाया जाने वाला

व्यवहारिक पाखंड कम खतरनाक और कम दुखदायी होता है। आधुनिक सभ्यता एक प्रकार का मीठा जहर है। उसका असर जब हम जानेंगे तब पुराने वहम और धार्मिक पाखंड इसके मुकाबले मीठे लगेंगे। आधुनिक सभ्यता के वहमों और पाखंडों से आधुनिक सभ्यता में आस्था रखने वाले लोगों को लड़ने का कोई कारण नजर नहीं आता। जबकि सभी धर्मों के भीतर धर्म और पाखंड के बीच धार्मिक संघर्ष सदैव चलता रहा है। गाँधीजी की तीसरी चिन्ता यह है कि कुछ लोगों को भी भ्रम है अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान में शांति एवं सुव्यवस्था कायम की है और अंग्रेज नहीं होते तो ठग, पिंडारी, भील आदि आम आदमियों का जीना नामुमकिन कर देते। गाँधीजी इसे भी अंग्रेजी राज प्रेरित आधुनिक कुप्रचार मानते हैं। इन सबका इस अध्याय में गहराई से विचार किया गया है।

इसी क्रम को नवें अध्याय में ‘हिन्दुस्तान की दशा’ की व्याख्या करते हुए रेलगाड़ियों के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। हिन्दुस्तान की तत्कालीन दशा के बारे में गाँधीजी की सोच यह है कि- “वास्तव में जिन चीजों ने हिन्दुस्तान को रंक (कंगाल) बनाने में सबसे बड़ी भूमिका निभाई है उसे ही हम लोगों ने लाभकारी मानना शुरू कर दिया है। हिन्दुस्तान को रेलों ने, वकीलों ने और डॉक्टरों ने कंगाल बना दिया है। गाँधीजी की दृष्टि में आधुनिक सभ्यता एक अदृश्य रोग है। इसका नुकसान मुश्किल से मालूम हो सकता है।”⁴ इस अध्याय का मूल उद्देश्य आधुनिक सभ्यता के तकनीकी आधार पर सूक्ष्म समालोचना है। इसमें गाँधीजी कहना चाहते हैं कि किसी भी सच्ची, अच्छी और कल्याणकारी सभ्यता का आधार धर्म, नीति और मूल्य होते हैं तथा यंत्रों, तकनीकों एवं मशीनों का उपयोग मात्र साधन के रूप में होता है। जबकि आधुनिक सभ्यता का आधार मूल्य, नीति और धर्म के बदले आधुनिक तकनीक वाला

मशीन बन जाता है। गाँधीजी तकनीक की सांस्कृतिक उपयुक्तता का प्रश्न उठाते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य के जीवन, आकांक्षा, सुख-दुख, सफलता-असफलता, हानि-लाभ, प्रगति-पतन जैसे मूल विषयों को जब मूल्यों के स्थान पर तकनीक परिभाषित करने लगते हैं तब सभ्यता पर असली संकट आता है। गाँधीजी के तर्क में दम तो है परन्तु पिछले अध्यायों के तर्क से थोड़ी असंगति भी दिखती है।

गाँधीजी की पांचवीं चिन्ता यह है कि – “लोग अंग्रेजों के इस कुप्रचार को सच मानते हैं कि हिन्दुस्तानी लोग अंग्रेजों और रेलवे के आने से पहले एक राष्ट्र नहीं थे और एक राष्ट्र बनाने में हम लोगों को सैकड़ों बरस लगेंगे। गाँधीजी साफ-साफ कहते हैं कि यह बिल्कुल बेबुनियाद बात है। जब अंग्रेज हिन्दुस्तान में नहीं थे तब भी हम एक राष्ट्र थे। हमारे विचार एक थे। हमारा रहन-सहन एक था। तभी तो अंग्रेजों ने यहां एक राज्य कायम किया। हमारे बीच भेद तो बाद में उन्होंने पैदा किया। एक राष्ट्र का अर्थ यह नहीं कि हमारे बीच कोई मतभेद नहीं था।”⁵ परन्तु हमारे बीच एकता के महत्वपूर्ण सूत्र प्राचीनकाल से रहे हैं। हमारे यहां रेलवे नहीं थी लेकिन हमारे समाज के प्रमुख लोग पैदल या बैलगाड़ी में हिन्दुस्तान का सफर करते थे। वे लोग एक-दूसरे की भाषा सीखते थे। देश के चारों कोनों तक लोग तीर्थ करने जाते थे। हमारे यहां एकता का सूत्र अलग प्रकार के रहें हैं।

हिन्द स्वराज के दसवें अध्याय में गाँधीजी हिन्दुस्तान में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों की दशा-दिशा की समालोचना करते हैं। हिन्दुस्तान की तत्कालीन दशा के बारे में गाँधीजी की छठी चिन्ता यह है कि विदेशी शिक्षा और कुप्रचार के प्रभाव में कुछ लोग मानने लगे हैं कि भारत में हिन्दू-मुसलमान कभी मिलकर नहीं रह सकते। यह एक काल्पनिक मिथ है। हिन्दुस्तान में इसलिए सभी

धर्मों और मतों के लिए स्थान है। यहां राष्ट्र सभ्यतामूलक अवधारणा है। राष्ट्र या सभ्यता का अर्थ यहां तात्विक रूप से सदैव विश्व व्यवस्था या वसुधैव कुटुम्बकम के रूप में रहा है। नये धर्मों या विदेशी धर्मों एवं उनके अनुयायियों के प्रवेश से यह राष्ट्र कभी आतंकित और चिंतित नहीं होता। यह एक सनातन सभ्यता है, सनातन राष्ट्र है। यह अंततः मिटने वाली नहीं है। जो नये लोग इसमें दाखिल होते हैं, वे इस राष्ट्र की प्रजा को तोड़ नहीं सकते, वे इसकी प्रजा में अंततः घुल-मिल जाते हैं। हिन्दुस्तान ऐसा रहा है और आज भी ऐसा ही है। गाँधीजी ने स्पष्ट किया कि पूजा पद्धति, रीति-रिवाज और उपासना की साम्प्रदायिक व्यवस्था के स्तर पर हिन्दू-मुसलमानों में अंतर अवश्य है परंतु यह अंतर उन्हें दो राष्ट्रों की प्रजा नहीं बना सकता। 1947 में देश के बंटवारे के अवसर पर भी गाँधीजी ने नहीं माना कि दो राज्य बनने से भारत और पाकिस्तान नामक दो राष्ट्र बन गए। वे हमेशा मानते रहे कि भारत में राष्ट्र की अवधारणा सभ्यतामूलक रही है, एक प्रकार की भू-सांस्कृतिक अवधारणा रही है और समय-समय पर इनमें न सिर्फ एक से अधिक राज्य होते रहें हैं बल्कि उनके बीच राजनैतिक शत्रुता भी रही है। गाँधीजी का मानना था कि बंटवारे के बावजूद भारत और पाकिस्तान के हिन्दू-मुसलमान एक ही सभ्यता के अंग रहेंगे।

हिन्द स्वराज के ग्याहरवें अध्याय में वे तत्कालीन हिन्दुस्तानी समाज में वकीलों, जजों और आधुनिक न्यायालयों के द्वारा ब्रिटिश राज के संवर्धन की समालोचना करते हैं। उस समय के हिन्दुस्तानी समाज के बारे में गाँधीजी की सातवीं चिंता भारतीय समाज में वकीलों के बढ़ते महत्व को लेकर है। उनकी राय में वकीलों ने हिन्दुस्तान को गुलाम बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस अध्याय में गाँधीजी भारतीय वकीलों की सुप्त राष्ट्रवाद को जगाकर उन्हें अंग्रेजों से

असहयोग करने के लिए प्रेरित करते हैं।

हिंद स्वराज के बारहवें अध्याय में वे हिंदुस्तान की तत्कालीन दशा से संबंधित अपना पाँचवाँ लेख डॉक्टर शीर्षक से पूरा करते हैं। इस दृष्टि से पांच लेखों के अंतर्गत गाँधीजी की आठवीं चिंता वकीलों, डॉक्टरों जैसे नये पेशों के प्रचार-प्रसार के बहाने अनीति अधर्म के नये-नये क्षेत्रों के प्रचार प्रसार को लेकर है। इस अध्याय के संदर्भ में ध्यान देने पर इसमें अंग्रेजी राज के विरुद्ध और हिंदुस्तानी सभ्यता में स्वराज की प्राप्ति की दृष्टि में गाँधी अपना आठवाँ तर्क और अंतिम चिंता प्रस्तुत करते हैं। यह अध्याय अंग्रेजी राज और आधुनिक सभ्यता के खिलाफ है यह अध्याय गाँधीजी के तरकश का अंतिम बाण है। इस अध्याय में अंग्रेजी राज में डॉक्टरों की भूमिका की वे सरल भाषा में समालोचना प्रस्तुत करते हैं। यह अध्याय अपने समय से काफी पहले उत्तर आधुनिकता के आधार पर ही व्यक्ति को अपना डॉक्टर खुद बनने, अपने शरीर के स्वभाव और जरूरतों को समझकर अपने रोगों का खुद इलाज करने और अपने सर्वांगीण स्वास्थ्य का ख्याल रखने की अपील करता है। साथ ही साथ अंग्रेजी राज के हिंदुस्तान में बने रहने का अंतिम और सबसे मजबूत नैतिक स्तंभ ढहाने की कोशिश करता है।

हिंद स्वराज के अंतिम अध्याय में गाँधीजी पूरे हिंद स्वराज का निष्कर्ष बताते हैं साथ ही पाठक गाँधीजी से राष्ट्र के नाम और उनके संदेश के बारे में पूछता है। गाँधीजी का संदेश स्पष्ट है कि “इस रास्ते से मैं कहूंगा कि जिस हिंदुस्तानी को स्वराज की सच्ची खुमारी या मस्ती चढ़ी होगी, वही अंग्रेजों से ऊपर की बात कह सकेगा और उनके रोब से नहीं दबेगा।... सच्ची मस्ती तो उसी को चढ़ सकती है, जो ज्ञानपूर्वक समझ-बूझकर यह मानता हो कि हिंद की सभ्यता सबसे अच्छी है और यूरोप की सभ्यता चार दिन की चांदनी है।”⁵

हिंद स्वराज में जिस आधुनिक सभ्यता की निंदा-भर्त्सना की गई है, उसके पीछे गांधीजी की मूल भावना यही है कि यह आधुनिक सभ्यता मनुष्य की आत्मा की अवहेलना कर उसके शारीरिक सुख को महत्वपूर्ण मानती है। यह मुख्यतः भौतिक और आध्यात्मिकता के बीच के चुनाव का मामला है। आधुनिक सभ्यता की प्रेरणा मनुष्य को उपभोक्ता मानने में है जबकि गांधीजी ‘हिन्दस्वराज’ के मनुष्य को नियन्ता मानते हैं। शरीर सुख या उपभोक्तावाद की बढ़त से ना सिर्फ मनुष्य की आत्मीयता की, आध्यात्मिकता की अवमानना होती है, बल्कि बाह्य जगत के साथ उसकी आत्मीयता से बाधित होती है और समाज के विभिन्न समूहों के बीच एक परिचय और संवेदनहीनता की स्थिति बनती है। परंतु हिंद स्वराज को दो सभ्यताओं के टकराव के रूप में देखने के साथ-साथ भविष्य के समाज की रूपरेखा के मॉडल के रूप में भी देखना चाहिए और समूचे मानव और प्रकृति के संतुलित और समग्र दृष्टिकोण के तहत भी इसका महत्व बनता है जिसमें पूर्व और पश्चिम का सवाल शायद उतना नहीं है जितना अच्छे और बुरे का, करणीय और अकरणीय का और व्यापक अर्थ में पुण्य और पाप का। गाँधीजी के यह विचार उन सभी सभ्यताओं के लिए प्रासंगिक है जो अपने मूल को खोती जा रही हैं।

निष्कर्षतः हिंद स्वराज गांधी द्वारा लिखी उन महत्वपूर्ण रचनाओं में से है। जिसे गांधीजी ने अपने विचार व दर्शन को स्पष्ट करने के लिए लिखा। राज्य समाज व राष्ट्र पर गांधी के विचारों की शायद यह सबसे परिष्कृत वस्तु स्पष्ट व्याख्या थी यद्यपि हिंद स्वराज एक मौलिक रचना है तथापि इसे लिखने के क्रम में गांधी कुछ प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के साथ-साथ भारतीय दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं इसमें गांधीवादी राजनीति के कुछ अत्यंत ही मौलिक सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है दूसरे शब्दों में गांधी ने अपनी वास्तविक स्थिति को हिंद स्वराज के माध्यम से स्पष्ट किया तथा अंत तक उस पर कायम रहे वास्तव में हिंद स्वराज में हिंदुस्तान के स्वराज की उपलब्धि के लिए गांधी की संपूर्ण रणनीति का सबसे निर्णायक पहलू सामने आता है इसके अलावा स्वराज व सत्याग्रह से संबंधित गांधीजी के सामाजिक व राजनीतिक विचारों का सबसे प्रमाणिक दस्तावेज है। हिंद स्वराज में गांधी जी ने अपने पूर्व भारतीयों की अपेक्षा कहीं अधिक मौलिक रूप से भारतीय समाज के आध्यात्मिक व नैतिक ताने-बाने तथा यूरोपीय राज्यों के तथा राजनीतिक रूप से भ्रष्ट प्रकृति के बीच के अंतर को स्पष्ट किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. हिन्द स्वराज, गाँधी महात्मा, शिक्षा भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2017, पृष्ठ संख्या-25
2. वहीं, पृष्ठ संख्या-45
3. वहीं, पृष्ठ संख्या-56
4. वहीं, पृष्ठ संख्या-70
5. वहीं, पृष्ठ संख्या-77



पल्लवी शर्मा की कविताएँ

चित्र. १

जैसे कि एक दृश्य खींचा हो किसी ने
और मैं उसका हिस्सा हूँ

मेरी बाहों की जगह परों ने ले ली है
और मस्तिष्क की जगह एक धड़कता दिल है
मुड़े हुए कागज़ को सीधा कर
हवा में लहरा कर बीचों बीच
एक लकीर खींच कर
चलती जाती हूँ एक ही दिशा में
हाशियों से होती हुई
पन्नों से बाहर उतर जाती हूँ
और अपनी पोरुओं को पानी में डुबो कर
महसूस करती हूँ उसका तापमान
तमाम कोशिशों के बाद भी
उस मकड़ी की तरह
जो कशीदाकारी में माहिर होते हुए भी
गिर जाती है
उस जलाशय में
जिसका पानी बर्फीला है
जो ठंडा कर देता है
रंगों में बहते
सारे किस्सों को
धूमिल चित्र
अनायास ही छहल जाता
और बहने लगता है
उलटी दिशा में

सब थिर हो जाने के बाद
देखती हूँ कि
मैं डूब रही हूँ
उस पानी में
जो शीशे की तरह साफ़
और पन्नों की तरह खामोश है

(रक्त) बीज

परिवर्तन का बीज थी वो
जहाँ गिरती
जम जाती फिर उग आती
शरीर धर
आकांक्षाओं का कटा हुआ सर
चक्र की तरह घूमता
और फिर धँस जाता
आधा सत्य की धरा

मन को बंजर कर देने वाली
जान लेवा
तीर सी बातें
छलनी होता समय
जन्म लेता
और अगले ही क्षण
धड़ से अलग कर दिया जाता
उनका सर

नीले मुलायम रेशे
हाथ की कारीगिरी
इलास्टिकी अंग प्रत्यंग
प्राकृतिक कवच
न कोई सेंथेटिक मस्तिष्क
न दाँव -पेच
सिर्फ धड़कता दिल
जिसका दुःख पहाड़ों से ऊँचा
और गुस्सा दावानल सा
वह बुझने का नाम लेती
मर मर कर हुंकार भरती
ललकारती अजई बिजई को
समृद्ध को बलवान को
सूत कर समेट कर

सत्य की हर बूँद को आत्मसात कर
 अपनी जिव्हा को
 गुलाबी पँखुड़ियों से सजा
 विपक्षी पंक्तियों को हरा कर
 शांति से विलाप कर
 कटोरे में स्मृतियों को बटोर
 पी जाती सारा उसे
 एक ही बार में
 रोष में जोश में
 कर जाती वो
 जो सदियों से करना चाहती थी

काट हर बाधा को
 लाँघ कर हर रेखा को
 सोख कर सारी नमी को
 आगे बढ़ती जाती
 कलम करती जाती
 असली उत्पातियों का
 निर्माताओं का

निर्देशकों का
 जिन्होंने उसकी आड़ में
 खेला था यह खेल विषैला
 रौंदा था हर हर उठने वाली आवाज़ को
 बंजर जमीन पर
 उगने वाले हर बीज को
 जिन्होंने जड़ से उखाड़ कर
 जंगल झाड़ियों को
 पनपती सभ्यता
 आदिम समाज को
 समतल कर नयी संभावनाओं को
 यथा स्थिति बहाल कर
 उसे अपना औजार बना
 एक पंथ दो काज कर
 परिवर्तन का बीज थी वो
 जहाँ गिरती
 जम जाती फिर उग आती
 शरीर धर

पल्लवी शर्मा

जन्म: पटना, बिहार

शिक्षा: पी.-एच डी., राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान, कला इतिहास, संरक्षण एवं संग्रहालय विज्ञान, नयी दिल्ली।बी. एफ .
 ए. तथा एम. एफ. ए. (कला इतिहास) -ललित कला संकाय, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वदोदड़ा
 कार्यक्षेत्र: दो दशकों से अमेरिका में कला और साहित्य सृजन में कार्यरत व नियमित रूप से कला दीर्घाओं और
 संग्रहालयों की प्रदर्शनियों में भागीदारी।

कला संस्था ‘इनर आई’ की संस्थापक व डॉयरेक्टर के तौर पर लगातार पिछले दस वर्षों से कला प्रदर्शनी और
 साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन व संचालन। अनेक कला संगोष्ठियों में विभिन्न विषयों पर शोध प्रस्तुति व प्रकाशन।
 प्रथम कविता संग्रह “कच्चा रंग” २०१८ में, तथा निरंतर ‘हिंदी जगत’, ‘समालोचन इ वेबपत्रिका’, तथा ‘हिंदी नेस्ट’ में
 कविताओं का प्रकाशन।

कैलिफोर्निया के सैन रमोन शहर कला अडवाइसरी बोर्ड छह साल और विगत दस वर्षों से सन फ्रांसिस्को के एशियन
 अमेरिकन वीमेन आर्ट्स असोसिएशन ‘की बोर्ड सदस्या’ “कैलिफोर्निया कॉलेज ऑफ द आर्ट्स” के ‘क्रिटिकल
 एथनिक स्टडीज प्रोग्राम’ में कला अध्यापक के पद पर कार्यरत!

कहानी

साक्षात्कार

भोला नाथ सिंह

फुटलाही, पत्रालय- बिजुलिया

चास, बोकारो- 827013

झारखण्ड

मोबाइल नंबर -09304413016.

स्कूल मोड़ पर घंटा भर से अधिक खड़ा रहने के कारण सागर खिन्न हो उठा था। सवारी गाड़ी के रूप में ट्रेकर मिलते हैं पर जब तक वे ठसाठस भर न जाएँ तब तक टसकने का नाम ही नहीं लेते। अधिकतर वाहन मालिक चालक भी थे। सवारी लाख उकता ले उनकी बला से। किसी का काम हर्ज हो या गाड़ी छूटे, उनके बाप का क्या ? कहने पर टका सा ज़वाब दे देते - 'खाली गाड़ी लेकर जाएँ क्या ?' ऊपर से बेहिसाब खर्च और बचत न होने का रोना जबकि छत पर भी सवारियों को सामान की तरह लादे चलते हैं। जान जोखिम में होती है सो अलगा।

'काश ! कोई परिचित मोटरसाइकिल वाला मिल जाता', सागर सोचता और कुढ़ता रहा लेकिन समस्या का निदान न हो सका। अंत में पुराने ट्रेकर में ठूँसा , घरघराहट को झेलता, गड्डों में हिचकोले खाता वह गणेशी के हवाले चल पड़ा। साक्षात्कार के लिए उसे दस बजे का समय दिया गया था और नौ बज चुके थे। अभी आधी ही दूरी तय कर पाया था। योधाडीह मोड़ से चास बाज़ार और फिर कॉलेज, पहुँचने में काफी समय लगेगा। खैरियत है कि कॉलेज मार्ग में गाड़ियों की आवाजाही अधिक है। अन्यथा चास से पंद्रह किलोमीटर की दूरी तय करने में ही उसे घंटा भर लग जाता।

योधाडीह मोड़ पहुँचकर उसने गणेशी को पाँच

का नोट थमाया तो गणेशी ने नोट वापस उसकी हथेली पर पटकते हुए कहा, "ये क्या दे रहे हैं ? सात रुपए निकालिए।"

"क्यों भाई ? भाड़ा तो पाँच ही रुपए है ना ?" वह गणेशी के व्यवहार से हतप्रभ था।

"वह कल तक था आज नहीं। डीजल के दाम बढ़े इसलिए भाड़ा भी बढ़ गया। अब सात रुपए लगेंगे", कहते हुए गणेशी ने आँखें तरेरीं।

सरकारी खोपड़ी में मस्तिष्क होता है या नहीं, पता नहीं। पेट्रोलियम के दाम बढ़ाने में उन्हें मज़ा आता है शायद। डीजल की कीमत लीटर प्रति तीन रुपए बढ़े या दो रुपए, भाड़ा में बीस से चालीस फीसदी वृद्धि हो जाती है। बीच में कीमत एक रुपया घट भी गया तो भी भाड़ा घटने से रहा। चावल, दाल, आटा से लेकर अन्य सभी आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बरसाती बेलों की तरह लपलपाती बढ़ती चली जाती हैं। मोटी तनख्वाह पाने वाले सरकारी कर्मचारियों को क्या ? फ़ैसले उनके और मार आम जनता पर। वे तो आठवें-दसवें वेतन आयोग के लिए हड़ताल कर बैठेंगे। बीस से पचास हजार की माँग हो जाएगी। देर-सवेर मिल भी जाएगा पर नब्बे प्रतिशत जनता महंगाई की मार झेलती असमय बूढ़ी हो जाएगी। सरकार के पास रोजगार है न कोई अन्य विकल्प। है तो सिर्फ महंगाई और भ्रष्टाचार। ज़ेबकतरे की

तरह गरीबों के जेब को भी नहीं बरख्शाती। जॉक, मच्छर और खटमल की तरह बिना मोह और लगाव के सिर्फ चूसना जानती है।

जेब में जितने पैसे थे नए भाड़ा दर के लिए नाकाफी थे। कॉलेज तक जाकर लौटना भी था। ऐसे में वह पेट के लिए दो दाने का भी कहीं जुगाड़ बिठा नहीं पाता। सुबह सात बजे ही घर से निकला था। झिंकझिंक करना उसे अच्छा नहीं लगता पर करना पड़ा।

उसने कहा, "क्यों भाई ? डीजल की कीमत तीन रुपए बढ़ी, फिर सरकार ने एक रुपया दस पैसे कम कर दिया। लगभग दो रुपए प्रति लीटर बढ़ी और पूरे रास्ते को तय करने में तुम्हें मुश्किल से दो लीटर खर्च करने पड़ते हैं। चार रुपए खर्च में वृद्धि हुई और वसूलते हो पचास रुपए। पच्चीस से कम सवारी तो ऊपर-नीचे लाद लाते नहीं।"

"सुनो भाई, नेतागिरी की दरकार नहीं। और भी दूसरी चीजों की कीमतें बढ़ीं हैं। दिन भर में एक ही ट्रीप लगता है। लाखों की पूंजी लगी है। दो-चार सौ रुपए भी नहीं बचा तो क्या खाक बिजनेस चलेगा ? रार मौलने की क्या तुक है ? भाड़ा दो और अपना रास्ता नापो", गणेशी का स्वर कर्कश हो उठा था।

सागर जानता था कि बहस से फ़ायदा नहीं होने वाला। वक्त की ताकीद है कि वह भाड़ा चुकाकर चलता बने। एक तो दूसरी सवारी साथ देने वाली नहीं तिसपर सरकारी अधिकारी चिरनिंद्रा में रंगीन स्वप्न ही देखते रहते हैं। उनकी कुंभकर्णी नींद टूटने से तो रही।

इस बहस से वह अन्यमनस्क सा हो गया था। यह तो गनीमत थी कि प्रमाणपत्रों की छायाप्रति पहले ही करवा रखा था अन्यथा वहाँ भी डीजल की कीमत के नाम पर अधिक खर्चने पड़ते या झिंकझिंक करनी

पड़ती।

योधाडीह मोड़ से चास बाज़ार तक एक मील उसे पैदल ही जाना पड़ा। फिर कॉलेज मार्ग की गाड़ी पकड़ झटपट चल पड़ा। पौने दस होने को थे। गर्मी प्रारंभ हो चुकी थी। सवा दस के करीब वह कॉलेज पहुँच चुका था। देखा कुछेक प्रतिभागी उपस्थित हो चुके थे। कुछ आ ही रहे थे। बैठने के लिए एक तंबू तान दिया गया था। कुछ कुर्सियाँ बिछी हुई थीं। वह भी जाकर बैठ गया।

आस-पास बैठे सभी प्रतिभागी एक ही बात को लेकर चिंतित थे कि पगार कितनी मिलेगी। चूंकि विज्ञापन में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं था इसलिए संशय की स्थिति बनी हुई थी। सभी इसकी जानकारी पाने को बेचैन थे।

सामने थे उत्तर प्रदेश से आए हुए एक सज्जन, जो हर शब्द को चबा-चबाकर बोल रहे थे। 'हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' पर गहन दृष्टि जमाए बार-बार बालों पर हाथ फेरते थे। उनके दो-चार परिचित पहले से ही उस महाविद्यालय में मौजूद थे। उनसे बतियाते रहे तो सबों को यह सुबहा हुआ कि इनकी नौकरी तो पक्की समझो। इनकी पहुँच बहुत दूर... तक है। उसी प्रदेश से एक अधेड़ महिला भी पधारीं थी जिनके पास उपाधि के अलावे मान-पत्रों, प्रशस्ति-पत्रों का पिटारा भरा हुआ था। एक कम उम्र बाला घबराहट में सिकुड़ी जा रही थी। रह-रहकर उसका व्यवहार असामान्य हो उठता था। 'पता नहीं कैसे ज़वाब दूँगी ? मैं तो बोल ही नहीं पाऊँगी', कहती हुई बार-बार पानी पी रही थी।

साक्षात्कार समिति की ओर से पानी की व्यवस्था थी। जितना चाहें पानी पी सकते हैं। तीन सौ रुपए का माँग-पत्र (डिमांड ड्राफ्ट) बाकायदा जमा करना

पड़ा था। सागर जैसे बेरोज़गार के लिए अखर गया था। ऊपर से बैंक का कमीशन और समय का खर्च अलगा। सुदूर गांव का निवासी असुविधाओं का मारा होता है।

बगल में राँची से आए हुए एक सज्जन बैठे थे। सौहार्द्रपूर्ण माहौल में बातें कर रहे थे। उनसे मिलने उनकी महिला मित्र आई हुई थीं जो सबके आकर्षण का केंद्र बनी हुई थीं। इनसे भी अधिक एक अन्य महिला प्रतिभागी ध्यान आकृष्ट कर रही थी जिनका शृंगार बड़ा अद्भुत था। पल्लू में घुंघरू टँके हुए थे। जब वे चलतीं तो छुन-छुन का संगीत लहरा उठता था। इतना सबकुछ होते हुए भी हर मस्तिष्क में एक ही प्रश्न उमड़-घुमड़ रहा था कि पगार कितनी होगी।

एक सज्जन जो संभवतः आस-पास के रहने वाले थे, बता रहे थे -‘दो हजार रुपए से अधिक नहीं मिलता किसी को यहाँ। वह भी देर-सवेरा। सचिव की कृपा से यदा-कदा कुछ मिल जाता है। अन्यथा आमदनी ही क्या है?’

सागर मन-ही-मन जोड़ने लगा -‘आने-जाने का किराया ही चालिस रुपए। चाय-पानी के दस भी रख दूँ तो कुल पचास प्रतिदिन। बचेगा क्या ? ऊपर से आने-जाने में अतिरिक्त समय। लगता है कोई लाभ नहीं होगा।’

उसे याद आया जब वह बैंक में ड्राफ्ट बनवा रहा था। खाजाँची ने प्रपत्र देखकर कहा था -‘वहाँ का वेतन रामभरोसे। मैं तो कहता हूँ कि ऐसे कॉलेज में पढ़ाने से बेहतर है पकौड़ियाँ बेचना।’

वह आहत हो गया था। भला पकौड़ी बेचने और पढ़ाने में समानता कहाँ है ? माना उसमें पैसे अधिक मिल जाते हैं परन्तु शिक्षण से उसकी तुलना उचित नहीं। चाहे वह वहाँ काम करे या न करे। एक चपरासी को

बुलाकर पूछा, "भाई, वेतन कितना मिलता है यहाँ के शिक्षकों को?"

"साहब, रहने भी दीजिए। सुनेंगे तो भाग खड़े होंगे", कहकर वह टाल गया था।

एक अन्य कर्मचारी से पूछा तो उसने गोल-मटोल ज़वाब दिया, "वह तो पता चल ही जाएगा। अच्छा ही है....।" उसके ज़वाब के अंदाज़ ने रहस्य को और गहरा दिया। वैसे भी सागर को भान हो ही गया था। उसका मन अब व्याकुल हो उठा था। आकर्षण बिल्कुल समाप्त हो गया था।

एक ही समिति साक्षात्कार ले रही थी। पहले वाणिज्य वाले गए। फिर विज्ञान वाले विषयवार। अंत में कला संकाय के विभिन्न विषयों की बारी आई। ढाई बजे हिन्दी वालों को समय मिला। इस बीच प्यास बुझाने को पानी ही मिला जो अब गर्म हो चुका था। अंतड़ियाँ भूख से कुलबुलाने लगी थीं। उत्साह जैसा कुछ रहा ही नहीं। बेरोज़गार युवकों में साक्षात्कार के प्रति उमंग दूध में उफान की तरह उठता है और आवेग में बहता चला जाता है। अंत में पता चलता है कि सारा दूध ही बिला गया है। शीतल जल के छींटे मारने वाला कोई होता ही नहीं वहाँ।

खैर जो भी हो, जल्दी से निबटा कर घर लौटना था। देर हुई तो गाड़ी नहीं मिलेगी। ग्रामीण क्षेत्र के उसके इलाके में शाम पाँच बजे के बाद गाड़ी मिलनी मुश्किल हो जाती है।

चार-पाँच प्रतिभागी थे हिन्दी के। उन्हें बरामदे में अलग बिठा दिया गया। भीतर कमरे में समिति के सदस्य आपस में बातें कर रहे थे। उनके ठठाकर हँसने की आवाज़ें आ रही थीं। सचिव भी साक्षात्कार ले रहे हैं। विश्वविद्यालय से कोई प्रतिनिधि पधारे हैं। एक-दो विषय

विशेष के विशेषज्ञ। अन्य सबकुछ पूर्ववत्। तभी किसी की आवाज़ आई, "भोजन तैयार हो गया है, खा लिया जाए फिर बैठते हैं।"

सभी सदस्य एकमत होकर चले गए। उम्मीदवारों को कहा गया कि पंद्रह मिनट इंतज़ार करें। बाध्यता थी, करनी ही पड़ेगी। भोजन भी भला पंद्रह मिनट में ! आधा घंटा से ऊपर चला गया। फिर पान-सुपारी में पाँच मिनट। इसके बाद ही सदस्य गण पधारे। एक-एक कर बुलाया जाने लगा। महज़ पाँच मिनट, चार मिनट की पूछताछ और उम्मीदवार बाहर।

एक से पूछा गया, "किसी प्रतिष्ठित साहित्यकार का नाम बताएँ जो विदेश यात्रा पर भी गए हैं।"

अधेड़ महिला भीतर गई फिर तुरंत बाहर निकल अपने पति को बुलाने लगी। जैसा कि सावधानी या अज्ञता के लिए लोग करते हैं, सागर ने उनसे पूछा, "क्या-क्या पूछा गया आपसे ?"

"कुछ भी नहीं। मेरे प्रमाणपत्र और मान-पत्र देखकर ही उन्होंने पूछना छोड़ दिया। कहा- आपकी नौकरी पक्की। बस वेतन तीन हजार ही मिल सकता है। अपने पति से पूछ लें। अभी आप जहाँ कार्यरत हैं वहाँ छोड़कर आना चाहेंगी ?"

सागर की बारी आई। वह भीतर गया। शालीनता से अभिवादन किया। नाम, पता, योग्यता, उत्तीर्णता वर्ष जैसे सामान्य प्रश्नों के बाद पीएचडी करने की इच्छा और विषय के संबंध में पूछा गया। सागर ने बताया, "इच्छा तो है। विषय मैं यथार्थवादी कहानियों के संदर्भ में रखना चाहता हूँ।"

"आपने नए लेखकों को पढ़ा है ? अमुक, फलाना, आदि को ?"

"हाँ, अमुक की एकाध रचनाएँ।"

"कौन सी ?"

"शीर्षक याद नहीं।" उसने अनेकों लेखकों को पढ़ा था। पढ़ भी रहा था। नाम सबका याद रख पाना मुश्किल था। प्रसंगानुकूल हो तो स्मरण कर लो। अभी आवश्यकता महसूस नहीं हुई थी।

"नहीं, आपने नहीं पढ़ा है।" सचिव के इस कथन से वह तिलमिला उठा था। कितनी अभद्रता है इनकी वाणी में ? परंतु उसने स्वयं को संयमित ही रखा।

"आप जब पढ़ाएँगे, तब आपको इनके उदाहरण देने होंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि आप किसी लेखक को पढ़ा रहे हों और दूसरे का उदाहरण न आए।"

सागर को लगा कि वह कह दे -'एक बेरोज़गार व्यक्ति किताबों पर दो सौ खर्च करेगा या परिवार के लिए राशन की व्यवस्था ? बच्चे भूखे बिलख रहे होंगे तो किताब चबाकर पेट नहीं भर पाएँगे। पेट भरा हो तो ही कुछ खर्च कर पाना संभव है। उसे भी नौकरी मिले, अच्छी पगार मिले फिर उसका पढ़ने का जुनून बढ़ जाएगा। किताबी कीड़ा तो वह है ही। पढ़ा भी अनेकों को है पर रोजी के लिए गणित के सूत्र रटने पड़ते हैं, विज्ञान के समीकरणों में उलझना पड़ता है। साहित्य और संगीत का आनंद दूर होता चला जाता है।"

वह प्रेमचंद और गोर्की की समानता या तुलना के माध्यम से अध्यापन का पक्षधर नहीं। वह मानता है प्रत्येक साहित्यकार अपनी कृति में जीता है, मरता है। कहीं-न-कहीं वह स्वयं उस कृति में मौजूद रहता है। उसका अनुभव, उसके विचार शब्द सूत्रों में पिरोए होते हैं। सबकी अपनी सीमाएँ हैं, प्राथमिकताएँ हैं, अपने उद्देश्य हैं। हाँ, कहीं-कहीं वे प्रेरित या प्रभावित हो सकते

हैं दूसरों से। पर ऐसे में मौलिकता की हत्या होती है। वह साहित्य की 'वाद परंपरा' और दलबंदी से नफ़रत करता है परंतु मज़बूत है। जहाँ तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन की बात हो, उसे अलग नज़रिए से देखा जाना चाहिए। आलोचना का एक सीमित क्षेत्र है। प्रत्येक कृति की अपनी विचारधारा हो सकती है और वही उसकी आत्मा होती है। कृति उसी आत्मा में जीती है।

"तो फिर आप कैसे पढ़ाएंगें?"

"विषय या प्रसंगानुसार उदाहरण भी दूँगा। पाठ्यक्रम के अनुसार पढ़ाऊँगा। तुलना सिर्फ आलोचना के समय ही अपेक्षित है।"

उसकी आवाज़ भूख से भीतर खिंच रही थी। शायद बोलने का मन नहीं कर रहा था। हालांकि जिन लेखकों के नाम गिनाए गए थे, वे न तो चर्चित थे और न ही उनकी कोई रचना पाठ्यक्रम में शामिल थी। ऐसे तो हजारों लेखक हैं। सभी को सब कहाँ पढ़ पाते हैं? क्षमता का आकलन इन्हीं प्रश्नों से संभव नहीं। साक्षात्कार के लिए वातावरण और स्थिति को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए।

"छोड़िए.... छोड़िए", सचिव ने अन्य

सदस्यों से कहा।

पाठ्यक्रम पर न तो कोई प्रश्न पूछा गया न ही साहित्यिक उपलब्धि पर। वह जिन विषयों की संभावना कर रहा था यहाँ उनकी चर्चा ही नहीं हो रही थी। प्रश्न लीक से हटकर थे। भूखे पेट और मरोड़ खाती अंतड़ियों ने आवाज़ को पकड़ लिया था। ऐसे में 'कामायनी' या 'रश्मिबंध' का कोई पाठ करने कहे तो नहीं सुहाता है। साक्षात्कार के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता होती है उसका सर्वथा अभाव था।

घंटी बजते ही सागर ने धन्यवाद कहा और अपना रास्ता पकड़ा। झटपट गाड़ी पकड़ वह घर लौट चला। पगार की बात उससे पूछी ही नहीं गई अन्यथा शायद उसके ज़वाब को अशिष्टतापूर्ण आचरण में शामिल कर लिया जाता। अधिकारी कुछ भी बोलें सहना पड़ता है। बेरोज़गारी सबसे बड़ा अभिशाप जो ठहरी।

दिन भर थकान, भूख और क्लान्ति को झेलता वह रात को ही घर लौट पाया था। आते ही झोल खाट पर निढाल हो गया था जैसे शरीर में जान ही न बची हो। प्रमाणपत्रों की फाइल अब भी हाथ में ही थी।



लघुकथा

पिता की बेटी

दलजीत कौर

पिता ने सौ रुपए की सम्पत्ति में से पाँच पैसे की सम्पत्ति अपनी बेटी को देने की बात कही। बेटे को बहुत बुरा लगा। वह पिता से इस विषय में कुछ नहीं कह पाया परंतु उसने स्पष्ट शब्दों में बहन से कहा -“ पिता तुम्हें जो सम्पत्ति देने की बात कह रहे हैं। वह बिल्कुल ग़लत है। पूरी संपत्ति पर मेरा हक़ है। “उसने बहन से प्रश्न किया -“ क्या हमारी बुआ को पहले संपत्ति में से कुछ दिया गया ?तो पिता अब तुम्हें देने की बात क्यों कर रहे हैं ?”

बहन चुप रही। जिस भाई से वह इतना प्यार करती थी। उसके मुँह से ऐसी बात सुन कर। वह भीतर से कही टूट गई थी।

भाई ने फिर पूछा -“क्या मेरी पत्नी मायके से कुछ ले कर आई है जो पिता तुम्हें देने की बात कर रहे हैं?”

बहन अभी-भी चुप थी। कमरे में प्रवेश करते हुए मामा ने सवाल किया - “बेटा तुम्हारी भी दो बेटियाँ हैं। क्या तुम उन्हें कुछ नहीं दोगे ?”

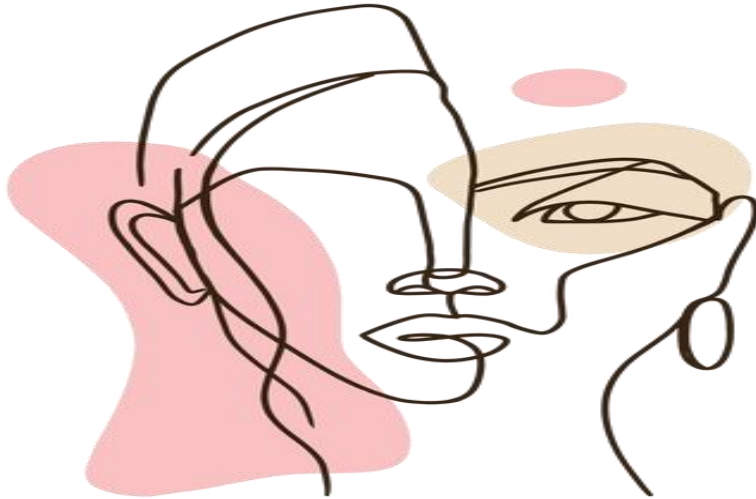
बहन धीरे से बोली -“ अपनी बेटी और पिता की बेटी में फ़र्क़ होता है मामा जी।”

#2571

सेक्टर -40 सी

चंडीगढ़

9463743144



समीक्ष्य पुस्तक – पाँचवी दिशा (कहानी संग्रह) समीक्षा आलेख – समाज की दशा और दिशा – पाँचवी दिशा

सुषमा मुनीन्द्र

कविता, कहानी, अनुवाद, कथेतर गद्य जैसी रचनाधर्मिता से अपने रचना संसार को समृद्ध करने वाले रचनाकार सुशांत सुप्रिय के 160 पृष्ठों में विस्तारित इस नवीन कथा संग्रह ‘पाँचवी दिशा’ में इकतीस कहानियाँ हैं। कहानियों का कलेवर छोटा, उद्देश्य बड़ा है। मुझे इनके चार कथा संग्रहों को पढ़ने का अवसर मिला है। पूर्व के कथा संग्रहों की तरह समीक्ष्य कथा संग्रह में स्थनीयता (पंजाब), प्रकृति, मिथक, फंतासी, चौगिर्द फैली-छितरायी छोटी-बड़ी स्थिति-परिस्थिति-मनःस्थिति समाहित है। अधिकतर कहानियाँ एक ट्विस्ट लेकर जिस अंत पर पहुँचती हैं वहाँ कहानी की मंशा सफल हो जाती है। सुशांत सुप्रिय की अपने मौलिक लेखन और अनुवाद कार्य दोनों में गहरी पकड़ है। मौलिक कहानियों में कोई ऐसा बिंदु, टटकापन, पृथक आयाम होता है जो जिज्ञासा को बढ़ा देता है। इसी तरह अनुवाद में मूल रचना की सांद्रता और भाव कायम रहता है। ‘देखा जाये तो आदर्श और सम्पूर्ण हममें से कोई नहीं होता। हम सबके प्लस और माइनस प्वाइन्ट्स होते हैं। (पृष्ठ संख्या 46)।’ का अनुसरण करते हुये कहानियों के पात्र अपनी खूबियों-खामियों, अनुकूलन-प्रतिकूलन, सत्य-असत्य, उदारीकरण-कुत्साकरण, मर्म-तर्क, स्वेद-रक्त के साथ अभाव और शून्यता को भरने का प्रयास करते हुये विवेकपूर्ण विश्लेषण से राह निकाल लेते हैं।

इंसाफ, घाव, दाग, ये दाग-दाग उजाला आदि कहानियों में 2002 के गुजरात दंगे व 1984 के पंजाब दंगे वाले अराजक और जनविरोधी दौर का हृदय विदीर्ण करने वाला विवरण दर्ज है। पाक प्रशिक्षित खलिस्तानी

आतंकवादी, खलिस्तान मूवमेन्ट, ऑपरेशन ब्लू स्टार, हिंदुओं का पंजाब से पलायन, सुरक्षा की दृष्टि से सिखों की पंजाब वापसी, हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य और भ्रम ने आमजन के जहन पर ऐसा असर और सघन दबाव डाला है कि यह वैमनस्य पुख्ता विचार बनता जा रहा है। इसीलिये ‘घाव’ की जाट युवती सिमरन का विवाह हिंदू युवक किसलय से नहीं हो पाता। ‘दाग’ का सरदार मानसिक अस्थिरता और नाइट मेयर्स से त्रस्त हो जाता है।

संग्रह की अधिकांश कहानियों में लोक कथा, कहावत, मुहावरे, तद्भव और देशज भाव, मिथक, फंतासी असाधारण पारलौकिक और नकारात्मक ताकत, हॉन्टेड प्लेस, नियर डेथ एक्सपीरियंस जैसे प्रसंग हैं जिन्हें लेखक ने अपनी चिंतन प्रणाली, बिम्बों, प्रतीकों, संकेत के प्रयोग से ऐसा पुष्ट-प्रभावी बना दिया है कि कहानियाँ गढ़ी हुई नहीं बल्कि गम्भीर लगती हैं। विज्ञान के मंथन, टच स्क्रीन वाले दौर के बावजूद ऐसी शक्तियों के अस्तित्व को सिरे से खारिज नहीं किया जा सका है। इन स्थितियों को अकल्पित नहीं बल्कि रेयरेस्ट ऑफ द रेयर माना जाना चाहिये। ब्रम्हाण्ड चमत्कार और रहस्य से आज भी भरपूर है। पाँचवीं दिशा, लौटना, इंसाफ, तितली, चाचा जी का अधूरा उपन्यास, दुनिया की सबसे खूबसूरत खराब हो गई पेंटिंग, अचानक एक दिन, बलिदान, ये दाग-दाग उजाला, टू इन वन, कहानी कभी नहीं मरती आदि कहानियाँ रोजमर्रा की, स्थितियों से पृथक आभासी दुनिया का पता देती हैं। ‘चाचा जी की उपन्यास का अंतिम अध्यास लिखने से पूर्व हृदयाघात से मृत्यु हो जाती है। वे मरणोपरांत चमत्कारिक रूप से

अंतिम अध्याय लिखते हैं। ‘इंसाफ’ के दुर्जन सिंह ने 1984 के दंगों में सिखों की हत्या की थी। 2019 में कोलकाता से सम्मेलन में भाग लेने दिल्ली आया छोटे कद का सुमंतो घोष अपने भीतर प्रविष्ट हुई अज्ञान ताकत के वशीभूत दुर्जन सिंह का वध करता है। ‘दुनिया की सबसे खूबसूरत खराब हो गई पेंटिंग’ की पर्दे, फूल, नल, पानी, द्वार के जीवंत चित्रण के कारण असाधारण लगने वाली पेंटिंग जल में विसर्जित करते हुये दैवीय आभास देती है। ‘ये दाग-दाग उजाला’ के गुजरात दंगे में मारे गये वृद्ध मुसलमान का प्रेत जिस हॉन्टेड होटल में वास करता है वह होटल दंगे में जला दी गई मुस्लिम बस्ती के स्थान पर निर्मित था। ‘तितली’ के अचानक अदृश्य हो जाने वाले कुतुबुद्दीन नाम के लड़के को ‘बच्चों के अक्सर गायब हो जाने वाले इस देश में केवल एक और बच्चा ही तो गायब हो गया था (116)।’ जैसे लापरवाह भाव से देखा जाता है।

लौटना, अचानक एक दिन, टू इन वन कहानियाँ नियर डेथ एक्सपीरियंस पर आधारित हैं। ‘लौटना’ की कोमा में पड़ी युवा नेहा चिकित्सकों की बात को समझ रही है साथ ही मृतक माता-पिता, दादा-दादी, अल्पायु पुत्र के आस-पास होने का बोध कर रही है। ‘अचानक एक दिन’ का कार दुर्घटना में गम्भीर रूप से चोटिल हुआ केन्द्रीय पात्र चेतना और मूर्छना के बीच असाधारण स्थिति से गुजरता है। ‘टू-इन-वन’ के मलयालम भाषी सुकुमारन के मस्तिष्क के भाषा वाले केन्द्र की तंत्रिकाओं में गम्भीर हेड इन्जुरी के कारण ऐसा कुछ गड्ड-मड्ड हो जाता है कि कोमा से बाहर आने पर वह धाराप्रवाह पंजाबी बोलने लगता है। दुबारा दुर्घटनाग्रस्त होकर कोमा से बाहर आने पर पंजाबी भूल कर बंगाली बोलने लगता है। लेखक ने कथानक के उद्गम का उल्लेख किया है – एशियन एज 26.10.2016 एटलांटा अमेरिका का सोलह वर्षीय किशोर सिर में लगी चोट के

कारण कोमा में गया। जागने पर फ्रेंच बोलने लगा।’

इन पृथक स्थितियों के पीछे ‘समय और काल में कोई गुप्त पोर्टल खुल गया था जिसमें से होकर किसी वैकल्पिक समानान्तर ब्रम्हाण्ड की शैतानी छवियाँ मुझ तक पहुँच रही थीं (दसवाँ आदमी)।’ जैसा तथ्य हो न हो पर ये कहानियाँ ऐसी किसी दुनिया का रोमाँच और स्तब्धता देती हैं जिसके रहस्य को हम जानना चाहते हैं।

सुशांत सुप्रिय की पारिवारिक – सामाजिक संरचना, नैतिकता, ईमानदारी जैसे गुण धर्म, प्रकृति के उदात्त भाव पर आस्था है। इनकी कहानियों में दादा, परदादा, पिता अपने बड़प्पन और उदारता के साथ दृश्य या स्मृति में मौजूद रहते हैं। ये पिता मशवरा नहीं देते वरन शांत चित्त से अपने अभिमत समझाते हैं। पिता के नाम, स्पर्श, कलम आदि कहानियों के पिता जानते हैं स्पर्श, स्नेह का असर संतान में आत्मबल बनकर आजीवन रहता है। ‘कलम’ के मृत्युशैल्या पर पड़े पिता रचनाकार युवा बेटे को अपनी कलम सौंपते हैं ‘जब मैं नहीं रहूँगा तब भी हूँगा तेरी कलम में, कविता कहानी बनकर। जैसे मुझमें बचे हुये हैं मेरे पिता। अपने बच्चों में बचा रहेगा तू वैसे ही बचा रहूँगा मैं तुममें, जाने के बाद भी (74)।’ वे कलम का तात्पर्य और प्रयोजन समझाते हैं कि कलम आगे बढ़ने वाली वह सतत प्रक्रिया है जिससे भावना, रिश्ते, जीवन, पीढ़ियाँ, कर्तव्य संचालित होते हैं।

जीवन को संचालित करने वाली प्रकृति पर लेखक की आस्था है। वे मानव मन के भावों की तुलना तितली, इन्द्रधनुष, जल तरंग, सूर्योदय, भँवरें, ओस, मखमली घास से करते हुये भाषा में ऐसा अदब और करीना ले आते हैं कि जिन कहानियों में घटना या चरित्र की प्रधानता नहीं होती बल्कि सूचनाओं का विस्तार होता है वे भी भाषायी अनुशासन, अनुकूल शब्द चयन से पठनीय बन जाती हैं। घर-बाहर, भ्रमण, अखबार, न्यूज

चैनल आदि माध्यमों से मिलती सूचनाओं पर सुशांत सुप्रिय पूरे मन से सोचते हैं इसलिये इन्हें कथानक अनायास मिल जाते हैं। पात्र अतीत और वर्तमान के बीच आवाजाही बनाये रखते हैं तथापि तारतम्य नहीं टूटता। पात्र कहानी ‘छटपटाहट’ के श्रीकांत की तरह भटकन, उधेड़बुन, अनिश्चितता के चलते तिलमिलाते – छटपटाते हैं पर सही नतीजे पर पहुँचते हैं। यद्यपि “इस इंसानी जंगल की सड़कों पर नरभक्षी घूम रहे हैं। वे मुस्कुराकर आपस में हाथमिलाते हैं, आप उनकी मुस्कान में छिपे खंजरोँ और छुरों को नहीं देख पाते हैं। वे

आपकी पीठ थपथपाकर आपको रीढ़हीन बनाते हैं(154)।” जैसी सामाजिक – नैतिक गिरावट समाज और परिवार में निरंतर दर्ज हो रही है तथापि कहानी ‘बौड़मदास’ के बौड़मदास जैसे पात्र सत्यनिष्ठ आचरण नहीं छोड़ते।

एक उदास सिम्फनी, बयान, भूकम्प आदि कहानियाँ भी बहुत अच्छी हैं। अच्छे कहानी संग्रह के लिये सुशांत सुप्रियकोसाधुवाद

पुस्तक - पॉचवीं दिशा (कहानी संग्रह)

लेखक - सुशांत सुप्रिय

प्रकाशक- भावना प्रकाशन

109-ए, पटपड़गंज गाँव

दिल्ली - 110091

मूल्य - 395/-

प्रकाशन वर्ष - 2020

सुषमा मुनीन्द्र

द्वारा श्री एम. के. मिश्र

एडवोकेट

जीवन विहार अपार्टमेन्ट्स

फ्लैट नं0 7, द्वितीय तल

महेश्वरी स्वीट्स के पीछे

रीवा रोड, सतना (म.प्र.)-485001

मोबाइल - 8269895950



